

3935

# तीर्थंकर बुद्ध और अवतार

डा० रमेशचन्द्र गुप्त

महत्त्व लोभात्मि सागराय

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला-४१

प्रधान सम्पादक  
डॉ० सागरमल जैन

# तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त



पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान  
वाराणसी-५

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान  
आई० टी० आई० रोड,  
वाराणसी-५  
फोन : ६६७६२



संस्करण : प्रथम १९८८



मूल्य : ₹० ५०.००



Tirthankara, Buddha aur Avatara : Eka Adhyayana

By Dr. Ramesh Chandra Gupta

Price Rs. 50.00

First Edition 1988



मुद्रक :

वर्द्धमान मुद्रणालय

जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी

## प्रकाशकीय

प्रत्येक धर्म में आस्था के केन्द्र, उपास्य और आदर्श के रूप में किसी महान् व्यक्तित्व को स्वीकार किया जाता है। ऐसे महनीय व्यक्तित्व को हिन्दू परम्परा में ईश्वरावतार के रूप में, बौद्ध परम्परा में बुद्ध के रूप में एवं जैन परम्परा में तीर्थंकर के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार तीर्थंकर, बुद्ध एवं ईश्वरावतार की अवधारणाएं क्रमशः जैन, बौद्ध एवं हिन्दू धर्म का आधार हैं। भारतीय धर्मों की इस त्रिवेणी के उपास्य के रूप में स्वीकृत तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणाओं के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित इस शोध-प्रबन्ध को प्रकाशित करते हुए आज हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। यह ग्रन्थ भारत की इन प्राचीन तीनों धर्मों/परम्पराओं पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए उनमें निहित समन्वयात्मक सूत्रों को खोजने का प्रयत्न है। डा० रमेशचन्द्र गुप्त ने पार्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के शोधछात्र के रूप में इस शोध-प्रबन्ध को तैयार किया था जिस पर उन्हें सन् १९८६ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने पी.-एच. डी. की उपाधि प्रदान की थी। इस शोध प्रबन्ध के परीक्षक पं. दलसुखभाई मालवणिया की अनुशंसा पर इसके प्रकाशन का निश्चय किया गया। हम ग्रन्थ के लेखक डा. रमेशचन्द्र गुप्त के तो आभारी हैं ही, इसके साथ ही साथ शोध-प्रबन्ध के विषय-चयन से लेकर उसके प्रकाशन तक के समस्त प्रयासों के लिए संस्थान के निदेशक डा० सागरमल जैन का भी आभार व्यक्त करते हैं। यह उनके ही प्रयत्नों का सुफल है कि संस्थान में भारतीय धर्म और दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति विकसित हो रही है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हमें डा० रमणलाल शाह की प्रेरणा से जैन युवक मण्डल, बम्बई के द्वारा दस हजार रुपये का अनुदान प्राप्त हुआ, अतः हम मण्डल के न्यासियों के प्रति भी अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। साथ ही ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन के लिए हम शोध सहायक डा० शिव प्रसाद, श्री अशोक कुमार सिंह एवं प्रकाशन सहायक श्री महेश कुमार के भी आभारी हैं। इसी प्रकार इसके सुन्दर व सत्वर मुद्रण के लिए वर्द्धमान प्रेस का भी आभारी हैं।



यह ग्रन्थ भारतीय धर्म दर्शन में तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति को विकसित करने में कितना सहायक होगा, इसका निर्णय तो इस ग्रन्थ के प्रबुद्ध पाठक ही बता सकेंगे, किन्तु तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक अध्ययन की जिस प्रवृत्ति को संस्थान ने आधार बनाया है वह भविष्य में अधिक विकसित होकर विभिन्न धर्मों के लोगों के बीच सौहार्द व समन्वय का प्रसार कर सके, यही हमारी अपेक्षा है ।

भूपेन्द्रनाथ जैन  
मन्त्री  
श्री सोहनलालजैन विद्या प्रसार समिति  
अमृतसर

## प्राक्कथन

भारतीय धर्मों में अवतार, बुद्ध और तीर्थंकर की अवधारणाएँ अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। जहाँ हिन्दू धर्म में उपास्य के रूप में अवतार को स्थान मिला है, वहाँ बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म में क्रमशः बुद्ध और तीर्थंकर को उपास्य माना गया है। ये तीनों अवधारणाएँ भारतीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण अंग हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय परिचयात्मक है। इसमें यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि जैन, बौद्ध एवं हिन्दू धर्म में क्रमशः तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणा का क्या स्थान है। साथ ही इस अवधारणा के विकास की ऐतिहासिक समीक्षा भी की गई है। प्रस्तुत अध्याय में ही जरथुस्त्र, यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम में अवतारवाद के अनुरूप ही जिन अवधारणाओं का विकास हुआ, उनका भी संक्षिप्त विवेचन है।

द्वितीय अध्याय में जैन धर्म में विकसित हुए तीर्थंकर की अवधारणा के विविध पक्षों पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। तीर्थंकर शब्द के विभिन्न अर्थ, तीर्थंकरों के विशिष्ट गुण; भूत, वर्तमान और भविष्यकालीन तीर्थंकरों की अवधारणा और उनके नाम तथा तीर्थंकर पद की प्राप्ति व्यक्ति की किस प्रकार की आध्यात्मिक साधना का परिणाम है— इन प्रश्नों पर आलोचनात्मक ढंग से विचार किया गया है। साथ ही तीर्थंकर का क्या स्वरूप है तथा तीर्थंकर का अरिहन्त, प्रत्येकबुद्ध एवं सामान्य-केवली से क्या अन्तर है, इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है। इसी अध्याय में जैन धर्म में भक्ति और करुणा का क्या स्थान हो सकता है, इसकी चर्चा भी की गई है।

तृतीय अध्याय में बौद्ध धर्म में बुद्ध की अवधारणा के विविध पक्षों पर चर्चा की गई है। बौद्ध धर्म में बुद्ध की अवधारणा के विकास के साथ ही, इसमें करुणा और भक्ति की अवधारणा के विकास में किन कारकों का योगदान था, इस पर विशद रूप से विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में हिन्दू धर्म में विकसित हुए अवतार की अवधारणा के विभिन्न पक्षों की चर्चा है। इसमें अवतार की अवधारणा के मुख्य

प्रयोजन के साथ ही इसके ऐतिहासिक क्रमिक विकास की विवेचना की गई है।

पंचम अध्याय तीर्थंकर, बुद्ध एवम् अवतार की अवधारणाओं के तुलनात्मक विवेचन के रूप में है। इसमें विस्तार से बताया गया है कि इन सभी अवधारणाओं के विकास का मुख्य लक्ष्य क्या था। साथ ही इस बात की भी विवेचना की गई है कि लगभग समान काल एवं समान वातावरण में विकसित हुई इन प्रमुख अवधारणाओं में पारस्परिक क्या समानताएं एवं अन्तर थे।

षष्ठ एवम् अन्तिम अध्याय उपसंहार के रूप में हैं।

इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन में मैं सर्वप्रथम गुरुद्वय डा० सागरमल जैन एवं डा० राम शंकर मिश्र के प्रति श्रद्धावनत हूँ, जिनके सस्नेह मार्गदर्शन एवं आलोक से संबल प्राप्त कर मैं इस कार्य को पूर्ण कर सका। अतः मैं पुनश्च अपने परम श्रद्धेय गुरुद्वय के प्रति हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करता हूँ।

मैं अपने विभागीय गुरुजनों प्रो० लक्ष्मी निधि शर्मा, विभागाध्यक्ष, डॉ. एन. एस. एस. रमन, डॉ. रेवती रमण पाण्डेय, डॉ. नम्बूदरी जी, डॉ. बी. एन. सिंह, डॉ. गंगाधर जी एवं अन्य समस्त गुरुजनों के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने समय-समय पर स्नेहपूर्वक मुझे साहस एवं उत्साह प्रदान किया और प्रेरणा देते रहे।

दर्शन विभाग के ग्रन्थालयाध्यक्ष, केन्द्रीय ग्रन्थालयाध्यक्ष एवं पार्श्व-नाथ विद्याश्रम शोध संस्थान ग्रन्थालयाध्यक्ष तथा अन्यान्य अधिकारियों के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके सहयोग के कारण विभिन्न पुस्तकों से ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मैं प्राप्त कर सका।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम परिवार के सर्वश्री डॉ. अरुण प्रताप सिंह, डॉ० रविशंकर मिश्र, श्रीमती कमल प्रभा जैन एवं गुरुपत्नी पूजनीया श्रीमती कमला जैन एवं अन्य समस्त कर्मचारीगणों का अभारी हूँ, जिनसे इस कार्य को मूर्तरूप देने में सतत प्रेरणा एवं सहायता प्राप्त होती रही है।

मैं डी०रे०का० के अधिकारी वर्ग सर्वश्री सत्येन्द्र प्रकाश केला, प्रताप श्रीवास्तव, ईश्वर चन्द्र जायसवाल, बालकृष्ण शर्मा, कुलदीप सिंह, सतीश चन्द्र गुप्त, ए० मिन्ज एवं कालिन्दी प्रसाद श्रीवास्तव के प्रति भी हार्दिक

कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने अध्ययन की अनुमति देकर विद्या की उपासना का अवसर प्रदान किया।

श्रद्धेय श्री दिवाकर पाठक, पिता तुल्य श्री प्रेम नारायण श्रीवास्तव के प्रति भी कृतज्ञ हूँ जिनकी प्रेरणा एवं आशीर्वचन का सम्बल पाकर मैं यह महान् कार्य पूर्ण कर सका।

मैं परमपूज्य पिता श्री श्रीराम जी, मातु श्रीमती चमेली देवी, भाई श्री महेश चन्द्र गुप्त, श्री नरेश चन्द्र गुप्त, आदरणीय मामा डॉ० एस०बी० एल० गुप्त एवं स्वजन आर० सी० गुप्ता, डॉ० श्याम सुन्दर, डॉ० निशा अग्रवाल का भी आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे विद्या के अध्ययन के लिए सतत् प्रोत्साहित किया। अन्त में पत्नी श्रीमती सरला गुप्ता, पुत्र चि० राजीव, चि० संजीव तथा पुत्री कु० अंजुम का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने मुझे पारिवारिक कार्यों से मुक्त रखकर विद्या की उपासना का अवसर दिया।

अन्त में, एक बार पुनः उन समस्त महानुभावों के उपकार को स्मरण कर आभार व्यक्त करता हूँ, जिनसे मैं लाभान्वित हुआ हूँ।

दिनांक १-१-१९८८

रमेश चन्द्र गुप्त  
सहायक कर्मशाला अधीक्षक  
डीजल रेल इंजन कारखाना  
वाराणसी-२२१००४



## विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन	५
प्रथम अध्याय : विषय प्रवेश	
१. भारतीय संस्कृति का मूल उत्स	१
२. श्रमणधारा का उद्भव	४
३. आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन	४
४. जैन और बौद्ध धर्मों की समानता	५
५. तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणा का प्रयोजन	६
६. जैन धर्म और तीर्थंकर की अवधारणा	९
७. जैन धर्म में तीर्थंकर की अवधारणा का ऐतिहासिक विकास-क्रम	११
८. बौद्ध धर्म और बुद्ध	१३
९. बुद्धत्व की अवधारणा का विकास	१५
१०. हिन्दू धर्म और अवतार	१५
११. पारसी धर्म और देवदूत जरथुस्त्र	१६
१२. यहूदी धर्म और पैगम्बर मोजेज	१९
१३. ईसाई धर्म और प्रभु ईसामसीह	२०
१४. इस्लाम धर्म और पैगम्बर	२२
द्वितीय अध्याय : तीर्थंकर की अवधारणा	
१. जैन धर्म में तीर्थंकर का स्थान	२६
२. तीर्थंकर शब्द का अर्थ और इतिहास	२७
३. तीर्थंकर की अवधारणा	३०
४. तीर्थंकर और अरिहन्त	३१
५. तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवली का अन्तर	३२
६. सामान्य-केवली और प्रत्येक-बुद्ध	३३
७. तीर्थंकर की अलौकिकता	३५
अ—तीर्थंकरों के पंचकल्याणक	३७
ब—अतिशय	३८
स—वचनातिशय	४३

८. तीर्थंकर—निर्दोष व्यक्तित्व	४५
९. तीर्थंकर बनने की योग्यता	४६
१०. तीर्थंकरों से सम्बन्धित विवरण का विकास	४७
तीर्थंकरों की संख्या—वर्तमान, अतीत और अनागत काल के तीर्थंकर	५६
१. ऋषभदेव ६०; २. अजित ६७; ३. संभव ६८;	
४. अभिनन्दन ६८; ५. सुमति ६९; ६. पद्मप्रभ ६९;	
७. सुपाश्र्व ७०; ८. चन्द्रप्रभ ७०; ९. सुविधि	
या पुष्पदन्त ७१; १०. शीतल ७२; ११. श्रेयांस ७२;	
१२. वासुपूज्य ७३; १३. विमल ७३; १४. अनन्त	
७४; १५. धर्म ७४; १६. शान्ति ७५; १७. कुन्धु	
७७; १८. अरनाथ ७७; १९. मल्लि ७९;	
२०. मुनिसुव्रत ८०; २१. नमि ८१;	
२२. अरिष्टनेमि ८१; २३. पार्श्वनाथ ८३;	
२४. वर्धमान-महावीर ८९	
११. तीर्थंकर और लोक कल्याण	९५
१२. जैन धर्म में भक्ति का स्थान	९७
१३. श्रद्धा बनाम ज्ञान	९९
१४. तीर्थंकर की अवधारणा का दार्शनिक अवदान	१०१

### तृतीय अध्याय : बुद्धत्व की अवधारणा १०३

१. बुद्ध शब्द का अर्थ	१०३
२. बुद्धत्व की अवधारणा का अर्थ	१०४
३. बौद्ध धर्म में बुद्ध का स्थान	१०६
४. हीनयान और महायान में बुद्ध की अवधारणा	१०८

(अ) हीनयान में बुद्ध १०८, (आ) बुद्ध के जन्म सम्बन्धी विलक्षणताएं १०८, (इ) बुद्ध के शरीर के ३२ लक्षण ११०, (ई) धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिए ब्रह्मा द्वारा प्रार्थना करना १११, (उ) बुद्ध का सशरीर देवलोक गमन १११, (ऊ) प्रातिहार्य ११२

५. बुद्धत्व की अवधारणा हीनयान से महायान की यात्रा ११३  
 (क) सर्वास्तिवाद में बुद्ध ११४, (ख) महासांघिक  
 मत में बुद्ध ११४, (ग) महायान में बुद्ध ११५
६. महायान में त्रिकायवाद की अवधारणा का विकास ११६
७. बुद्धत्व की अवधारणा में अलौकिकता का प्रवेश ११९
८. हीनयान और महायान में बुद्ध की अवधारणा का अन्तर १२२
९. बुद्धत्व का अधिकारी कौन ? १२८  
 निदान कथा के अनुसार बुद्धत्व के लक्षण १२८  
 संयुक्त निकाय के अनुसार बुद्धत्व के लक्षण १३३
१०. अर्हत्त्व एवं बुद्धत्व की प्राप्ति के उपाय १३३  
 (अ) अर्हत् पद प्राप्त करने के चार चरण १३४  
 (ब) बुद्धत्व की प्राप्ति के दस चरण (दस भूमियाँ) १३६
११. बुद्धत्व की प्राप्ति का मूलभूत आधार बोधचित्त  
 का उत्पाद १३९
१२. अर्हत, प्रत्येक-बुद्ध और बुद्ध के आदर्श १४१  
 (क) अर्हत् १४१ (ख) प्रत्येक-बुद्ध १४२ (ग)  
 सम्यक्-सम्बुद्ध या बुद्ध १४२, (घ) तुलना १४३
१३. बुद्धों के प्रकार—अतीतबुद्ध, वर्तमानबुद्ध और  
 अनागतबुद्ध या भावी बुद्ध १४३  
 (क) धर्मताबुद्ध, निष्यन्दबुद्ध और निर्माणबुद्ध  
 १४५, (ख) पंच तथागत या पंचध्यानीबुद्ध १४५,  
 (ग) मानुषीबुद्ध १४६
१४. बुद्धों की संख्या  
 (१) दीपंकर बुद्ध १४९; (२) भगवान् कौण्डिन्य  
 १५०; (३) भगवान् मंगल १५०; (४) भगवान्  
 सुमन १५१; (५) भगवान् रेवत १५१; (६) भग-  
 वान् शोभित १५२; (७) भगवान् अनोमदर्शी  
 १५३; (८) भगवान् पद्म १५३; (९) भगवान्  
 नारद १५४; (१०) भगवान् पद्मोत्तर १५४;  
 (११) भगवान् सुमेध १५५; (१२) भगवान् सुजात  
 १५६; (१३) भगवान् प्रियदर्शी १५६; (१४) भग-



वान् अर्थदर्शी १५७; (१५) भगवान् धर्मदर्शी  
 १५७; (१६) भगवान् सिद्धत्थ १५८; (१७) भग-  
 वान् तिष्य १५९; (१८) भगवान् पुष्य १५९;  
 (१९) भगवान् विपश्यी १६०; (२०) भगवान्  
 शिखी १६१; (२१) भगवान् विश्वभू १६१;  
 (२२) भगवान् ककुसन्ध १६२; (२३) भगवान्  
 कोणागमन १६२; (२४) भगवान् काश्यप १६३

१५. परिनिर्वाण के बाद बुद्ध की स्थिति	१६४
१६. बौद्ध धर्म में भवित का स्थान	१६४
१७. बुद्ध और लोक कल्याण	१६५
१८. बौद्ध धर्म में कृपा और पुरुषार्थ	१६८
१९. अमात्मवाद और बुद्धत्व की अवधारणा	१६९

#### चतुर्थ अध्याय : अवतार की अवधारणा

१. अवतार शब्द की व्याख्या	१७४
२. अवतार शब्द का सामान्य तात्पर्य: विष्णु के अवतार	१७७
३. विष्णु शब्द की व्याख्या	१७८
४. विष्णु और सूर्य	१८०
५. शिव पुराण के अनुसार विष्णु की उत्पत्ति	१८३
६. अवतार एवं उनका प्रयोजन	१८५
(क) वाल्मीकि रामायण १८५; (ख) महाभारत १८६; (ग) गीता १८८; (घ) विष्णुपुराण १९०	
७. अवतार की अवधारणा का विकास	१९१
दश अवतारों की विशद् व्याख्या	१९२
८. अवतारों के विभिन्न प्रकार	२०८
९. अवतार की अवधारणा के सम्बन्ध में ऐनीबेसेंट के विचार	२०९
१०. राधास्वामी मत में दस अवतार की अवधारणा	२११
११. पारसियों में दस अवतार की अवधारणा	२१२
१२. अवतारों की चौबीस संख्या की अवधारणा	२१३
१. सनत्कुमार २१४; २. वराह २१५;	
३. नारद २१५; ४. नर-नारायण २१६;	

५. कपिल २१८; ६. दत्तात्रेय २१९;  
 ७. यज्ञपुरुष २२०; ८. ऋषभ २२१;  
 ९. पृथु २२२; १०. मत्स्य २२३; ११.  
 कच्छप (कूर्म) २२३; १२. धन्वन्तरि  
 २२३; १३. मोहिनी २२४; १४. नरसिंह  
 २२५; १५. वामन २२५; १६. परशुराम  
 २२५; १७. व्यास २२५; १८. राम २२६;  
 १९. बलराम २२६; २०. श्रीकृष्ण २२६;  
 २१. बुद्ध २२६; २२. कल्कि २२६; २३.  
 हंस २२६; २४. ह्यग्रीव २२८; अन्य  
 अवतार : मनु २२९; गजेन्द्र हरि २३०

१३. अवतारवाद के मनोवैज्ञानिक आधार	२३२
१४. अवतारवाद की अवधारणा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण	२३२
१५. अवतारवाद की अवधारणा का वैज्ञानिक विश्लेषण	२३५
१६. पौराणिक सृष्टि और अवतार	२३७
१७. पौराणिक प्रतीक और विकासवादी उपादान	२४०
१८. अवतार—प्रतीक सन्धि युग के द्योतक	२४०
१९. अवतारवाद का दर्शन	२४२
२०. अवतार का प्रयोजन	२४५
२१. अवतार की धार्मिक एवं सामाजिक उपादेयता	२४८
२२. अवतार और लोक कल्याण	२४९
२३. अवतारवाद में भक्तितत्व या श्रद्धा का प्राधान्य	२५०
२४. अवतारवाद के सन्दर्भ में नियति और पुरुषार्थ	२५२

**पंचम अध्याय : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणा :**

**तुलनात्मक अध्ययन**

१. अवतार तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणाओं का तुलनात्मक विवेचन	२५५
२. तीर्थंकर और बुद्ध : दार्शनिक दृष्टि से समानता और अन्तर	२५८
(अ) तीर्थंकर और बुद्ध की अन्य समानताएँ	२५९
(ब) तीर्थंकर एवं बुद्ध का अन्तर	२६२

३. बुद्ध और तीर्थंकर की अवधारणा में अलौकिकता का समान विकास	२६३
४. तीर्थंकर एवं बुद्ध के उद्देश्य की समानता	२६४
५. महाविदेह, सुखावती एवं गोलोक की कल्पना	२६४
६. पूर्व बुद्धों एवं पूर्व तीर्थंकरों की अवधारणा का समसामयिक विकास	२६५
७. अवतारों, तीर्थंकरों और बुद्धों की संख्या सम्बन्धी अवधारणा का क्रमिक विकास	२६६
८. तीर्थंकर और अवतार	२६७
९. अवतारवाद एवं तीर्थंकर की अवधारणा : व्यक्ति स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में	२७२
१०. तीर्थंकर एवं अवतार में समानता	२७४
११. तीर्थंङ्कर और अवतार का अन्तर	२७७
१२. बुद्ध और अवतार	२७७
१३. उत्तरकालीन बुद्ध की अवधारणा और अवतारवाद से उसकी समानता	२७९
१४. अवतारवाद और पैगम्बरवाद	२८०
१५. बुद्ध एवं पैगम्बरवाद	२८२

### उपसंहार

२८४

### सारिणी परिशिष्ट

१. इस्लाम धर्म ग्रन्थ : कुआन शरीफ में उपलब्ध पैगम्बरों के नाम	२९४
२. तीर्थंकर विवरण तालिका	२९६
३. बौद्ध धर्म के चौबीस बुद्धों की विवरण तालिका	३११
४. भागवत पुराण में अवतार को उपलब्ध सूचियाँ	३१४
५. पुराणों में दसावतार की सूची	३१६

### सहायक ग्रन्थ सूचिका

३१७



## संकेत सूची

आ० नि०	—	आवश्यकनिर्युक्ति
उ०	—	उत्तराध्ययनसूत्र
उत्त० नि०	—	उत्तराध्ययन निर्युक्ति
उ० पु०	—	उत्तरपुराण
छा० उ०	--	छांदोग्य उपनिषद्
ति० प०	—	तिलोयपण्णत्ती
प्रव०	--	प्रवचनसारोद्धार
वाल्मीकि रा०	--	वाल्मीकि रामायण
भा०	—	भागवत
म० सा० अ०	--	मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद
वि० आ० भा०	—	विशेषावश्यकभाष्य
वि० पु०	—	विष्णु पुराण
श० ब्रा०	—	शतपथब्राह्मण
सम०	—	समवायाङ्ग
हरि० पु०	—	हरिवंशपुराण





## प्रथम अध्याय विषय प्रवेश

### १. भारतीय संस्कृति का मूल उत्स

भारतीय संस्कृति पवित्र गंगा नदी के समान है, जिसमें अनेक धाराएँ विलीन होती हैं और प्रादुर्भूत होती हैं। भारतीय संस्कृति समन्वय की संस्कृति है। उसमें विविधता में भी एकता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति—जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं का त्रिवेणी-संगम है, इसमें भी जैन और बौद्ध परम्पराएं श्रमण धारा की, और हिन्दू परम्परा वैदिक धारा को प्रतिनिधि हैं। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि चाहे अपने मूल उत्स निवृत्तिमार्ग और प्रवृत्तिमार्ग की दृष्टि से हम श्रमण और वैदिक धारा को अलग-अलग भले ही करें किन्तु दोनों ही परम्पराओं ने एक दूसरे को इतना प्रभावित किया है कि आज श्रमण धारा और वैदिक धारा को मूल स्वरूप में खोज पाना अत्यन्त ही कठिन है। श्रमणों ने वैदिकों से और वैदिकों ने श्रमणों से बहुत कुछ लेकर आत्मसात् कर लिया है। जैन और बौद्ध धर्मों का हिन्दू धर्म पर विशेष रूप से वैष्णव धर्म पर और वैष्णव धर्म का जैन और बौद्ध धर्मों पर काफी प्रभाव देखा जा सकता है।

प्रस्तुत तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन इन धाराओं की पारस्परिक निकटता और दूरी को समझने की दृष्टि से क्रिया गया है। वस्तुतः कोई भी संस्कृति शून्य से पैदा नहीं होती, वह अपने देश, काल और परिस्थिति की उपज होती है। अतः समान देश, काल और परिस्थिति में उत्पन्न विचारधाराएँ दार्शनिक दृष्टि से कुछ भिन्नता रखते हुए भी व्यावहारिक क्षेत्र में वस्तुतः भिन्न नहीं होतीं। जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ विशाल भारतीय परम्परा के विभिन्न अंगों के रूप में विकसित हुई हैं, अतः उनके बीच विभिन्नताओं के होते हुए भी कहीं समन्वय के सूत्र निहित हैं। उन्हीं के सन्दर्भ में इनकी दार्शनिक और धार्मिक अवधारणाओं का मूल्यांकन किया जा सकता है।

विद्वानों ने भारतीय धर्मों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया है—१. प्रवर्तक धर्म और २. निवर्तक धर्म। जहाँ जैन और बौद्ध धर्म निवर्तक धारा से सम्बन्धित हैं वहाँ वैदिक धर्म प्रवर्तक धारा का प्रतिनिधित्व करता है। प्रवर्तक धर्म मुख्य रूप से समाजोन्मुख है और

२ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

उनमें जैविक मूल्यों को प्रधानता दी गयी है जबकि निवर्तक धर्म मुख्यतः संन्यासमार्गी और जैविक मूल्यों के निषेधक रहे हैं। यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान में न तो जैन या बौद्ध पूर्णतः निवर्तक है और न हिन्दू धर्म पूर्णतया प्रवर्तक, बल्कि दोनों ही परम्पराओं में एक दूसरे के तत्त्व समाविष्ट हो चुके हैं। फिर भी ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में इनके मूल में निहित विभिन्नता को देखा जा सकता है। डा० सागर-मल जैन अपनी पुस्तक 'जैन, बौद्ध और गीता का साधनामार्ग' की भूमिका में इन दोनों ही प्रकार के धर्मों की समीक्षात्मक विवेचना करते हुए लिखते हैं कि 'प्रवर्तक धर्म में प्रारम्भ में जैविक मूल्यों की प्रधानता रही है, वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओं के स्वर ही अधिक मुखर हुए हैं, उदाहरणार्थ—हम सौ वर्ष जीयें, हमारी सन्तान बलिष्ठ होवें, हमारी गायें अधिक दूध देवें, वनस्पति प्रचुर मात्रा में हो आदि। इसके विपरीत निवर्तक धर्म ने जैविक मूल्यों के प्रति एक निषेधात्मक रूप अपनाया, उन्होंने सांसारिक जीवन की दुःखमयता का राग अलापा। उनको दृष्टि से शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दुःखों का सागर। उन्होंने संसार और शरीर दोनों से ही मुक्ति को जीवन लक्ष्य माना। उनकी दृष्टि में दैहिक आवश्यकताओं का निषेध, अनासक्ति, विराग और आत्म-सन्तोष ही सर्वोच्च जीवनमूल्य हैं।'

निवर्तक और प्रवर्तक धर्मों के उपरोक्त लक्षणों को सैद्धान्तिक दृष्टि से हम स्वीकार कर सकते हैं, किन्तु आज कोई भी धर्म न तो शुद्ध रूप से निवर्तक है और न तो शुद्ध रूप से प्रवर्तक ही। फिर भी मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इन दो परम्पराओं का अलग-अलग रूप देखा जा सकता है। दोनों परम्पराओं के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डा० जैन पुनः लिखते हैं कि—“एक ओर जैविक मूल्यों को प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म में जीवन के प्रति एक विधायक दृष्टि का निर्माण हुआ तथा जीवन को सर्वतोभावेन वांछनीय और रक्षणीय माना गया, तो दूसरी ओर जैविक मूल्यों के निषेध से जीवन के प्रति एक ऐसी निषेधात्मक दृष्टि का विकास हुआ जिसमें शारीरिक मांगों का ठुकराना ही जीवन-लक्ष्य मान लिया गया और देह-दण्डन ही तप-त्याग और अध्यात्म के प्रतीक बन गये। प्रवर्तक धर्म जैविक मूल्यों पर बल देते हैं अतः स्वाभाविक रूप से वे समाजगामी बने

१. जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग—प्रस्ताविक, पृ० ९

क्योंकि जैविक आवश्यकता की पूर्ण सन्तुष्टि तो समाज जीवन में ही सम्भव थी, किन्तु विराग और त्याग पर अधिक बल देने के कारण निवर्तक धर्म समाज विमुख और वैयक्तिक बन गये। यद्यपि दैहिक मूल्यों की उपलब्धि हेतु कर्म आवश्यक थे। किन्तु जब मनुष्य ने देखा कि दैहिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए उसके वैयक्तिक प्रयासों के बावजूद भी उनकी प्राप्ति या अप्राप्ति किन्हीं अलौकिक शक्तियों पर निर्भर है, तो वह देववादी या ईश्वरवादी बन गया। विश्व व्यवस्था और प्राकृतिक शक्तियों के नियन्त्रक तत्त्व के रूप में उसने विभिन्न देवताओं और ईश्वर की कल्पना की और उनकी कृपा की आकांक्षा करने लगा। इसके विपरीत निवर्तक धर्म व्यवहार में नैष्कर्म्यता के समर्थक होते हुए भी कर्म सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानने लगे कि व्यक्ति का बन्धन और मुक्ति स्वयं उसके कारण है, अतः निवर्तक धर्म पुरुषार्थवाद और वैयक्तिक प्रयासों पर आस्था रखने लगे। अनोश्वरवाद, पुरुषार्थवाद और कर्मसिद्धान्त उनके प्रमुख तत्त्व बन गए। साधना के क्षेत्र में जहाँ प्रवर्तक धर्म में अलौकिक दैवीय शक्तियों की प्रसन्नता के निमित्त कर्मकाण्ड और बाह्य विधि-विधानों (याग-यज्ञ) का विकास हुआ; वहीं निवर्तक धर्मों ने बाह्य कर्मकाण्ड को अनावश्यक मानकर चित्तशुद्धि और सदाचार पर अधिक बल दिया है।<sup>१</sup> वस्तुतः प्रवर्तक वैदिकधारा और निवर्तक श्रमण-धारा की मूलभूत विशेषताओं और उनके सांस्कृतिक और दार्शनिक प्रदेशों को अलग-अलग देखा जा सकता है किन्तु यह मानना भ्रान्तिपूर्ण ही होगा कि एक ही देश और परिवेश में रहकर वे दोनों एक दूसरे के प्रभाव से अछूती रही हैं। उनमें प्रत्येक ने एक दूसरे को प्रभावित किया है। यदि हम वैदिक धारा को एक "वाद" (Thesis) मानें तो श्रमण-धारा को उसका "प्रतिवाद" (Anti-Thesis) कहा जा सकता है। जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्पराएँ वाद और प्रतिवाद के समन्वय (Synthesis) की परिचायक हैं। यह Synthesis एक ही प्रकार का नहीं है। जहाँ जैन धारा में निवर्तक धर्मों के लक्षण अधिक रूप में जीवित एवं विकसित हुए, वहाँ बौद्ध धारा विशेषरूप से परवर्ती महायान बौद्ध धर्म ने निवृत्ति और प्रवृत्ति—दोनों में सन्तुलन बनाने का प्रयास किया जबकि वैदिक धारा से विकसित हिन्दू-धर्म में निवर्तक परम्परा के अनेक तत्त्वों के प्रविष्ट होने के बावजूद प्रधानता प्रवर्तक धारा की रही है।<sup>१</sup>

१. जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग—प्रास्ताविक पृ० ९-१०



## २. श्रमणधारा का उद्भव

परम्परागत वैदिक धर्म की सहजता को जब स्वार्थी पुरोहित वर्ग ने जटिल और संकीर्ण बना दिया तथा कठोर वर्णव्यवस्था और कर्मकाण्ड ने उसकी सर्वजनग्राह्यता को नष्ट कर दिया, तब उसके विरोध में जिन प्रगतिशील चिन्तकों ने आवाज उठायी, वे ही श्रमण धारा के प्रतिनिधि थे। इसी श्रमण परम्परा में आगे चलकर जैन और बौद्ध धर्मों का विकास हुआ। दार्शनिक मतभेद के होते हुए भी दोनों के धार्मिक एवं नैतिक दृष्टिकोण प्रायः समान ही प्रतीत होते हैं। कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद का स्पष्ट विरोध न केवल जैन एवं बौद्ध धर्मों में अपितु उपनिषदों में भी दृष्टिगत होता है। वस्तुतः ई० पूर्वं छठीं शताब्दी में यह विरोध आलोचनात्मक भावना के रूप में समग्र भारतीय चिन्तन में प्रकट हुआ है। भारत में यह युग दार्शनिक चिन्तन के जागरण का युग था। वेदों और उपनिषदों की विचारधाराओं के साथ उस समय स्वतन्त्र चिन्तन को अनेक विचारधाराएँ प्रचलित थीं। मानव-कल्याण एवं दुःख मुक्ति की समस्याओं को लेकर विभिन्न विचारक अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहे थे। इसी क्रम में जैन और बौद्ध तथा अन्यान्य धार्मिक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। उपनिषद् एक ओर तो वैदिक धारा के समर्थक थे और दूसरी ओर वे ब्राह्मण-ग्रंथों की भोगवादी और कर्मकाण्डीय विचारधारा के कट्टर विरोधी भी थे। कर्मकाण्ड और यज्ञयाग का आलोचक एवं अध्यात्मवादी होने के कारण उपनिषदों का चिन्तन जैन-बौद्ध धर्मों के अधिक निकट प्रतीत होता है। यद्यपि उपनिषदों के ऋषि वेद-निन्दक नहीं हैं किन्तु वे वैदिक कर्मकाण्ड के पक्षपाती भी नहीं कहे जा सकते हैं। वेदों के समर्थन के साथ-साथ उन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध किया, अतः वे आस्तिक माने जाते रहे, जबकि जैनों और बौद्धों ने खुलकर वेदों और वैदिक कर्मकाण्ड की आलोचना की अतः वे नास्तिक कहलाये।

## ३. आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन

जैन और बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महावीर और बुद्ध ने चार्वाकों के समान ही वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध तो किया, यद्यपि उन्होंने उनकी भोगवादी नीति का समर्थन नहीं किया। फिर भी उन्हें चार्वाकों के साथ नास्तिक की कोटि में ही रखा गया। औपनिषदिक धारा ने भी अध्यात्मवाद का समर्थन और भौतिकवाद का विरोध किया है किन्तु वह वेदों की

समर्थक बनी रही अतः वह आस्तिक कहलाई। जैन दर्शन आस्तिक दर्शनों के कर्मकाण्डीय पक्ष का एवं ईश्वरवाद का खण्डन करता है जबकि बौद्ध दर्शन आस्तिकों के कर्मकाण्ड और ईश्वरवाद के साथ-साथ आत्म-वाद का भी खण्डन करता है।

यद्यपि वैदिक परम्परा जैन और बौद्ध दोनों को नास्तिक कहती है, किन्तु वे अपने को नास्तिक नहीं मानते हैं। नास्तिकवाद के प्रवर्तक बृहस्पति ने कर्मकाण्ड और ईश्वरवाद के खण्डन के लिए जिन युक्तियों को प्रस्तुत किया है, ठीक उन्हीं युक्तियों को जैन और बौद्ध दार्शनिकों ने भी प्रस्तुत किया है। फिर भी कर्म सिद्धान्त और सदाचार के प्रति आस्थावान् होने के कारण वे अपने को नास्तिक नहीं मानते हैं। जैन और बौद्ध दार्शनिकों ने नास्तिकवाद की व्याख्या परलोक, धर्माधर्म और कर्तव्याकर्तव्य के विरोधी सिद्धान्त के रूप में की है। आस्तिक-दर्शनों में परलोक, धर्म-आचरण और कर्तव्यों के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ प्राप्त होती हैं, उन्हीं मान्यताओं को प्रकारान्तर से जैन और बौद्ध दर्शनों ने भी अपनाया है।

जैन और बौद्ध दर्शनों को नास्तिक कहने का एकमात्र कारण उनका वेदान्दक होना ही प्रतीत होता है, क्योंकि मनुस्मृति में स्पष्ट कहा गया है—“नास्तिक्यं वेदान्दां”। आस्तिक दर्शन वेदवाक्यों को प्रमाण मानते हैं, जबकि जैन, बौद्ध और बृहस्पति—तीनों ही वेदों को अप्रमाण मानते हैं, इसी कारण वे नास्तिक कहे गये हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन और बौद्ध दर्शन आस्तिक और नास्तिक विचारधाराओं के बीच के दर्शन प्रतीत होते हैं।

#### ४. जैन और बौद्ध धर्मों की समानता

जैन और बौद्ध दोनों दर्शन एक कूटस्थ-नित्य आत्मा के स्थान पर परिणामी चैतन्य को स्वीकार करते हैं, दोनों ही अहिंसा के पक्षपाती हैं और दोनों ही वेद वाक्यों को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। आत्मा और अन्य द्रव्यों की सत्ता के प्रश्न को छोड़कर दोनों में बहुत कुछ समानता है। व्यवहार और नीति की दृष्टि से जैन दर्शन में जहाँ सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र्य को मोक्ष का साधन कहा गया है, वहीं बौद्ध दर्शन में प्रज्ञा, शील और समाधि को निर्वाण का साधन बताया गया है। गीता में भी ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग का

प्रतिपादन हुआ। जैन साधना, बौद्ध साधना, और हिन्दू साधना एक दूसरे के काफी निकट हैं। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा सम्बन्धी चार भावनाओं को जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन और योग दर्शन में समान रूप से स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार साधना पद्धति की दृष्टि से जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा में बाह्य विभिन्नताओं के होते हुए भी मूलतः समरूपता है। मानवीय ज्ञान, मानवीय श्रद्धा और मानवीय आचरण की सम्यक् दिशा में नियोजित करना तीनों का लक्ष्य है।

तीनों ही साधना पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य मनुष्य के राग भाव, तृष्णा या आसक्ति को समाप्त करना है। जहाँ जैन धर्म ने वीतरागता को जीवन का चरम साध्य बताया वही बौद्ध धर्म में वीततृष्ण होना ही साधना का चरम लक्ष्य माना गया और हिन्दू धर्म में—विशेष रूप से गीता में सम्पूर्ण शिक्षा का सार आसक्ति के प्रहाण को माना गया। वीतराग, वीततृष्ण या अनासक्त जीवनशैली का निर्माण ही तीनों परम्पराओं का मूलभूत लक्ष्य रहा है। जिस प्रकार जैन धर्म का अन्तिम आदर्श वीतराग अवस्था को प्राप्त करना है, उसी प्रकार बौद्ध धर्म का अन्तिम आदर्श वीततृष्ण होना या अर्हत्-अवस्था को प्राप्त करना है, हिन्दू धर्म में भी स्थितप्रज्ञ होने को जीवन का चरम आदर्श कहा जा सकता है। किंतु स्थितप्रज्ञ होने का अर्थ अनासक्त, वीतराग या वीततृष्ण होना ही है। ऐसा व्यक्तित्व ही इन तीनों धर्मों में साधना का परम आदर्श रहा है और उसे ही धर्ममार्ग के प्रवर्तक रूप में स्वीकार किया गया है।

#### ५. तीर्थंकर, बुद्ध या अवतार की अवधारणा का प्रयोजन

संसार के प्रत्येक धर्म या साधना पद्धति का कोई न कोई प्रवर्तक अवश्य होता है। कोई भी धर्म किसी धर्म प्रवर्तक के द्वारा ही अस्तित्व में आता है। धर्म प्रवर्तक प्रथम तो स्वयं सत्य की अनुभूति करता है और फिर उस अनुभूत-सत्य को उपदेशों के माध्यम से जन साधारण तक पहुँचाता है। प्रत्येक धर्म प्रवर्तक व्यक्ति, जीवन और जगत् के सम्बन्ध में अपना दर्शन प्रस्तुत करता है और वह यह बताता है कि जीवन क्या है, जगत् क्या है और जीवन का अन्तिम उद्देश्य क्या है तथा व्यक्ति को क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक धर्म में धर्म-प्रवर्तक अपना दर्शन, अपनी साधना पद्धति, अपनी समाज व्यवस्था और

१. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २,

आचार पद्धति प्रस्तुत करता है। वह धार्मिक और सामाजिक जीवन के नियमों और मर्यादाओं का संस्थापक भी होता है। प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के लिए उनके धर्म-प्रवर्तक के वचन प्रमाण रूप होते हैं और वे यह मानते हैं कि धर्म-प्रवर्तक के उपदेश और आदेश के अनुसार जीवन व्यतीत करने में ही हमारा कल्याण है। इस प्रकार प्रत्येक धर्म के लिए तीन वस्तुएँ आवश्यक होती हैं—धर्म प्रवर्तक, धर्म पुस्तक और धर्म-संघ या समाज।

धर्मपुस्तक के उपदेशक या रचयिता के रूप में तथा धर्मसंघ के आदर्श या नियामक के रूप में धर्मप्रवर्तक की आवश्यकता होती है। अतः धर्म-प्रवर्तक वह केन्द्र है जिस पर किसी भी धर्म का वृत्त स्थित होता है। बिना धर्मप्रवर्तक के कोई भी धर्म अस्तित्व में ही नहीं आ सकता है। धर्मप्रवर्तक धर्म को अस्तित्व में लाने वाला, उसे जीवन देने वाला और उसका नियामक होता है।

यही कारण है कि संसार के प्रत्येक धर्म में किसी न किसी रूप में धर्म प्रवर्तक को स्वीकार किया गया है। जैनों ने अपने धर्मप्रवर्तक के रूप में तीर्थंकर को स्वीकार किया तो बौद्धों ने बुद्ध को। जहाँ हिन्दू धर्म में अवतार को धर्मप्रवर्तक के रूप में स्वीकार किया गया है, वहाँ ईसाई धर्म में ईश्वर के पुत्र को और इस्लाम में पैगम्बर को धर्मप्रवर्तक के रूप में स्वीकार किया गया है।

इन धर्मप्रवर्तकों के उपदेशों को धर्मग्रन्थों में संकलित कर धार्मिक और सामाजिक जीवन का नियामक माना गया। जैनों ने तीर्थंकर के वचनों का संकलन आगमों के रूप में किया, तो बौद्धों ने बुद्ध वचनों को त्रिपिटक में संकलित किया। इसी प्रकार हिन्दू धर्म में ऋषियों और अवतारों के वचनों को वेद, उपनिषद्, भगवद्गीता आदि अनेक ग्रन्थों में संकलित किया गया। यद्यपि हिन्दू धर्म में केवल मीमांसक एक ऐसा सम्प्रदाय है जो वेदों को उपदिष्ट नहीं मानता, वह उन्हें नित्य मानता है और इस प्रकार उसमें धर्म-शास्त्र को ही सर्वोपरि माना गया है। जब कि विश्व के अन्य सभी धर्मों में धर्मशास्त्र की प्रामाणिकता के लिए धर्मोपदेष्टा या धर्मप्रवर्तकों को ही प्राथमिकता दी गई। अतः हम यह कह सकते हैं कि धर्मप्रवर्तक के रूप में तीर्थंकर, बुद्ध या अवतार की अवधारणायें आवश्यक रही हैं।

तीर्थंकर, बुद्ध या ईश्वर धार्मिक जीवन की साधना के चरम आदर्श हैं। प्रत्येक धर्म में धार्मिक जीवन का एक साध्य होता है, जिसकी

उपलब्धि के लिए उस धर्म के अनुयायी जीवन भर प्रयत्नशील रहते हैं। साथ ही व्यक्ति का धार्मिक जीवन कैसा हो, इसका एक मानदण्ड या आदर्श होना भी आवश्यक है। सभी धर्मों में अपने धर्मप्रवर्तक के जीवन को धार्मिक साधना के आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार जैनधर्म में व्यक्ति के जीवन का चरम साध्य जिनत्व को प्राप्त करना है। उसी प्रकार बौद्ध धर्म में जीवन का चरम साध्य बुद्धत्व की प्राप्ति या बोधिसत्त्व होना माना गया है। हिन्दू धर्म में यद्यपि साधना के लक्ष्य के रूप में ईश्वर का सान्निध्य या ईश्वर की प्राप्ति ही मुख्य है किन्तु उस ईश्वर का जगत् में यथार्थ प्रतिनिधि तो अवतारी पुरुष के जीवन का आदर्श ही होता है। इसी प्रकार ईसाई और इस्लाम धर्मों में भी ईश्वर की प्राप्ति को ही साधना का आदर्श माना गया है किन्तु ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त करने के लिए दोनों धर्म क्रमशः ईश्वरपुत्र या पैगम्बर के समान जीवन शैली को अपनाना आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार तीर्थंकर, बुद्ध, अवतार, ईश्वरपुत्र या पैगम्बर का जीवन उन-उन धर्मों के अनुयायियों के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय जीवन होता है। जीवन के इस आदर्श की यथार्थ प्रस्तुति के लिए प्रत्येक धर्म में किसी न किसी मार्गप्रवर्तक को स्वीकार किया गया है। जहाँ तक ईश्वरवादी धर्मों का सम्बन्ध है उन्होंने जीवन का चरम साध्य ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त करना स्वीकार किया है उनमें अवतारी पुरुषों के जीवन को एक आदर्श जीवन के रूप में स्वीकार किया गया और यह माना गया कि उन अवतारी पुरुषों के अनुरूप जीवन जोकर या उनके उपदेशों का पालन करके ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त किया जा सकता है।

जहाँ तक अनोश्वरवादी धर्मों का प्रश्न है वे तो स्पष्ट रूप से अपने धर्म प्रवर्तक को ही अपनी साधना के उच्चतम आदर्श के रूप में स्वीकार करते हैं, इन धर्मों में उस आदर्श या ऊँचाई तक पहुँचने के लिए धर्म साधना को आवश्यक माना गया है। तीर्थंकर और बुद्ध न केवल धर्म-प्रवर्तक हैं अपितु धार्मिक साधना के चरम आदर्श या साध्य हैं, उन्हें साध्य इस अर्थ में कहा जाता है कि इन धर्मों में प्रत्येक व्यक्ति को जिन-बीज या बुद्ध-बीज माना जाता है और व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि साधना के द्वारा अपने प्रसुप्त बुद्धत्व या जिनत्व को उपलब्ध करे। इन धर्मों में तीर्थंकर या बुद्ध को उपासना उनके सान्निध्य लाभ के लिए नहीं अपितु उनके जैसा बनने के लिए की जाती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रत्येक धर्म के लिए तीर्थंकर, बुद्ध,

अवतार या पैगम्बर की अवधारणा को स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि बिना किसी धर्मप्रवर्तक और धार्मिक जीवन के आदर्श को स्वीकार किए बिना कोई भी धर्म अपना अस्तित्व नहीं रख सकता ।

### ६. जैनधर्म और तीर्थङ्कर की अवधारणा

जैनधर्म श्रमण परम्परा का धर्म है । यह निवृत्ति प्रधान है । इस धर्म में संसार को दुःखमय माना गया है । उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जन्म दुःख है, वृद्धावस्था दुःख है, रोगोत्पत्ति और मृत्यु भी दुःख है, अधिक क्या यह सम्पूर्ण संसार ही दुःख रूप है, जिसमें प्रत्येक प्राणी पीड़ित हो रहा है ।<sup>१</sup> संसार की दुःखमयता को स्वीकार करने के साथ-साथ जैनधर्म यह भी मानता है कि व्यक्ति अपनी साधना के बल पर इस दुःखमय संसार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है । सांसारिक दुःखों और जन्म, जरा, मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाना ही मुक्ति है किन्तु जैनधर्म में मुक्ति का केवल यह निषेधात्मक रूप ही मान्य नहीं है । जैनों ने मुक्ति को एक आध्यात्मिक पूर्णता के रूप में ही देखा है, यह आध्यात्मिक पूर्णता तब प्राप्त होती है जब आत्मा कर्मों के आवरण को समाप्त कर अपने अनन्तचतुष्टय अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त-सुख को प्राप्त कर लेता है ।<sup>२</sup> कर्मों के आवरण को नष्ट करने के लिए तथा आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करने के लिए जैनधर्म में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य को मोक्ष मार्ग के रूप में स्वीकार किया गया है ।<sup>३</sup> जैनधर्म यह मानता है कि प्रत्येक भव्य आत्मा सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य की साधना के द्वारा आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर सकता है । दार्शनिक दृष्टि से जैनधर्म प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है तथा यह मानता है कि प्रत्येक जीवात्मा

१. "जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।

अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र १९।१६

२. विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं, च केवलं विरियं ।

केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥—नियमसार—१८१

३. नाणं च दंसणं चैव, चरित्तं च तवो तहा ।

एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइ ॥

—उत्तराध्ययनसूत्र २८।३

में परमात्मा बनने की सामर्थ्य है। जैनधर्म में आत्मा की निम्न स्थितियाँ मानी गई हैं—<sup>१</sup>

१—बहिरात्मा

२—अन्तरात्मा

३—परमात्मा

संसार के विषय वासनाओं की ओर उन्मुख हुआ व्यक्ति बहिरात्मा है। किन्तु भोगवादी जीवन दृष्टि से विरक्त होकर जो साधक आत्म संयम और आत्मानुभूति की दिशा में अग्रसर होता है, वह अन्तरात्मा है। जब यह अन्तरात्मा अपनी साधना के उच्चतम आदर्श वीतराग दशा को प्राप्त कर लेता है, तो वह परमात्मा बन जाता है।<sup>२</sup> इस परमात्म-दशा को प्राप्त कर लेना ही जैनधर्म की सम्पूर्ण साधना का सारतत्व है। जैनधर्म आत्मा को परमात्मा के रूप में विकसित करने की एक कला है, परमात्म-दशा की प्राप्ति ही जैन साधना का एक मात्र लक्ष्य है। जैनधर्म में इस परमात्मदशा या आत्मा की पूर्णता की स्थिति को मुख्यतया दो भागों में बांटा गया है, जो साधक आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर अपने शरीर का त्याग कर चुके हैं वे सिद्ध कहलाते हैं, यद्यपि सिद्धावस्था की प्राप्ति ही जैनधर्म का लक्ष्य है, फिर भी इसके पूर्व व्यक्ति को अर्हतावस्था को प्राप्त करना होता है। जैनों की यह अर्हतावस्था जीवन-मुक्ति की अवस्था है। जैनधर्म में इस अर्हतावस्था को भो तीन रूपों में विभक्त किया गया है—तीर्थंकर, प्रत्येकबुद्ध और सामान्य केवली। हम इन सबकी चर्चा अगले अध्याय में विस्तार के साथ करेंगे। यहाँ केवल इतना बता देना ही पर्याप्त होगा कि सामान्य-केवली और प्रत्येकबुद्ध की अपेक्षा जैनधर्म में तीर्थंकर न केवल अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करता है अपितु, वह धर्ममार्ग के उपदेष्टा और धर्मसंघ के नियामक के रूप में जन-जन को उस आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। इसके साथ-साथ जैनधर्म में तीर्थंकर में विशिष्ट शक्तियाँ भी मानी गई हैं जो कि प्रत्येक-बुद्ध और सामान्यकेवली में नहीं होती है, इस प्रकार तीर्थंकर जैनधर्म और जैनसाधना का प्राण है।

१. जीवा हवन्ति तिविहा, बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य ।

परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य ॥—कार्तिकेयअनुप्रेक्षा—१९२

२. अक्खाणि बहिरप्पा, अंतरप्पा तु अप्पसंकप्पो ।

कम्मकलंक-विमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो ॥—मोक्खपाहुड-५

जैनधर्म का यह सामान्य विश्वास है कि प्रत्येक कालचक्र में और प्रत्येक क्षेत्र में एक निश्चित संख्या में क्रमशः तीर्थंकरों का आविर्भाव होता है और वे धर्ममार्ग का प्रवर्तन करते हैं। सामान्यतया यह भी माना जाता है कि प्रत्येक तीर्थंकर का धर्मोपदेश समान होता है; यद्यपि जैनाचार्यों ने प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के धर्मोपदेश और धर्मव्यवस्था में मध्य के २२ तीर्थंकरों की अपेक्षा कुछ अन्तर भी स्वीकार किया है। उनकी मान्यता है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर पंच महाव्रतों का उपदेश देते हैं, जबकि मध्य के २२ तीर्थंकर चातुर्यामि धर्म का उपदेश देते हैं। इसी प्रकार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर छेदोपस्थापनीय चारित्र और सप्रतिक्रमण धर्म का उपदेश करते हैं जबकि मध्यवर्ती तीर्थंकर केवल सामायिकचारित्र का उपदेश करते हैं।<sup>१</sup> यद्यपि इन अन्तरो के बावजूद भी सभी तीर्थंकरों के धर्मचक्र प्रवर्तन का मूलभूत उद्देश्य व्यक्ति को उसकी आध्यात्मिक पूर्णता की ओर ले जाना है।

### ७. जैनधर्म में तीर्थंकर की अवधारणा का ऐतिहासिक विकास-क्रम

यद्यपि जैनधर्म में तीर्थंकर की यह अवधारणा पर्याप्त प्राचीन है, फिर भी प्राचीन जैन ग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि इसका एक क्रमिक विकास हुआ है। आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध एवं सूत्रकृतांग जैसे जैनों के प्राचीनतम ग्रन्थों में हमें तीर्थंकर शब्द ही नहीं मिलता है। यद्यपि उसमें अरहन्त (अर्हत्) शब्द उपस्थित है। एक स्थान पर उसमें कहा गया है कि जो भूतकाल में अरहन्त हो चुके हैं, वर्तमान में अरहन्त हैं और भविष्य में अरहन्त होंगे, वे सभी यह उपदेश करते हैं कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव या सत्व की हिंसा मत करो, उसे पीड़ा न पहुँचाओ, यही

१. पढमस्स बारसंगं सेसाणिककारसंगं सुयलंभो ।  
पंच जमा पढमंतिमजिणाणं सेसाणं चत्तारि ॥  
पच्चक्खणमिणं संजमो अ पढमंतिमाणं दुविगप्पो ।  
सेसाणं सामइओ सत्तरसंगो अ सव्वेसि ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति २३६-२३७

२. जे अईया जे य पडुप्पन्ता जे य आगमेस्सा अरहंता भगवतो ते सव्वे एवमाइ-  
क्खंति' 'सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा—एस धम्मो  
सुद्धे णिइए सासए सामिच्च लोयं खेयणोहि पवेइए ॥

—आचारांग, १।४।१।१-२



एकमात्र शूद्र और शाश्वत धर्म है।<sup>१</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि भूत, वर्तमान और भविष्य काल के अरहन्तों की अवधारणा जैनों में अति प्राचीन काल से उपस्थित रही है। यह भी सत्य है कि अरहन्त की अवधारणा से ही तीर्थंकर की अवधारणा का विकास हुआ है।

यद्यपि पटना जिले के लोहानीपुर से तीर्थंकर की मौर्यकालीन प्रतिमा उपलब्ध हुई है, किन्तु वह तीर्थंकर की अवधारणा के विकसित स्वरूप का प्रमाण नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि मथुरा के अभिलेखों ( ई० पू० प्रथम शती से ईसा की दूसरी शती तक ) में भी तीर्थंकर के स्थान पर अर्हत् शब्द का ही प्रयोग देखा जाता है। प्राचीन स्तर के जैन ग्रन्थों में सबसे पहले उत्तराध्ययन सूत्र के २३वें अध्याय में महावीर और पार्व के विशेषण के रूप में 'धर्म तीर्थंकर जिन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। डा० सागरमल जैन की मान्यता है कि जैन परम्परा में प्राचीन शब्द अर्हत् ही था, तीर्थंकर शब्द का प्रयोग परवर्ती काल का है। उत्तराध्ययन के पश्चात्-कालीन आगमों—आचारांग द्वितीयश्रुतस्कंध, भगवती, स्थानांग, समवायांग एवं कल्पसूत्र में तीर्थंकर शब्द का प्रयोग हमें मिलता है। जैनों में अर्हत्, जिन, संबुद्ध और धर्मतीर्थंकर शब्द पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं। ज्ञातव्य है बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में 'निगण्ठनाटपुत्त' ( निर्ग्रन्थज्ञातपुत्र ) अर्थात् महावीर, मंखलिगोशाल, संजयवेलट्टिठपुत्र आदि को तीर्थंकर कहा गया है। भगवती में गोशालक अपने को तीर्थंकर कहता है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में अर्हत्, बुद्ध, जिन, तीर्थंकर आदि श्रमण परम्परा के सर्वसामान्य शब्द थे। किन्तु आज तीर्थंकर शब्द जैन परम्परा का और बुद्ध बौद्ध परम्परा का विशिष्ट शब्द बन गया है।

जैनों में तीर्थंकरों की एक निश्चित संख्या, उनका क्रम, उनके जीवन-वृत्त आदि का एक सुव्यवस्थित रूप में प्रतिपादन ईसापूर्व की पहली शताब्दी से लेकर ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी के बीच ही हुआ है। क्योंकि इस काल के रचित ग्रन्थ कल्पसूत्र एवं समवायांग में सबसे पहले हमें तीर्थंकरों से सम्बन्धित विवरण मिलते हैं। जैनों की तीर्थंकर की यह अवधारणा किस प्रकार विकसित हुई, तीर्थंकर के जीवन वृत्तों को किस प्रकार अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण बनाया गया। इस सबकी चर्चा हमने अग्रिम अध्याय में की है। यहाँ तो हमारा प्रयोजन मात्र इतना बता देना है कि तीर्थंकर की अवधारणा जैनधर्म का केन्द्रीय तत्त्व है। हम यह

भी मानते हैं कि जिस प्रकार जैनधर्म में तीर्थंकर की अवधारणा का एक कालक्रम में विकास हुआ है, उसी प्रकार बौद्धधर्म में बुद्धों की अवधारणा और हिन्दू धर्म में अवतारों की अवधारणा का कालक्रम में विकास हुआ है।

#### ८. बौद्धधर्म और बुद्ध

जैनधर्म के समान ही बौद्धधर्म भी श्रमण परम्परा का एक निवृत्तिमार्गी धर्म है। सामान्यतया इस धर्म के संस्थापक के रूप में गौतम बुद्ध को माना जाता है। गौतम बुद्ध जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर महावीर के समकालीन हैं। गौतम बुद्ध ने भी संसार की दुःखमयता का अनुभव किया और कहा कि यह संसार दुःखमय है। संसार की दुःखमयता की अनुभूति ही बौद्ध धर्म का प्राण है। गौतम बुद्ध ने स्वयं जिन चार आर्यसत्यों का उपदेश दिया था, उनके मूल में दुःख की अवधारणा है। उनके ये चार आर्यसत्य निम्न हैं—

१—दुःख ।

२—दुःख समुदय या दुःख का कारण ।

३—दुःख निरोध ।

४—दुःख निरोध का मार्ग ।<sup>१</sup>

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि बुद्ध और महावीर दोनों संसार की दुःखमयता को चित्रित करते हैं, किन्तु वे दोनों निराशावादी नहीं हैं। दोनों यह मानते हैं कि संसार की इस दुःखमयता से व्यक्ति का उद्धार सम्भव है। दुःख और दुःख के कारणों को जानकर उनका उच्छेद कर देने पर दुःख का अन्त किया जा सकता है। बौद्धधर्म में बुद्ध का मुख्य लक्ष्य संसार के प्राणियों को दुःख से मुक्त कराना ही है। संसार के प्राणियों को दुःख से मुक्त करने के लिए ही वे धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हैं तथा जन-जन के कल्याण के लिए न केवल स्वयं प्रयत्नशील होते

१. [अ] इदं दुक्खं ति खो, पोट्टपाद, मया ब्याकतं; अयं दुक्खसमुदयो ति खो पोट्टपाद, मया ब्याकतं; अयं दुक्खनिरोधो ति खो पोट्टपाद, मया ब्याकतं; अयं दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा ति खो, पोट्टपाद, मया ब्याकतं' ति ।

—दीघनिकाय, पोट्टपादसुत्त १.९.३, पृ० १५७ ।

[ब] बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, उपाध्याय भरतसिंह, पृ०

१५६-५७

हैं, अपितु अपने भिक्षु संघ को इस महान् कार्य के लिए प्रेरित करते हैं।<sup>१</sup> बौद्धधर्म के अनुसार यदि व्यक्ति बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अष्टांग आर्यमार्ग का सम्यक् प्रकार से पालन करता है तो वह जन्म, जरा और मृत्यु के चक्र से मुक्त होकर निर्वाण का लाभ कर सकता है।

यद्यपि सामान्यतया बौद्ध धर्म को गौतम बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट और प्रसारित माना जाता है किन्तु जैनों के समान बौद्धों में भी यह अवधारणा पाई जाती है कि गौतम बुद्ध के पूर्व भी अनेक बुद्ध हो चुके हैं और उन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया है। बौद्धधर्म में बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध और अर्हत् की अवधारणायें उपस्थित हैं। जो व्यक्ति बुद्ध द्वारा उपदिष्ट होकर निर्वाण का लाभ करते हैं वे अर्हत् और जो स्वयं बोधि को प्राप्त करते हैं, वे प्रत्येकबुद्ध कहे जाते हैं किन्तु अर्हत् और प्रत्येक बुद्ध के इन आदर्शों की अपेक्षा बुद्धत्व का आदर्श उच्च माना गया है क्योंकि बुद्ध न केवल अपनी दुःख-विमुक्ति की चिन्ता करते हैं अपितु वे संसार के सभी प्राणियों की दुःख विमुक्ति की चिन्ता करते हैं। महायान सम्प्रदाय तो यहाँ तक मानता है कि दूसरों को दुःख-विमुक्ति के लिए वे अपने परिनिर्वाण की भी चिन्ता नहीं करते।<sup>२</sup> इस प्रकार बुद्ध न केवल आध्यात्मिक पूर्णता के प्रतीक हैं अपितु वे जन-जन के कल्याण करने वाले भी हैं। अपनी इसी विशेषता के कारण वे बौद्ध धर्म के आधार स्तम्भ हैं।

१. 'चरथ भिक्खवे, चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्याय हिताय सुखाय देवमनुस्सान'

—(अ) महावग्ग (१.१०.३२) पृ० ३२

—(ब) दीघनिकाय भाग-२ महापदानसुत्त (१.६.६५) पृ० ३७

### मुलनीय

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे, गामगए नगरे व संजए ।

संतिमग्गं च बूहए, समयं गोयम । मा पमायए ॥

—उत्तराव्ययन सूत्र १०।३६

२. [अ] किं मे एकेन तिण्णेन पुरिसेन थामदस्सिना सब्बञ्जुतं पापुणित्वा सन्तारेस्सं सदेवकं ।—जातकट्ठकथा—निदानकथा

बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, भरत सिंह उपाध्याय, पृ० ६१० से उद्धृत ।

[ब] मुच्चमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोदयसागराः ।

तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ॥

—बोधिचर्यावतार ८/१०८;

[स] भवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्बृताः ।—बोधिचर्यावतार १/२०-२१ ।

वे धर्ममार्ग के उपदेष्टा धर्मसंघ के नियामक तथा अन्य साधकों के लिए आदर्श रूप हैं ।

## ९. बुद्धत्व की अवधारणा का विकास

जिस प्रकार जैनधर्म में ऐतिहासिक दृष्टि से तीर्थंकर की अवधारणा का क्रमिक विकास हुआ उसी प्रकार बौद्धधर्म में भी बुद्धत्व की अवधारणा का क्रमिक विकास हुआ है । सर्वप्रथम शाक्यपुत्र गौतम को बुद्ध मानने के साथ-साथ अतीत और अनागत बुद्धों को कल्पना विकसित हुई, फिर क्रमशः अतीत और अनागत बुद्धों की संख्या उनके जीवनवृत्त आदि का भी विकास हुआ । इन सब की चर्चा हमने बुद्धत्व की अवधारणा नामक अगले अध्याय में की है, वहाँ हमने यह भी बताने का प्रयत्न किया है कि जिस प्रकार जैनों में तीर्थंकर के जीवनवृत्त के साथ अलौकिकत्व और चमत्कारपूर्ण बातें जुड़ती गईं वैसे ही बौद्धधर्म में बुद्ध के साथ भी हुआ है । यहाँ तो हमारा उद्देश्य केवल यह सूचित करना है कि बुद्धत्व एवं बोधिसत्व की अवधारणाएँ बौद्धधर्म का प्राण हैं, क्योंकि उसी के आधार पर इस धर्म की मूल्यवत्ता एवं सामाजिक उपयोगिता को सिद्ध किया जा सकता है ।

## १०. हिन्दू धर्म और अवतार

जिस प्रकार जैनधर्म के प्रवर्तक के रूप में महावीर और बौद्ध धर्म के प्रवर्तक के रूप में बुद्ध को स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार हिन्दू धर्म के प्रवर्तक के रूप में किसी व्यक्ति विशेष को स्वीकार नहीं किया जाता है । यद्यपि यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि बौद्धों ने और जैनों ने भी परम्परागत रूप में महावीर अथवा बुद्ध को अपने धर्मसंघ का एक मात्र प्रवर्तक नहीं माना है । धार्मिक दृष्टि से उनकी यह मान्यता है कि इस संसार चक्र में अनादि काल से समय-समय पर तीर्थंकर और बुद्ध होते हैं और वे धर्ममार्ग का प्रवर्तन करते हैं । फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से बुद्ध और महावीर को क्रमशः बौद्ध और जैन धर्म का प्रवर्तक माना जाता है किन्तु हिन्दू धर्म में ऐसे किसी धर्म प्रवर्तक को खोज लेना कठिन है । वस्तुतः हिन्दूधर्म एक धर्म न होकर धर्म-समूह है । अतः न तो इसका कोई एक धर्म प्रवर्तक माना जा सकता है और न कोई एक निश्चित दर्शन या धर्मशास्त्र ही है । हिन्दू धर्म में आज भी प्रकृति पूजा से लेकर वेदान्त की आध्यात्मिक ऊँचाई को स्पर्श करने वाले अनेक स्तर या रूप हैं ।

अतः उसमें किसी एक सामान्य तत्त्व को खोज पाना कठिन है। वह अनेक ऋषि-महर्षियों के द्वारा अनेक रूपों में प्रवर्तित होता रहा है उसमें यदि सामान्य तत्त्व है तो मात्र यही कि उसमें एक ईश्वर की विविध रूपों में अभिव्यक्ति को स्वीकार किया गया है। एक ईश्वर की विविध रूपों में यह अभिव्यक्ति ही अवतारवाद की अवधारणा का प्राण है<sup>१</sup> और विभिन्न अवतारों को कल्पना के माध्यम से हिन्दू धर्म के इन विविध रूपों को एक साथ जोड़ा जा सकता है। हमारी दृष्टि में अवतार की अवधारणा ही एक ऐसा सामान्य तत्त्व है जो हिन्दू धर्म की विविधता में अनुस्यूत एकता को प्रतिबिम्बित करता है।

हिन्दू धर्म मूलतः एक बहुदेववादी धर्म है, उसमें अनेक देवताओं की कल्पना है। इन अनेक देवताओं को एक देव के अधीन करने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप उसमें एकेश्वरवाद की अवधारणा विकसित हुई और एकेश्वरवाद और बहुदेववाद के बीच संगति बैठाने के लिए ही अवतार की कल्पना विकसित हुई। सर्वप्रथम यह माना गया कि विभिन्न देवता उसी एक परम देव की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनका इस संसार में अपना प्रयोजन और कार्य है। यद्यपि हिन्दू धर्म के प्राचीन ग्रन्थों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक शताब्दियों तक यह विवाद चलता रहा कि इन विविध देवों में प्रधान देव कौन है? कभी विष्णु को, तो कभी शिव को प्रधान देव माना गया। यद्यपि आगे चलकर शिव की अपेक्षा विष्णु का प्रभाव बढ़ा और अन्य समस्त देवों को उनकी ही अभिव्यक्ति माना गया और इस प्रकार अवतारवाद की अवधारणा अस्तित्व में आई।

तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार के समरूप ही कुछ अवधारणाएं पारसी, यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म में भी मिलती है जिनकी चर्चा आगे करेंगे।

### ११. पारसी धर्म और देवदूत जरथुस्त्र

ईसा से कई शताब्दी पूर्व जरथुस्त्र का आविर्भाव माना जाता है। यद्यपि इनके जन्म-समय और स्थान के बारे में विद्वानों में मतभेद है।

१. अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥

-गीता १०।८

-वही २०

ग्रीक लोग इन्हें "नाजरित" कहते थे। "नाजरित" शब्द "नाजार" या "नाजिर" शब्द से आविर्भूत हुआ है। ईसा से पूर्व पश्चिमी एशिया में "नाजार" नामक एक प्राचीन जाति थी जो रहस्यमय एवं चमत्कार-पूर्ण ढंग से रोगियों का उपचार करती थी।<sup>१</sup> पौराणिक कथाओं में जरथुस्त्र का आविर्भाव दैवी योग से माना है। कहा जाता है कि उनके गर्भ में आने पर माता के चारों ओर आध्यात्मिक ज्योति का प्रकाश हो गया था और जन्मोपरान्त समस्त लोक आलोकित हो उठा था। अनुश्रुतियों के अनुसार बुद्ध और महावीर के जन्म के समय भी यह चमत्कार घटित हुआ था। जन्म के बाद शिशु जरथुस्त्र ने जो हास्य किया उससे समस्त शुभ सृष्टि प्रसन्न हो उठी<sup>२</sup>, परन्तु अशुभ अपने विनाश की चिन्ता से चिन्तित हो गया।<sup>३</sup> प्लिनी का कहना है कि जरथुस्त्र के जन्म के पश्चात् उनके मस्तिष्क के कम्पन इतने तीव्र थे कि उसे स्थिर करने के लिए उनके सिर पर हाथ रखना पड़ा था।<sup>४</sup>

कुछ विद्वानों के अनुसार जरथुस्त्र का जन्म मिडिया के 'राद्या' नामक स्थान में हुआ था इनके पिता का नाम 'पौरुषाष्पा' और माता का नाम 'दुधदेवा' था। जरथुस्त्र को 'स्पितामा' कहा जाता है जो उनकी वंश परम्परा का नाम था। ग्रीक और लैटिन में इन्हें 'जोरोआस्टर' और इनके द्वारा प्रवर्तित धर्म को 'जोरोआस्ट्रियानिज्म' कहते हैं। जरथा शब्द का अर्थ 'पीला' और 'उश्त्र' शब्द का अर्थ 'ऊँट' होता है अर्थात् पीला ऊँट रखने

1. Olcott, H. S.; Adyar Pamphlets No. 23, p. 8 (Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1913)

द्रष्टव्य : पारसी धर्म एवं सेमिटिक धर्मों में मोक्ष की धारणा, पृ० २४

2. "Hail born for us is the priest, Spitama Zarathushtra". Yt. 13, 93, 94 : Dr. Dhalla's Translation

द्रष्टव्य : वही

3. "He alone who forces me to quit who is Spitama Zarathushtra." Yt. 17, 19, 20 : Dr. Dhalla's Translation.

द्रष्टव्य : वही

4. "Pliny adds the vibrations of the child's brain were so fierce as to repel the hand laid upon it." Dastur and Nanavutty ; Songs of Zarathushtra, p. 18,

द्रष्टव्य : वही

वाला व्यक्ति। परन्तु कुछ विद्वान् 'जरथा' का अर्थ 'सुनहराप्रकाश' बताते हैं अर्थात् 'सुनहरे प्रकाश' वाला व्यक्ति। उनके इस नाम का एक अर्थ साधक या पुजारी भी समझा जाता है। यह नाम उनको सम्भवतः अपनी साधना के बल पर उसी प्रकार प्राप्त हुआ होगा, जिस प्रकार बौद्ध धर्म में राजकुमार सिद्धार्थ ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त 'बुद्ध' और ईसा को 'क्राइस्ट' कहा जाने लगा।<sup>१</sup> अतः उनके लिए प्रकाश का वाचक जरथुस्त्र शब्द उचित ही है क्योंकि उन्होंने समस्त जगत् को प्रकाश का मार्ग दिखाया।

पन्द्रह वर्ष की अवस्था में जरथुस्त्र के पिता की सम्पत्ति का बंटवारा हुआ तो उन्होंने केवल पवित्र 'गर्डल' (सूत्र) ही लिया। इस प्रकार उन्होंने सांसारिक सुख-भोग की अपेक्षा धार्मिक जीवन में रुचि प्रकट की। वे अत्यन्त दयालु प्रकृति के थे। २० वर्ष की अवस्था में उन्होंने गृह त्यागकर पर्वतों पर रहते हुए नैतिक भलाई के लिए तात्त्विक प्रश्नों पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया था। वह प्रकाशमान ईश्वर अहुरमज्जादा के अन्वेषक थे। 'वह पवित्रों में भी पवित्र थे' फिर भी उन्होंने स्वयं को कभी भी ईश्वर या ईश्वरीय गुणसम्पन्न नहीं कहा। एकान्त साधना के साथ-साथ जरथुस्त्र में सांसारिक जीवन की विशुद्धता की भी पराकाष्ठा थी। दूसरों की सेवा ही उनकी दृष्टि में उच्चतम आध्यात्मिक जीवन का ध्येय था। उन्होंने कहा कि आध्यात्मिक पवित्रता एवं नैतिक-सदाचरण के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

ईश्वर की खोज में लीन जरथुस्त्र को अशुभदेव अंग्रमैन्सू से युद्ध करना पड़ा। जिस प्रकार महावीर को संगम ने, गौतम (सिद्धार्थ) को मार ने तथा ईसा को 'शैतान' (इबलिस) ने प्रलोभन दिया था, उसी प्रकार अशुभ ने जरथुस्त्र को संसार का अधीश्वर बना देने का प्रलोभन दिया, जिसे उन्होंने पूर्णतया अस्वीकार कर दिया है।<sup>२</sup>

१. The Religion of Zarathushtra, p. 23 by I. J. S. Taraporewala.

उद्धृत—पारसी धर्म एवं सेमेटिक धर्मों में मोक्ष की धारणा, पृ० २४

२. 'No, I shall not renounce that Good Religion of worshippers of Mazda, not though life and limb and soul should part as under.'—Jackson Zoroaster,

दृष्टव्य वही, पृ० २५

इस परोक्षा के बाद अशुभ निराश होकर चला जाता है। ज्ञान का पूर्ण प्रकाश प्राप्त कर जरथुस्त्र ने नवीन धर्म का प्रवर्तन किया। जरथुस्त्र को अपने जन्मस्थान के निकट दरागा नदी के समीप स्थित "युशीडारिना पर्वत" पर 'अवेस्ता' का ईश्वरीय प्रकाश प्राप्त हुआ था।

## १२. यहूदी धर्म और पैगम्बर मोजेज

यहूदी धर्म के प्रादुर्भाव के पूर्व हिब्रू जाति के लोग अनेकेश्वरवाद में विश्वास किया करते थे, प्राचीन हिन्दुओं के समान ही वे पहाड़, नदी, झरना, आकाश आदि को अपनी आवश्यकता के अनुसार ईश्वर मानते थे।

कहा जाता है कि जलप्लावन के पश्चात् यहूदी मिस्र में जा बसे, बहुत दिनों तक इनका सम्बन्ध चाल्डी सभ्यता से रहा। कालान्तर में मिस्र का राजा फराओ यहूदियों से असन्तुष्ट हो गया और यहूदियों पर अत्याचार करने लगा। इस अन्याय को सहन न कर सकने के कारण यहूदियों ने मुक्ति के लिए ईश्वर को पुकारा। उनका विश्वास है कि परमेश्वर ने उनकी पुकार सुनकर कहा कि मैं अपने दूत को भेजता हूँ जो तुम्हारा मार्गदर्शन करेगा।<sup>१</sup>

इस प्रकार परमेश्वर याहवेह ने मोजेज को अपने प्रतिनिधि के रूप में इज्रायल के लोगों को उचित मार्गदर्शन के लिए भेजा। कहते हैं कि परमेश्वर ने होरेव नाम पर्वत के पास जलती हुई कटीली झाड़ी के बीच मोजेज को दर्शन दिया था।<sup>२</sup> ईश्वर ने उसके समक्ष अपना नाम प्रकाशित किया<sup>३</sup> तथा उपदेश दिया एवं उसे चमत्कारिक शक्ति दी।<sup>४</sup> इस प्रकार मोजेज ने यहूदी धर्म का प्रवर्तन ईश्वरीय आदेश के आधार पर किया और एकमात्र ईश्वर यहोवा के प्रति आस्थावान् होने को कहा। मोजेज यहूदियों को मिस्र से निकालकर लाल सागर के पूर्व की ओर ले गए। यहाँ सिनाई पर्वत पर मोजेज को याहवेह द्वारा न्याय और कर्तव्य सम्बन्धी १० आज्ञायें प्राप्त हुई।<sup>५</sup> तदनुसार मोजेज ने उन आज्ञाओं का प्रचार

१. देखें—पारसी धर्म एवं सेमिटिक धर्मों में मोक्ष की धारणा, पृ० २५।

२. एक्सोडस ३:१६ उद्धृत—पारसी धर्म एवं सेमिटिक धर्मों में मोक्ष की धारणा, पृ० ११५

३. वही ३:१३-१४ उद्धृत—वही

४. वही ४:२-४ उद्धृत—वही

५. Ten Commandments उद्धृत—वही, पृ० ११६



किया एवं उनकी उपासना के लिए मन्दिर की निर्माण विधि को प्रस्तुत किया। मोजेज ने यह भी कहा कि मुझे ईश्वर ने धर्मस्थापना के हेतु आज्ञा दी है। अतः जो ईश्वर की वाणी को मानने से इनकार करेगा, वह दोषी ठहराया जावेगा। इस प्रकार यहूदी धर्म में मोजेज ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में धर्मसंस्थापना करते हैं। धर्मसंस्थापना के रूप में ईश्वरीय प्रतिनिधि की यह अवधारणा अवतार से किञ्चित् भिन्न होकर भी बहुत कुछ समानता रखती है।

### १३. ईसाई धर्म और प्रभु ईसामसीह

ईसामसीह को ईसाई धर्म का धर्मप्रवर्तक माना जाता है। ईसा का जन्म आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व यहूदियों के बैतलहम नामक नगर में हुआ था, इनकी माता का नाम मरियम था। यूसुफ ने जब मरियम से विवाह किया तो स्वर्गदूत ने उससे स्वप्न में कहा कि “मरियम पुत्र को जन्म देगी, तू उसका नाम ईसा रखना, क्योंकि वह अपने लोगों का उनके पापों से उद्धार करेगा।”<sup>१</sup> ईसा के जन्म के तत्काल बाद पूर्व से कई ज्योतिषी बैतलहम पहुँचे और उन्होंने राजा हेरोदेस से पूछा, “यहूदियों का राजा, जिसका जन्म हुआ है, कहाँ है? क्योंकि हमने पूर्व में उसका तारा देखा है और हम उसको प्रणाम करने आये हैं।”<sup>२</sup> यह सुनकर स्वार्थी और क्रूर हेरोदेस बहुत घबरा गया और उसने सभी बच्चों को मार डालने का आदेश दिया ताकि उसका शत्रु बड़ा होने से पहले ही समाप्त हो जाये। यूसुफ अपने पुत्र ईसा को लेकर मिस्र चले गये।<sup>३</sup> हेरोदेस की मृत्यु के बाद ईसा नासरत में बस गये। ईसाइयों का विश्वास है कि ईसा को यूहन्ना ने यरदन नदी में बपतिस्मा दिया, बपतिस्मा के बाद ईसा ने परमेश्वर की आत्मा को कबूतर की भाँति अपने ऊपर आते

१. ईसामसीह की वाणी, पृ० १

२. वही, पृ० १

३. ईसा की जन्म कथा की बहुत कुछ साम्यता कृष्ण की जन्म कथा में खोजी जा सकती है—जिस प्रकार क्रूर हेरोदेस बच्चों के विनाश का आदेश देता है उसी प्रकार कंस भी देवकी के सभी पुत्रों को मार देना चाहता है। जिस प्रकार यूसुफ अपने पुत्र को लेकर मिस्र चले जाते हैं वैसे ही कृष्ण को गोकुल भेज दिया जाता है।

देखा और तभी यह आकाशवाणी हुई, “यह मेरा पुत्र है, जिससे मैं अत्यधिक प्रसन्न हूँ।”<sup>१</sup> उसी समय से ईसा “ईश्वर-पुत्र” कहे जाने लगे।

ईसाई धर्म में ईसा के साधनाकालीन जीवन के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है, किन्तु यह माना गया है कि वे बपतिस्मा देने के बाद ४० दिनों तक अदृश्य रहे और उन्हें इबलिस (शैतान) ने अनेक प्रकार के प्रलोभन दिए, किन्तु वे चिर जागरुक और सतर्क थे। अतः इबलिस या शैतान उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सका। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं—तीर्थंकर महावीर और गौतम बुद्ध के साधनाकालीन जीवन के सम्बन्ध में भी क्रमशः संगमदेव और मार के द्वारा दिए गये प्रलोभनों और कष्टों का उल्लेख है। वस्तुतः ऐसा लगता है कि जब मानवीय जीवन आध्यात्मिक विकास की ओर आगे बढ़ना चाहता है तो पाशविक शक्तियाँ उसे दबोचना चाहती हैं। महावीर, बुद्ध और ईसा के जीवन के यह संघर्ष वस्तुतः आध्यात्मिक सद्गुणों और पाशविक वृत्तियों के बीच के संघर्ष हैं। शैतान, संगमदेव या मार वस्तुतः मनुष्य की दुर्वासनाओं के ही प्रतीक हैं।

हमारे सामाजिक एवं आध्यात्मिक जगत् में उत्थान-पतन का क्रम चलता रहता है। अतः विश्व के प्राणियों के कल्याण के लिए आदर्श पुरुष समय-समय पर जन्म लेते हैं। ईसा का जन्म भी ऐसे ही युग में हुआ था जिस समय यहूदी जाति पतन की ओर जा रही थी। इस प्रकार सभी महापुरुष अपने युग की मांग हैं, उनकी जाति का अतीत ही उनका निर्माण करता है। ईसा भी इसी के प्रतीक हैं।

महापुरुष ईसा ने कहा था कि “यह जीवन (सब)कुछ नहीं है, इससे भी उच्च कुछ और है।”<sup>२</sup> ईसा धर्म के क्षेत्र में अत्यन्त व्यावहारिक थे। उन्हें इस नश्वर एवं क्षणभंगुर जगत् के ऐश्वर्य में विश्वास नहीं था। वे कहते थे कि यदि हम आदर्श का अनुगमन नहीं कर सकते, तो कम से कम हमें अपनी दुर्बलता को अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिए<sup>३</sup>।

एक श्रेष्ठ धर्माचार्य के जीवन और उपदेशों की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या उसका स्वयं का जीवन ही होता है। ईसा ने स्वयं अपने विषय में कहा है<sup>४</sup>—“लोमड़ियों और शृगालों के एक-एक माद होती है, नभचारी खग-

१. ईसामसीह की वाणी, पृ० २

२. ईशदूत ईसा, पृ० ११

३. वही, पृ० १३

कुल अपने नीड में निवास करते हैं, पर मानव पुंज ( ईसा ) के पास अपना सिर टिकाने तक के लिए कोई स्थान नहीं है” । इससे हम देखते हैं कि ईसा स्वयं त्यागी और वैराग्यवान् थे, इसलिए उन्होंने यही शिक्षा दी कि वैराग्य और त्याग ही मुक्ति का एकमेव मार्ग है । इसके अतिरिक्त मुक्ति का कोई और पथ नहीं है ।

ईसा ने अपनी अद्भुत दिव्य दृष्टि से जान लिया था कि सभी नर-नारी, चाहे वे यहूदी हों या किसी अन्य जाति के हों, दरिद्र हों या धनवान्, साधु हों या पापात्मा; सभी में उनके ही समान अविनाशी आत्मा विद्यमान है । उनके जीवन का उद्देश्य सम्पूर्ण मानव जाति का कल्याण है । वे कहते हैं—“यह कुसंस्कारमय मिथ्या भावना छोड़ दो कि हम दीन हैं । यह न सोचो कि तुम पर गुलामों के समान अत्याचार किया जा रहा है, तुम पैरों तले रौंदे जा रहे हो, क्योंकि तुम में एक ऐसा तत्त्व विद्यमान है, जिसे पद-दलित या पीड़ित नहीं किया जा सकता, जिसका विनाश नहीं हो सकता ।” तुम सब ईश्वर के पुत्र हो, अमर और अनादि हो । इस प्रकार ईसा ने अपनी वाणी से घोषणा की—“दुनिया के लोगों, इस बात को भलीभाँति जान लो कि स्वर्ग का राज्य तुम्हारे अभ्यन्तर में अवस्थित है” । “मैं और मेरे पिता अभिन्न हैं ।”

ईसा का एक मात्र उद्देश्य समग्र जगत् को परम ज्योतिर्मय परमेश्वर के निकट पहुँचने तक अग्रसर करते रहना था । ईश्वरीय पुत्र के रूप में ईसा ईश्वर के अंशावतार तो कहे ही जा सकते हैं ।

### १४. इस्लाम धर्म और पैगम्बर

इस्लाम का शाब्दिक अर्थ “ईश्वर के प्रति प्रणति (Submission to God)” है । यह धर्म मुख्य रूप से आत्मसमर्पण की शिक्षा देता है इस्लाम धर्म अनेकेश्वरवाद एवं मूर्ति पूजा का कट्टर विरोधी है । यह एकेश्वरवाद को मानता है । इस्लाम धर्म के संस्थापक हजरत मुहम्मद साहब थे ।<sup>१</sup>

मुहम्मद साहब जिस समय पैदा हुये थे उस समय अरब में नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श प्रायः नष्ट हो चुके थे तथा चारों ओर पापाचार का बोलबाला था ।

यह जन विश्वास है कि जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म

१. ईसादूत ईशा, पृ० १४

२. वही, पृ० १५

३. मुहम्मद पैगम्बर की वाणी, पृ० ३

का बोलबाला होता है, तो परमात्मा की ओर से धर्म की स्थापना के लिए दैवीशक्ति से युक्त महापुरुष का जन्म होता है।

इस अर्थ में मुहम्मद साहब को भी दैवीय शक्ति सम्पन्न पुरुष या ईश्वरीय दूत कहा जा सकता है। इस्लाम में मुहम्मद साहब को खुदा का पैगम्बर अर्थात् ईश्वर का सन्देश सुनाने वाला कहा जाता है। मुहम्मद साहब के उपदेश ही इस्लामधर्म के आधार स्तम्भ हैं।

मुहम्मद साहब का जन्म मक्का में सन् ५७० ई० में हुआ था। इनके जन्म के पूर्व ही इनके पिता का स्वर्गवास हो चुका था और इनकी माता भी इन्हें ६ वर्ष का छोड़कर चल बसीं। इनका पालन-पोषण इनके चाचा अबूतालिब ने किया था। मुहम्मद साहब के जन्म के समय अरब में धार्मिक अशान्ति की स्थिति थी। वहाँ की खानाबदोश मूल जातियाँ प्रायः मूर्तिपूजक थी, वे तारों, पत्थरों और भून-प्रेतों की पूजा किया करती थीं।<sup>१</sup>

मुहम्मद को अपने चाचा अबूतालिब के प्रयासों से एक धनी विधवा महिला खदीजा के यहाँ ऊँटवान की नौकरी मिल गई। व्यापार के सिलसिले में वे सीरिया भी गए। उनकी कार्य कुशलता से प्रसन्न होकर खदीजा ने उनसे विवाह कर लिया।

चालीस वर्ष की अवस्था में मुहम्मद को मक्का की पहाड़ी गुफा में पहली बार ईश्वरानुभूति हुई और उन्होंने महसूस किया कि मेरे जन्म का उद्देश्य लोगों को नैतिक पतन से ऊपर उठाना एवं अन्धविश्वास से मुक्त कराना है।<sup>२</sup> उन्होंने घोषणा की कि 'अल्लाह ने मानव जाति के कल्याण के लिए मुझे रसूल (दूत) बनाकर भेजा है।'<sup>३</sup> उन्होंने अपने सम्बन्धियों एवं एक ईमानदार दोस्त अबूबक्र को अपनी ईश्वरानुभूति के बारे में बताया। वे बहुत दिनों तक अपनी नुबूत (दिव्यानुभूति) में निमग्न रहे। उनके मित्रों एवं उनकी पत्नी ने उनका हौसला बढ़ाया कि उन्हें इस महान् कार्य को सम्पन्न करना है। उन्होंने मूर्तिपूजा को कड़ी आलोचना की, इस पर उन्हें मक्कावासियों के आरोपों एवं अपमान को सहना पड़ा। फिर भी उन्होंने अपना प्रचार कार्य बन्द नहीं किया। उनके चाचा ने जब उन्हें मना किया, तो मुहम्मद ने कहा—'भले ही लोग मेरे दाहिने हाथ में सूरज और बाएँ हाथ में चाँद को रख दे ताकि मैं अपना काम

१. मुहम्मद पैगम्बर की वाणी, पृ० २

२. वही, पृ० ३

३. वही, पृ० ४

छोड़ दूँ, फिर भी मैं तब तक नहीं रुकूँगा, जब तक मैं ऐसा करते हुए मर नहीं जाता हूँ।<sup>१</sup>

धीरे-धीरे लोगों ने इस्लाम को ग्रहण किया। मक्का में विरोध के कारण उन्होंने मदीने की यात्रा (हज्रत) की और वहाँ अनेक लोगों को इस्लाम में दीक्षित किया। इसी घटना से मुसलमानी सन् या हिजरी सन् की शुरुआत हुई।

धीरे-धीरे मुहम्मद के अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। अन्त में उन्होंने मक्का पर विजय प्राप्त की। खैबर में एक यहूदी स्त्री द्वारा विष दिये जाने से उनकी मृत्यु हो गई। उनके अन्तिम शब्द थे<sup>२</sup>—“प्रत्येक मनुष्य को अपनी मुक्ति के लिए साधना करनी चाहिये।” इस प्रकार हज्रत मुहम्मद साहब ने अल्लाह के द्वारा प्राप्त उपदेशों को मानव मात्र के कल्याण के लिए कहा। इस्लाम में संयम, आज्ञापालन एवं प्रार्थना पर जोर दिया गया है।

इस्लाम धर्म की एक पुस्तक ‘हदीस’, जिसमें पैगम्बर मुहम्मद साहब के वचन हैं, कहा गया है कि विश्व में मानव कल्याण को लेकर अब तक लगभग १ लाख २४ हजार पैगम्बर हो चुके हैं। किन्तु इनका विस्तृत विवरण कहीं भी उपलब्ध नहीं है। इस्लाम धर्म के धर्मग्रन्थ ‘कुर्आन शरीफ’ के विभिन्न पारों में मुहम्मद साहब के पूर्व २२ पैगम्बरों के नाम मिलते हैं। जिन्हें एक तालिका द्वारा परिशिष्ट में दर्शाया गया है।<sup>३</sup>

वस्तुतः हिन्दू, जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी, ईसाई और इस्लाम सभी धर्मों में यह माना गया है कि मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए और परमात्मा से जुड़ने के लिए, मार्गदर्शक के रूप में एक महान् व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा और मुहम्मद सभी ऐसे महान् व्यक्तित्व हैं जो जन कल्याण के लिए समय समय पर प्रकट होते हैं। जैन और बौद्ध धर्म ईश्वर की अवधारणा में विश्वास नहीं करते हैं, परन्तु वे भी इतना तो अवश्य मानते हैं कि मनुष्य के मार्गदर्शन के लिए समय समय पर कुछ महान् व्यक्तित्वों का जन्म होता रहता है। जैन, बौद्ध आदि श्रमण परम्पराएं यह मानती हैं कि कुछ ऐसे व्यक्तित्व होते हैं, जो अपनी आध्यात्मिक विशुद्धि और नैतिक साधना के माध्यम से

१. मुहम्मद पैगम्बर की वाणी पृ० ४

२. वही, पृ० ५

३. देखें—परिशिष्ट—‘क’

वह योग्यता अर्जित कर लेते हैं, जिसके द्वारा वे संसार के प्राणियों का मार्गदर्शन कर सकें। जबकि ईश्वरवादी धर्म यह मानकर चलते हैं कि दैवीशक्ति मानवीय कल्याण के लिए अपने आपको प्रकट करती है और मनुष्य का मार्गदर्शन करती है। चाहे कोई ईश्वरवादी धर्म हो या अनीश्वरवादी; किन्तु इतना तो सभी मानते हैं कि मानव समाज को अध्यात्म और नैतिकता के क्षेत्र में मार्गदर्शन के लिए समय-समय पर महान् व्यक्तित्वों की अपेक्षा होती है और वे महान व्यक्तित्व जन साधारण की इस अपेक्षा की पूर्ति करके संसार में धर्म मार्ग की संस्थापना करते हैं।



## द्वितीय अध्याय तीर्थकर की अवधारणा

### १. जैनधर्म में तीर्थकर का स्थान

जैनधर्म में तीर्थकर को धर्मतीर्थ का संस्थापक कहा गया है। “नमोत्थुण” नामक प्राचीन प्राकृत स्तोत्र में तीर्थकर को धर्म की आदि करने वाला, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाला, धर्म का प्रदाता, धर्म का उपदेशक, धर्म का नेता, धर्म मार्ग का सारथी और धर्म चक्रवर्ती कहा गया है।<sup>१</sup> जैनाचार्यों ने एकमत से यह माना है कि समय-समय पर धर्मचक्र प्रवर्तन हेतु तीर्थकरों का जन्म होता रहता है। जैन धर्म का तीर्थकर गीता के अवतार के समान धर्म का संस्थापक तो है किन्तु दुष्टों का दमन एवं सज्जनों की रक्षा करने वाला नहीं है। जैन धर्म में तीर्थकर लोककल्याण के लिए मात्र धर्ममार्ग का प्रवर्तन करते हैं, किन्तु अपनी वीतरागता, कर्म सिद्धान्त की सर्वोपरिता एवं अहिंसक साधना की प्रमुखता के कारण हिन्दू धर्म के अवतार को भाँति वे अपने भक्तों के कष्टों को दूर करने हेतु दुष्टों का दमन नहीं करते हैं।

जैनधर्म में तीर्थङ्कर का कार्य है—स्वयं सत्य का साक्षात्कार करना और लोकमंगल के लिए उस सत्यमार्ग या सम्यक् मार्ग का प्रवर्तन करना है। वे धर्म-मार्ग के उपदेष्टा और धर्म-मार्ग पर चलने वालों के मार्गदर्शक हैं। उनके जीवन का लक्ष्य होता है स्वयं को संसार चक्र से मुक्त करना, आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करना और दूसरे प्राणियों को भी इस मुक्ति और आध्यात्मिक पूर्णता के लिए प्रेरित करना और उनकी साधना में सहयोग प्रदान करना। तीर्थकर को संसार समुद्र से पार होने वाला और दूसरों को पार कराने वाला कहा गया है।<sup>१</sup> वे पुरुषोत्तम हैं। उन्हें सिंह के समान शूरवीर, पुण्डरीक कमल के समान वरेण्य और गन्ध-हस्ती के समान श्रेष्ठ माना गया है। वे लोक में उत्तम, लोक के नाथ,

१. नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं आङ्गराणं, तित्थगराणं, सयंसंबुद्धाणं.....  
धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवर-चाउरंत-  
चक्रवदटीणं जिणाणं जावयाणं, तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं  
मोयगाणं ।  
—कल्पसूत्र १६ ( प्राकृत भारती जयपुर )

लोक के हितकर्ता, दीपक के समान लोक को प्रकाशित करने वाले कहे गये हैं।

## २. तीर्थकर शब्द का अर्थ और इतिहास

धर्म प्रवर्तक के लिए जैन परम्परा में सामान्यतया अरहंत, जिन तीर्थकर—इन शब्दों का प्रयोग होता रहा है। जैन परम्परा में तीर्थकर शब्द कब अस्तित्व में आया यह कहना तो कठिन है, किन्तु निःसन्देह यह ऐतिहासिक काल में प्रचलित था। बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर “तीर्थकर” शब्द प्रयुक्त हुआ है, दीघनिकाय के सामञ्जफलसुत्त में छः अन्य तीर्थकरों का उल्लेख मिलता है।<sup>२</sup> जैनागमों में उत्तराध्ययन, आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध, स्थानांग, समवायांग और भगवती में तीर्थकर शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>३</sup>

संस्कृत में तीर्थ शब्द घाट या नदी के तीर का सूचक है। वस्तुतः जो किनारे से लगाये वह तीर्थ है। धार्मिक जगत् में भवसागर से किनारे लगाने वाला या पार कराने वाला तीर्थ कहा जाता है। तीर्थ शब्द का एक अर्थ धर्मशासन है। इसी आधार पर संसार समुद्र से पार कराने वाले एवं धर्मतीर्थ ( धर्मशासन ) की स्थापना करने वाले को तीर्थकर कहते हैं।

भगवतीसूत्र एवं स्थानांग में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह धर्मों के पालन करने वाले साधकों के चार प्रकार बताये गए हैं

१. पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवर-गंधहत्थीणं ।  
लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं, लोक-पईवाणं, लोग-  
पज्जीयगराणं । —कल्पसूत्र १६

२. दीघनिकाय, पृ० १७-१८ (हिन्दी अनुवाद) में छः तीर्थकरों का उल्लेख मिलता है—१. पूर्ण काश्यप, २. मंखलि गोशाल, ३. अजितकेश कम्बल, ४. प्रबुद्ध कात्यायन, ५. संजयबेलटिठपुत्त, ६. निगण्ठ नातपुत्त ।

३. (अ) उत्तराध्ययन २३/१, २३/४

(ब) आचारांग द्वितीयश्रुतस्कन्ध—१५/११; १५/२६/६

(स) स्थानांग—९/६२/१, १/२४९—५०, २/४३८-४४५

३/५३५, ५/२३४;

(द) समवायांग—१/२; १९/५; २३/३—४; २५/१; ३४/४; ५४/१

(इ) भगवती—९।१४५



—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका । इन चतुर्विध संघ को भी तीर्थ कहा जाता है तथा इस चतुर्विध संघ के संस्थापक को तीर्थंकर कहते हैं ।<sup>१</sup> वैसे जैन साहित्य में तीर्थंकर का पर्यायवाची प्राचीन शब्द “अरहंत” ( अर्हत् ) है । प्राचीनतम जैनागम आचारांग में इसी शब्द का प्रयोग हुआ है ।

विशेषावश्यकभाष्य में तीर्थ की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि “जिसके द्वारा पार हुआ जाता है, उसको तीर्थ कहते हैं ।” इस आधार पर जिन-प्रवचन को तथा ज्ञान और चारित्र्य से सम्पन्न संघ को भी तीर्थ कहा गया है । पुनः तीर्थ के ४ विभाग किये गये हैं—

१. नाम तीर्थ

२. स्थापना तीर्थ

३. द्रव्य तीर्थ

४. भाव तीर्थ ।

तीर्थ नाम से सम्बोधित किये जाने वाले स्थान आदि नाम तीर्थ कहे जाते हैं । जिन स्थानों पर भव्य आत्माओं का जन्म, मुक्ति आदि होती है और उनकी स्मृति में मन्दिर, प्रतिमा आदि स्थापित किये जाते हैं वे स्थापना तीर्थ कहलाते हैं । जल में डूबते हुए व्यक्ति को पार कराने वाले, मनुष्य की पिपासा को शान्त करने वाले और मनुष्य शरीर के मल को दूर करने वाले द्रव्य तीर्थ कहलाते हैं, जिनके द्वारा मनुष्य के क्रोध आदि मानसिक विकार दूर होते हैं तथा व्यक्ति भवसागर से पार होता है, वह निर्ग्रन्थ प्रवचन भावतीर्थ कहा जाता है । भावतीर्थ पूर्व संचित कर्मों को दूर कर तप, संयम आदि के द्वारा आत्मा की शुद्धि करने वाला होता है । तीर्थंकरों के द्वारा स्थापित चतुर्विध संघ भी संसाररूपी समुद्र से पार कराने वाला होने से भावतीर्थ कहा जाता है । इस भावतीर्थ के संस्थापक ही तीर्थंकर कहे जाते हैं ।<sup>२</sup>

तीर्थंकर शब्द का उल्लेख स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्म-

१. “तित्थं पुण चाउवन्ने समणसंघे—

समणा, समणीओ, सावया साबियाओ ।”

—भगवतीसूत्र, शतक २० उ० ८ सूत्र ७४

२. “तित्थंति पुव्वभणियं संघो जो नाणचरणसंघाओ ।

इह पवयणं पि तित्थं, तत्तोणत्थंतरं जेण ॥

—विशेषावश्यकभाष्य, । १३८०

कथा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र में उपलब्ध होता है, किन्तु कालक्रम की दृष्टि से ये सभी आगम परवर्ती माने गये हैं। प्राचीन स्तर के आगमों में आचारांग I, सूत्रकृतांग I, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और ऋषिभाषित आते हैं किन्तु इन आगम ग्रन्थों में केवल उत्तराध्ययन में ही 'तित्थयर' शब्द मिलता है। अन्य किसी भी प्राचीन स्तर के ग्रन्थ में यह शब्द उपलब्ध नहीं है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन में अरहन्त शब्द का प्रयोग ही अधिक हुआ है। तीर्थंकर की अवधारणा का विकास मुख्य रूप से अरहन्त की अवधारणा से हुआ है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में भूतकाल और भविष्यकाल के अर्हन्तों की अवधारणा मिलती है<sup>१</sup>। किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि भूतकाल में कौन अर्हन्त हो चुके हैं और वर्तमान में कौन अर्हन्त हैं और भविष्यकाल के कौन अर्हन्त होंगे। फिर भी इस उल्लेख से ऐसा लगता है कि उस युग में यह विचार दृढ़ हो गया था कि भूतकाल में कुछ अर्हत् हो चुके हैं, वर्तमान में कुछ अर्हत् हैं और भविष्यकाल में कुछ अर्हत् होंगे। सम्भवतः यही वर्तमान, भूत और भावी तीर्थंकरों की अवधारणा के विकास का आधार रहा होगा। सूत्रकृतांग में भी हमें 'अरह' शब्द मिलता है। तीर्थंकर शब्द नहीं मिलता। प्राचीन ग्रन्थों में सबसे पहले हमें उत्तराध्ययन में 'तित्थयर' शब्द मिलता है। इसके २३ वें अध्याय में अर्हत् पार्श्व और भगवान् वर्धमान को धर्म तीर्थंकर (धम्म...तित्थयेरे<sup>२</sup>) यह विशेषण दिया गया है। उत्तराध्ययन के इसी २३ वें अध्याय की २६वीं एवं २७वीं गाथा में कहा गया है कि पहले (तीर्थंकर) के साधु ऋजु जड़ अर्थात् सरल चित्त और मूर्ख (जड़) होते हैं और अन्तिम (तीर्थंकर) के वक्र जड़ होते हैं जबकि मध्यम के ऋजु और प्राज्ञ होते हैं<sup>३</sup>। इस गाथा से ऐसा लगता है कि उत्तराध्ययन के २३वें अध्याय के रचना काल तक तीर्थंकर की अवधारणा बन चुकी होगी। इस गाथा से इतना अवश्य फलित होता है कि उस युग तक महावीर को अन्तिम तथा पार्श्व को उनका पूर्ववर्ती तीर्थंकर और ऋषभ को प्रथम तीर्थंकर माना जाने लगा होगा। वैसे तीर्थंकर की विकसित अवधारणा हमें मात्र समवायांग और भगवती में ही मिलती है। समवायांग में भी यह सारी चर्चा उसके अन्त में जोड़ी गई है। इससे

१. आचारांग १।४।१।१

२. पुरिमा उज्जुजडा उ, वंकजडा या पञ्छिमा ।

मज्झिमा उज्जपन्ना य, तेण धम्मे दुह्हा कए ॥

—उत्तराध्ययन २३।२६

इसकी परिवर्तिता निश्चित रूप से सिद्ध होती है। नन्दी में समवायांग की विषयवस्तु की चर्चा में प्रकीर्णक समवाय का उल्लेख ही नहीं है। सम्भवतः आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध की रचनाकाल तक न तो तीर्थंकरों की २४ की संख्या निश्चित हुई और न यह निश्चित हुआ था कि ये तीर्थंकर कौन-कौन हैं। स्थानांग में ऋषभ, पार्श्व और वर्धमान के अतिरिक्त वारिषेण का उल्लेख हुआ है<sup>१</sup> किन्तु वर्तमान में २४ तीर्थंकरों की अवधारणा में वारिसेन का उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भावना है कि आगे वारिषेण के स्थान पर अरिष्टनेमि को समाहित किया गया होगा। क्योंकि मथुरा में जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें ऋषभ, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर का उल्लेख है। पार्श्व और महावीर की ऐतिहासिकता तो सुनिश्चित ही है। अरिष्टनेमि और ऋषभ की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में भी कुछ आधार मिल सकते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में अरिष्टनेमि को भगवान, लोकनाथ और दमीश्वर की उपाधि दी गई है।<sup>२</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा के साहित्य में जिन आगमिक ग्रन्थों को द्वितीय स्तर का माना गया है, उनमें ही तीर्थंकर की अवधारणा का विकसित रूप देखा जाता है। साहित्यिक एवं पुरातात्विक आधारों से ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी में २४ तीर्थंकरों की अवधारणा सुनिश्चित हो गई थी।

### ३. तीर्थंकर की अवधारणा

पूर्वकाल में तीर्थंकर का जीव भी हमारी तरह ही क्रोध, मान, माया, लोभ, इन्द्रिय-सुख आदि जागतिक प्रलोभनों में फँसा हुआ था। पूर्व जन्मों में महापुरुषों के सत्संग से उसके ज्ञान-नेत्र खुलते हैं वह साधना के क्षेत्र में प्रगति करता है और तीर्थंकर नाम-कर्म का उपाजन कर तीर्थंकर बनने की योग्यता प्राप्त कर लेता है<sup>३</sup>। अन्तिम जीवन (भव) में स्वयं सत्य का अनावरण कर केवलज्ञान प्राप्त करता है। जैन धर्म में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कोई भी भव्य जीव तप और साधना के द्वारा तीर्थंकर

१. स्थानांग ४।३३९

२. भगवं अरिष्टनेमि ति लोगनाहे दमीसरे ।

—उत्तराध्ययन २२।४

३. 'इमेहि य' णं वीसाए णं कारणेहि आसेविय—बहुलीकर्हि तित्थयरनामगोयं कम्मं निव्वत्तिमु, तं जहा— ।

—ज्ञाताधर्मकथा ८।१८

नामकर्म का उपार्जन कर सकता है और जिस भव (जन्म) में तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करता है उसके तृतीय भव में वह नियमतः तीर्थंकर बनता है<sup>१</sup>। जैन मान्यता के अनुसार पूर्व भव में तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करने वाली आत्मा जब वर्तमान भव में साधना के माध्यम से ज्ञाना-वरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय कर्म नष्ट करके केवल-ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त करती है और साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप धर्मतीर्थ की स्थापना करती है, तब वह वस्तुतः तीर्थंकर कहलाती है।

तीर्थंकर की अवधारणा वैदिक अवतारवाद की अवधारणा से बिल्कुल भिन्न है। हिन्दू धर्म में ईश्वर मानव के रूप में अवतरित होता है या जन्म लेता है। हिन्दू धर्म के दृष्टिकोण में ईश्वर मानव रूप ग्रहण कर सकता है किन्तु मानव ईश्वर नहीं बन सकता, क्योंकि वह तो उसका अंश या सेवक माना गया है। जबकि जैनधर्म के अनुसार कोई भी आत्मा अपनी आध्यात्मिक ऊँचाई पर चढ़ते हुए तीर्थंकर पद को प्राप्त कर सकती है। एक आत्मा एक ही बार तीर्थंकर पदको प्राप्त करती है और फिर मुक्त हो जाती है। तीर्थंकर बन जाने के पश्चात् वह दूसरा जन्म ग्रहण नहीं करती। जैनों के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर एक स्वतन्त्र आत्मा होता है। जीवात्मा तीर्थंकर बनता है, किन्तु तीर्थंकर पुनः जीवात्मा नहीं बनता। वह सिद्धावस्था प्राप्त करने पर पुनः संसार में नहीं लौटता है।

तीर्थंकर की अवधारणा उत्तरण की अवधारणा है। उत्तरण में मानव तप एवं साधना के द्वारा अपनी राग-द्वेष एवं मिथ्यात्व अवस्था से ऊपर उठकर वीतराग अवस्था को प्राप्त करता है और अन्त में कर्मों से पूर्णतया मुक्त होकर सिद्ध अवस्था प्राप्त करता है। सिद्ध अवस्था प्राप्ति के बाद जीव पुनः संसार में नहीं आता। इस प्रकार उत्तारवाद में मानव अपने विकारी जीवन से ऊपर उठकर परमात्मतत्त्व को प्राप्त करता है।

अतः जैनों में तीर्थंकर की जो अवधारणा है वह उत्तारवाद की अवधारणा है, अवतारवाद की अवधारणा नहीं है। तीर्थंकरत्व की प्राप्ति एक विकास-प्रक्रिया का परिणाम है, वह अवतरण नहीं है।

#### ४. तीर्थंकर और अरिहंत

यद्यपि प्राचीन आगमों में अरिहंत और तीर्थंकर पर्यायवाची रहे हैं,

१. पारद्वतित्थयरनामबंधभवाओ तद्वियभवये तित्थयरसंतकम्मियजीवाणं मोक्ख-गमणणियमादो ।

परन्तु परवर्ती जैन विद्वानों ने उनमें अन्तर किया है। उन्होंने शरीर सहित मुक्त अवस्था के दो भेद किये हैं। “वे अरिहंत जिनके विशेष पुण्य के कारण कल्याणक महोत्सव मनाये जाते हैं, तीर्थंकर कहलाते हैं। शेष सामान्य अर्हन्त कहलाते हैं। केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञत्व से युक्त होने के कारण इन्हें केवली भी कहते हैं।”<sup>१</sup>

उपाध्याय अमरमुनिजी तीर्थंकर और अर्हत् का भेद स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि ‘अनेक लोकोपकारी सिद्धियों के स्वामी तीर्थंकर होते हैं, जबकि दूसरे मुक्त होने वाले आत्मा ऐसे नहीं होते अर्थात् न तो वे तीर्थंकर जैसे महान् धर्म प्रचारक ही होते हैं और न इतनी अलौकिक योग-सिद्धियों के स्वामी ही। साधारण मुक्त जीव अपना आत्मिक विकास का लक्ष्य अवश्य प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु जनता पर अपना चिरस्थायी एवं अक्षुण्ण आध्यात्मिक प्रभुत्व नहीं जमा पाते। यही एक विशेषता है जो तीर्थंकर और अन्य मुक्त-आत्माओं में भेद करती है।’<sup>२</sup>

अस्तु अर्हत् ( सामान्य केवली ) और तीर्थंकरों में अन्तर केवल इतना ही है कि अर्हत् स्वयं अपनी मुक्ति की कामना करते हैं और तीर्थंकर संसार-सागर से स्वयं पार होने के साथ-साथ दूसरों को भी पार कराते हैं। इसी विशेष गुण के कारण वे तीर्थंकर कहलाते हैं।

#### ५. तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवली का अन्तर

तीर्थंकर और सामान्य केवली के आदर्शों के इस द्विविध वर्गीकरण के अतिरिक्त आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थ योगबिन्दु में स्वहित और लोक-हित के आदर्शों के आधार पर एक त्रिविध वर्गीकरण प्रस्तुत किया है—

**तीर्थंकर**—जो कर्षणा से युक्त है और सदैव परार्थ को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है, सत्त्वों के कल्याण की कामना ही जिसका एकमात्र कर्तव्य है, जो अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करने के पश्चात् ही सत्त्वहित के लिए धर्म-तीर्थ की स्थापना करता है, तीर्थंकर कहलाता है।<sup>३</sup>

१. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग १, पृ० १४०, भाग २, पृ० १५७

२. जैनत्व को झांकी, ( उपाध्याय अमरमुनिजी ) पृ० ५३

३. कर्षणादिगुणोपेतः, परार्थव्यसनी सदा ।

तथैव चेष्टते धीमान्, वर्धमान् महोदयः ।

तत्तत्कल्याणयोगेन, कुर्वन्सत्त्वार्थमेव सः ।

तीर्थंकृत्वमवाप्नोति, परं सत्त्वार्थसाधनम् ॥

—योगबिन्दु २८७-२८८

**गणधर**—वे साधक जो सहवर्गीय हित के संकल्प को लेकर साधना के क्षेत्र में कार्य करते हैं और अपने सहवर्गीय-हित और कल्याण के लिए प्रयत्नशील होते हैं गणधर कहे जाते हैं। समूहहित या गणकल्याण ही उनके ( गणधर के ) जीवन का आदर्श होता है।<sup>१</sup>

**सामान्य केवली**—जो साधक आत्म-कल्याण को ही अपना लक्ष्य बनाता है और इसी आधार पर साधना करते हुए आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करता है, वह सामान्य केवली कहा जाता है। जैनों की पारिभाषिक शब्दावली में उसे मुण्डकेवली भी कहते हैं।<sup>२</sup>

यद्यपि आध्यात्मिक पूर्णता और सर्वज्ञता की दृष्टि से तीर्थंकर, गणधर और सामान्य केवली समान ही होते हैं, किन्तु लोकहित के उद्देश्य को लेकर इन तीनों में भिन्नता होती है। तीर्थंकर लोकहित के महान् उद्देश्य से प्रेरित होता है जबकि गणधर का परहित क्षेत्र सीमित होता है और सामान्य केवली का उद्देश्य तो मात्र आत्मकल्याण होता है।

#### ६. सामान्य-केवली और प्रत्येकबुद्ध

कैवल्य को प्राप्त करने की विधि की भिन्नता के आधार पर सामान्य-केवली वर्ग के भी दो विभाग किये गये हैं—

१. प्रत्येकबुद्ध
२. बुद्धबोधित

**प्रत्येकबुद्ध**—जैनागमों में समत्रायांग<sup>३</sup> में प्रत्येकबुद्ध शब्द का प्रयोग मिलता है। उत्तराध्ययन में वर्णित करकण्डू, दुर्मुख, नमि और नग्गति

१. चिन्तयत्येवमेवैतत् स्वजनादिगतं तु यः ।  
तथानुष्ठानतः सोऽपि धीमान् गणधरो भवेत् ॥

—योगबिन्दु, २८९

२. संविम्नो भव निर्वेदादात्मनिःसरणं तु यः ।  
आत्मार्थं सम्प्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली ॥

—वहो, २९०

३. पण्हावागरणदसासू णं ससमय परसमय पणवय—पत्तेयबुद्ध ।

—समवायांग, ( सं० मधुकरमुनि ) ५४७

को प्रत्येकबुद्ध कहा गया है।<sup>१</sup> इसी प्रकार इसिभासियाई के निम्न ४५ ऋषियों को भी प्रत्येकबुद्ध कहा गया है<sup>२</sup>—

१-देवनारद, २-वज्जियपुत्त, ३-असित देवल, ४-अंगिरस भारद्वाज, ५-पुष्पसालपुत्त, ६-वागलचीरी, ७-कुम्मापुत्त, ८-केतलीपुत्त, ९-महाकासव, १०-तेत्तलिपुत्त, ११-मंखलीपुत्त, १२-जणवक्क, ( याज्ञवल्क्य ) १३-भयाली भेतेज्ज, १४-बाहुक, १५-मधुरायण, १६-सोरियायण, १७-विदुर, १८-वरिसव कण्ह ( वारिषेणकृष्ण ), १९-आरियायण, २०-उक्कल, २१-गाहावत्तिपुत्त तरुण, २२-दगभाल, २३-रामपुत्त, २४-हरिगिरि, २५-अंबड, २६-मातंग, २७-वारत्तए, २८-अद्दएण, २९-वद्धमाण, ३०-वायु, ३१-पास, ३२-पिंग, ३३-महासालपुत्तअरुण, ३४-इसिगिरिमाहण, ३५-अद्दालअ, ३६-तारायण, ३७-सिरिगिरिमाहणपरिव्वाय, ३८-सात्तिपुत्तबुद्ध, ३९-संजए, ४०-दीवायणं, ४१-इंदनाग, ४२-सोम, ४३-जम, ४४-वरुण, ४५-वेसमण ।

जैन परम्परा के अनुसार वे साधक जो कैवल्य या वीतराग दशा की उपलब्धि के लिए न तो अन्य किसी के उपदेश की अपेक्षा रखते हैं और न संघीय जीवन में रहकर साधना करते हैं वे प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं। प्रत्येकबुद्ध किसी निमित्त को पाकर स्वयं ही बोध को प्राप्त होता है तथा अकेला ही प्रव्रजित होकर साधना करता है। वीतराग अवस्था और

१. उत्तराध्ययन चूर्णी १८।६

२. पत्तेय बुद्धमिसिणो वीसं तित्थे अरिट्टणेमिस्स ।

पासस्य य पण्णरस वीरस्स विलीणमोहस्स ॥ १ ॥

णारद-वज्जिय-पुत्ते असिते अंगरिसि-पुष्पसाले य ।

वक्कलकुम्मा केवलि कासव तह तेत्तलिसुत्ते य ॥ २ ॥

मंखली जण्णभयालि बाहुय महु सोरियाण विद्विपू ।

वरिसकण्हे आरिय उक्कलवादे य तरुणे य ॥ ३ ॥

गद्दभ रामे य तद्दा हरिगिरि अम्बड मयंग वारत्ता ।

तंसो य अद्द य वद्धमाणे वा तीस तीमे ॥ ४ ॥

पासे पिंगे अरुणे इसिगिरि अद्दालए य वित्तेय ।

सिरिगिरि सात्तियपुत्ते संजय दीवायणे चैव ॥ ५ ॥

तत्तो य इंदणागे सोम यमे चैव होइ वरुणे य ।

वेसमणे य महप्पा चत्ता पंचेव अक्खाए ॥ ६ ॥

—इसिभासियाई संगहिणी गाथा परिशिष्ट १, पृ० २९७

केवल्य प्राप्त करके भी एकाकी ही रहता है। ऐसा एकाकी आत्मनिष्ठ साधक प्रत्येकबुद्ध कहा जाता है। प्रत्येकबुद्ध और तीर्थंकर दोनों को ही अपने अन्तिम भव में किसी अन्य से बोध प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती, वे स्वयं ही सम्बुद्ध होते हैं। यद्यपि जैनाचार्यों के अनुसार जहाँ तीर्थंकर को बोध हेतु किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं होती है वहाँ प्रत्येकबुद्ध को बाह्य निमित्त की आवश्यकता होती है। यद्यपि जैन कथा साहित्य में ऐसे भी उल्लेख हैं जहाँ तीर्थंङ्करों को भी बाह्य निमित्त से प्रेरित होकर विरक्त होते दिखाया गया है, यथा—ऋषभ का नीलाञ्जना नामक नृतकी की मृत्यु से विरक्त होना। प्रत्येकबुद्ध किसी भी सामान्य घटना से बोध को प्राप्त कर प्रव्रजित हो जाता है। जैन परम्परा में उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित में प्रत्येकबुद्धों के उपदेश संकलित हैं, किन्तु इन ग्रन्थों में प्रत्येकबुद्ध शब्द नहीं मिलता है। प्रत्येकबुद्ध शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख स्थानांग, समवायांग और भगवती में मिलता है। यद्यपि यह तीनों ही आगम ग्रन्थ परवर्ती काल के ही माने जाते हैं। ऐसा लगता है कि जैन और बौद्ध परम्पराओं में प्रत्येकबुद्धों की अवधारणा का विकास परवर्ती काल में ही हुआ है। वस्तुतः उन विचारकों और आध्यात्मिक साधकों को जो इन परम्पराओं से सीधे रूप से जुड़े हुए नहीं थे किन्तु उन्हें स्वीकार कर लिया गया था, प्रत्येकबुद्ध कहा गया।

**बुद्धबोधित**—बुद्धबोधित वे साधक हैं, जो अपने अन्तिम जन्म में भी किसी अन्य से उपदेश या बोध को प्राप्त कर प्रव्रजित होते हैं और साधना करते हैं, बुद्धबोधित कहे जाते हैं। सामान्य साधक बुद्धबोधित होते हैं।

जैनधर्म में तीर्थंकर को गणधर, प्रत्येकबुद्ध और सामान्यकेवली से पृथक् करके एक अलौकिक पुरुष के रूप में ही स्वीकार किया गया है और उसकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। तीर्थंङ्कर की इन अलौकिकताओं में पंचकल्याणक, चौतीस अतिशय, पैंतीस वचनातिशय आदि महत्त्वपूर्ण हैं, हम अगले पृष्ठों में क्रमशः इनकी चर्चा करेंगे।

### ७. तीर्थंकर की अलौकिकता

जैनपरम्परा में यद्यपि तीर्थंकर को एक मानवीय व्यक्तित्व के रूप में ही स्वीकार किया गया, फिर भी उनके जीवन के साथ क्रमशः अलौकिकताओं को जोड़ा जाता रहा है। जैनपरम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में तीर्थंकर महावीर के जीवनवृत्त के



सम्बन्ध में कुछ उल्लेख मिलता है, किन्तु उसमें उन्हें एक उग्र तपस्वी के रूप में प्रस्तुत किया गया है और उनके जीवन के साथ किसी अलौकिकता को नहीं जोड़ा गया, किन्तु उसी ग्रन्थ के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में और कल्पसूत्र में महावीर के जीवन के साथ अनेक अलौकिकताएँ जोड़ी गई हैं। तीर्थंकर की माता उनकी गर्भविक्रान्ति के समय श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार १४ और दिग्म्बर परम्परा के अनुसार १६ शुभ स्वप्न देखती है। आचारांग में तीर्थंकर के गर्भ-कल्याणक का उल्लेख मिलता है, फिर भी वह किस प्रकार मनाया जाता है इसका विशेष विवरण तो टीकाग्रन्थों एवं परवर्तीसाहित्य में ही उपलब्ध होता है। यह भी मान्यता है कि तीर्थंकर माता की जिस योनि में विकसित होते हैं वह योनि अशुभ पदार्थों से रहित होती है। वे अशुचि से रहित निर्मल रूप से ही जन्म लेते हैं तथा देवता उनका जन्मोत्सव मनाते हैं। तीर्थंकर के जन्म के समय परिवेश शान्त रहता है, सुगन्धित वायु बहने लगती है, पक्षीगण कलरव करते हैं, उनके जन्म के साथ ही समस्त लोक में एक प्रकाश व्याप्त हो जाता है आदि। यह भी मान्यता है कि तीर्थंकरों के दीक्षा महोत्सव और कैवल्य महोत्सव का सम्पादन भी देवता करते हैं। उनके दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व देवता अपार धनराशि उनके कोषागार में डाल देते हैं और वे प्रतिदिन एक करोड़ बावन लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। सर्वज्ञता की प्राप्ति के पश्चात् देवता उनके लिए एक विशिष्ट समवसरण ( धर्मसभा-स्थल ) बनाते हैं, जिसमें बैठकर वे लोक-कल्याण हेतु धर्ममार्ग का प्रवर्तन करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अति प्राचीन जैन ग्रन्थों यथा—आचारांग के प्रथम श्रुत स्कन्ध में महावीर के जीवन के सम्बन्ध में किन्हीं अलौकिकताओं की चर्चा नहीं है। सूत्रकृतांग की वीर-स्तुति में भी मात्र उनको कुछ विशेषताओं का चित्रण है<sup>१</sup> किन्तु उन्हें अलौकिक नहीं बनाया गया है। किन्तु आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध<sup>२</sup> में और कल्पसूत्र<sup>३</sup> में महावीर एवं कुछ अन्य तीर्थंकरों के जन्मकल्याणक आदि की कुछ अलौकिकताओं के सम्बन्ध में सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। फिर परवर्ती आगम साहित्य तथा कथा साहित्य में तो तीर्थंकर को पूर्णतया लोकोत्तर व्यक्ति बना दिया गया है, जिसको हम क्रमशः चर्चा करेंगे।

१. सूत्रकृतांग १।६

२. देखें—आचारांग द्वितीय श्रुत स्कन्ध अध्ययन १५ में वर्णित महावीर चरित्र

३. देखें—कल्पसूत्र में वर्णित महावीर चरित्र

### (अ) तीर्थंकरों के पंचकल्याणक

तीर्थंकर और सामान्यकेवली में जैनपरम्परा जिस आधार पर अन्तर करती है, वह पंचकल्याणक की अवधारणा है। जहाँ तीर्थंकर के पंचकल्याणक महोत्सव होते हैं वहाँ सामान्यकेवली के पंचकल्याणक महोत्सव नहीं होते<sup>१</sup>। तीर्थंकरों के पंचकल्याणक निम्न हैं—

१. गर्भकल्याणक—तीर्थंकर जब भी माता के गर्भ में अवतरित होते हैं तब श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार माता १४ और दिगम्बर परंपरा के अनुसार १६ स्वप्न देखती है तथा देवता और मनुष्य मिलकर उनके गर्भावतरण का महोत्सव मनाते हैं।<sup>२</sup>

२. जन्मकल्याणक—जैन मान्यतानुसार जब तीर्थंकर का जन्म होता है, तब स्वर्ग के देव और इन्द्र पृथ्वी पर आकर तीर्थंकर का जन्मकल्याणक महोत्सव मनाते हैं और मेरु पर्वत पर ले जाकर वहाँ उनका जन्माभिषेक करते हैं।<sup>३</sup>

३. दीक्षाकल्याणक—तीर्थंकर के दीक्षाकाल के उपस्थित होने के पूर्व लोकान्तिक देव उनसे प्रव्रज्या लेने की प्रार्थना करते हैं। वे एक वर्ष तक करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। दीक्षा तिथि के दिन देवेन्द्र अपने देवमंडल के साथ आकर उनका अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाते हैं। वे विशेष पालकी में आरूढ़ होकर वनखण्ड की ओर जाते हैं जहाँ अपने वस्त्राभूषण का त्यागकर तथा पंचमूष्ठीलोच कर दीक्षित हो जाते हैं। नियम यह है कि तीर्थंकर स्वयं ही दीक्षित होता है किसी गुरु के समीप नहीं।<sup>४</sup>

४. कैवल्यकल्याणक—तीर्थंकर जब अपनी साधना द्वारा कैवल्य ज्ञान प्राप्त करते हैं उस समय भी स्वर्ग से इन्द्र और देवमंडल आकर

१. (अ) पंच महाकल्लाणा सब्बेसि जिणाण हवंति नियमेण ।

—पंचासक (हरिभद्र) ४२४

(ब) “जस्स कम्ममुदएण जीवो पंचमहाकल्लाणाणि पाविदूण तिथ्थ दुवालसंगं कुणदि तं तिथ्थयरणाम ।

—धवला १३।५, १०१।३६६।७

—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, टीका ३८१।६

२. कल्पसूत्र १५-७१

३. वही ९६; आचारांग २।१५।११, २।१५।२६-२९

४. वही ११०-११४; आचारांग २।१५।१-६

३८ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

कैवल्य महोत्सव मनाते हैं। उस समय देवता तीर्थंकर की धर्म सभा के लिए समवसरण की रचना करते हैं।<sup>१</sup>

५. निर्वाणकल्याणक—तीर्थंकर के परिनिर्वाण प्राप्त होने पर भी देवों द्वारा उनका दाह संस्कार कर परिनिर्वाणोत्सव मनाया जाता है।<sup>२</sup>

इस प्रकार जैनपरम्परा में तीर्थंकरों के उपर्युक्त पंचकल्याणक माने गये हैं।

### (ब) अतिशय

सामान्यतया जैनाचार्यों ने तीर्थंकरों के चार अतिशयों का उल्लेख किया है।<sup>३</sup>

१-ज्ञानातिशय

२-वचनातिशय

३-अपायापगमातिशय

४-पूजातिशय

१. ज्ञानातिशय—केवलज्ञान अथवा सर्वज्ञता की उपलब्धि ही तीर्थंकर का ज्ञानातिशय माना गया है। दूसरे शब्दों में तीर्थंकर सर्वज्ञ होता है वह सभी द्रव्यों की भूतकालिक, वर्तमानकालिक तथा भावी पर्यायों का ज्ञाता होता है। दूसरे शब्दों में वह त्रिकालज्ञ होता है। तीर्थंकर का अनन्तज्ञान से युक्त होना ही ज्ञानातिशय है।

२. वचनातिशय—अबाधित और अखण्डनीय सिद्धान्त का प्रतिपादन तीर्थंकर का वचनातिशय कहा गया है। प्रकारान्तर से इन वचनातिशय के ३५ उपविभाग किये गये हैं।

३. अपायापगमातिशय—समस्त मलों एवं दोषों से रहित होना अपायापगमातिशय है। तीर्थंकर को रागद्वेषादि १८ दोषों से रहित माना गया है।

४. पूजातिशय—देव और मनुष्यों द्वारा पूजित होना तीर्थंकर का पूजातिशय है। जैनपरम्परा के अनुसार तीर्थंकर को देवों एवं इन्द्रों द्वारा पूजनीय माना गया है।

१. देखे—आचारांग २।१।१४०-४२, कल्पसूत्र २११

२. कल्पसूत्र १२४

३. “अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् ॥”

—अन्ययोगव्यवच्छेदिका १ ( हेमचन्द्र )।

तीर्थकरों के अतिशयों को जैनाचार्यों ने निम्न तीन भागों में भी विभाजित किया है—

- क-सहज अतिशय
- ख-कर्मक्षयज अतिशय
- ग-देवकृत अतिशय

उक्त तीन अतिशयों के चौतीस उत्तरभेद किये गये हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में सहज अतिशय के चार, कर्मक्षयज अतिशय के ग्यारह और देवकृत अतिशय के उन्नीस भेद स्वीकार किये गये हैं।

#### (क) सहज अतिशय

- १-सुन्दर रूप, सुगन्धित, निरोग, पसीना एवं मलरहित शरीर।
- २-कमल के समान सुगन्धित श्वासोच्छ्वास।
- ३-गौ के दुग्ध के समान स्वच्छ, दुर्गन्ध रहित मांस और रुधिर।
- ४-चर्मचक्षुओं से आहार और नीहार का न दिखना।

#### (ख) कर्मक्षयज अतिशय

१. योजन मात्र समवसरण में क्रोडाक्रोडी मनुष्य, देव और तिर्यंचों का समा जाना।
२. एक योजन तक फैलने वाली भगवान् की अर्धमागधी वाणी को मनुष्य, तिर्यंच और देवताओं द्वारा अपनी-अपनी भाषा में समझ लेना।
३. सूर्य प्रभा से भी तेज सिर के पीछे प्रभामंडल का होना।
४. सौ योजन तक रोग का न रहना।
५. वैर का न रहना।
६. ईति अर्थात् धान्य आदि को नाश करने वाले चूहों आदि का अभाव।
७. महामारी आदि का न होना।
८. अतिवृष्टि न होना।
९. अनावृष्टि न होना।
१०. दुर्भिक्ष न पड़ना।
११. स्वचक्र और परचक्र का भय न होना।

#### (ग) देवकृत अतिशय

१. आकाश में धर्मचक्र का होना।
२. आकाश में चमरों का होना।
३. आकाश में पादपीठ सहित उज्ज्वल सिंहासन।
४. आकाश में तीन छत्र।

४० : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

५. आकाश में रत्नमय धर्मध्वज ।
६. सुवर्ण कमलों पर चलना ।
७. समवसरण में रत्न, सुवर्ण और चाँदी के तीन परकोटे ।
८. चतुर्मुख उपदेश ।
९. चैत्य वृक्ष ।
१०. कण्ठकों का अधोमुख होना ।
११. वृक्षों का झुकना ।
१२. दुन्दुभि बजना ।
१३. अनुकूल वायु ।
१४. पक्षियों का प्रदक्षिणा देना ।
१५. गन्धोदक की वृष्टि ।
१६. पाँच वर्णों के पुष्पों की वृष्टि ।
१७. नख और केशों का नहीं बढ़ना ।
१८. कम से कम एक कोटि देवों का पास में रहना ।
१९. ऋतुओं का अनुकूल होना ।

दिगम्बर परम्परानुसार १० सहज अतिशय, १० कर्मक्षयज अतिशय और १४ देवकृत अतिशय माने गये हैं ।

समवायांगसूत्र में बुद्ध ( तीर्थंकर ) के निम्न चौबीस अतिशय या विशिष्ट गुण माने गये हैं<sup>१</sup> । समवायांग के टीकाकार अभयदेव सूत्रि ने बुद्ध

१. चोत्तीसं बुद्धाइसेसा पण्णत्ता । तं जहा-अवट्टिए केस-मंसु-रोम-नहे १, निरामया निरुवलेवा गायलट्ठी २, गोक्खीरपंडुरे मंससोणिए ३, पउमुप्पलंगंधिए उस्सासनिस्सासे ४, पच्छन्ने आहार-नीहारे अदिस्से मंसचक्खुणा ५, आगासगयं चक्कं ६, आगासगयं छत्तं ७, आगासगयाओ सेयवरचामराओ ८, आगासफालिआमयं सपायपीठं सीहासणं ९, आगासगओ कुड्डीसहस्सपरिमंडिआभिराओ इंदज्जओ पुरओ गच्छइ १०, जत्थ जत्थ वि य णं अरहंता भगवंतो चिट्ठंति वा निसीयंति वा तत्थ तत्थ वि य णं जक्खा देवा संछन्नपत्त-पुप्फ-पल्लवसमाउलो सच्छत्तो सज्जओ सघंटो सपडागो असोणवरपायवो अभिसंजायइ ११, ईसिं पिट्ठओ मउडठाणंमि तेयमंडलं अभिसंजाइ, अंधकारे वि य णं दस दिसाओ पभासेइ १२, बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे १३, अहोसिरा कंटया भवति १४, उउविवरीया सुहफासा भवति १५, सीयलेणं सुहफासेणं सुरभिणा माहएणं जोयणपरिमंडलं सव्वओ समंतासंपमज्जिज्जइ १६, जुत्तफुसिएणं मेहेण य निहयरयरेणूयं किज्जइ-१७, जल-थलयभासुरपभूतेणं विट्ठाइणा

शब्द का अर्थ तीर्थंकर किया है।<sup>१</sup> समवायांग की इस सूची में पूर्वोक्त विविध वर्गीकरणों के उप-प्रकार समाहित हैं।

१. तीर्थंकरों के सिर के बाल, दाढ़ी तथा मूँछ एवं रोम और नख बढ़ते नहीं हैं, हमेशा एक ही स्थिति में रहते हैं।
२. उनका शरीर हमेशा रोग तथा मल से रहित होता है।
३. उनका मांस तथा खून गाय के दूध के समान श्वेत वर्ण का होता है।
४. उनका श्वासोच्छ्वास कमल के समान सुगन्धित होता है।
५. उनका आहार और नोहार (मूत्रपुरीषोत्सर्ग) दृष्टिगोचर नहीं होता।
६. वे धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते हैं।
७. उनके ऊपर तीन छत्र लटकते रहते हैं।
८. उनके दोनों ओर चामर लटकते हैं।

दसद्ववण्णेणं कुसुमेणं जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते पुप्फोवयारे किज्जइ १८, अमणुष्णाणं सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधाणं अवकरिसो भवइ १९, मणुष्णाणं सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधाणं पाउब्भावो भवइ २०, पच्चाहरओ वि य णं हिययग-मणीओ जोयणनीहारी सरो २१, भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्म-माइक्खइ २२, सा वि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसि सर्व्वेसि आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पअ-मिय-पसु-पक्खि-सरीसिवाणं अप्पणो हिय-सिव-सुहय-भासत्ताए परिणमइ २३, पुव्वबद्धवेरा वि य णं देवासुर-नाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किंनर-किपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगा अरहओ पायमूले पसंत-चित्तमाणसा धम्मं निसामंति २४, अण्णउत्थियपावयणिया वि य णं आगया वंदंति २५, आगया समाणा अरहओ पायमूले निप्पलिवयणा हवंति २६, जओ जओ वि य णं अरहंतो भगवंतो विहरंति तओ तओ वि य णं जोयण-पणवीसाएणं ईती न भवइ २७, मारी न भवइ २८, सचक्कं न भवइ २९, परचक्कं न भवइ ३०, अइवुट्ठी न भवइ ३१, अणावुट्ठी न भवइ ३२, दुब्भिक्खं न भवइ ३३, पुव्वुप्पणा वि य णं उप्पाइया वाहीओ खिप्पमेव उवसंमति ३४।

—समवायांग सूत्र ( सं. मधुकर मुनि ) समवाय ३४

१. समवायांग टीका अभयदेव सूरि, पृ० ३५

९. स्फटिकमणि के बने हुए पादपीठ सहित उनका स्वच्छ सिंहासन होता है ।
१०. उनके आगे हमेशा अनेक लघुपताकाओं से वेष्टित एक इन्द्रध्वज पताका चलती है ।
११. जहाँ-जहाँ अरिहन्त भगवान् ठहरते हैं अथवा बैठते हैं वहाँ-वहाँ यक्ष-देव सद्यत्र, सघट, सपताक तथा पत्र-पुष्पों से व्याप्त अशोक वृक्ष का निर्माण करते हैं ।
१२. उनके मस्तक के पीछे दशों दिशाओं को प्रकाशित करने वाला तेज-प्रभामंडल होता है ।  
साथ ही जहाँ भगवान् का गमन होता है, वहाँ निम्नलिखित परिवर्तन हो जाते हैं—
१३. भूमिभाग समान तथा सुन्दर हो जाता है ।
१४. कण्ठक अधोमुख हो जाते हैं ।
१५. ऋतुएँ सुखस्पर्श वाली हो जाती हैं ।
१६. समवर्तक वायु के द्वारा एक योजन तक के क्षेत्र की शुद्धि हो जाती है ।
१७. मेघ द्वारा उपचित बिन्दुपात से रज और रेणु का नाश हो जाता है ।
१८. पंचवर्णवाला सुन्दर पुष्प-समुदाय प्रकट हो जाता है ।
१९. (अ) भगवान् के आसपास का परिवेश अनेक प्रकार की धूप के धुँए से सुगन्धित हो जाता है ।  
(ब) अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का अभाव हो जाता है ।
२०. (अ) भगवान् के दोनों ओर आभूषणों से सुसज्जित यक्ष चमर डुलाते हैं ।  
(ब) मनोज्ञ शब्दादि का प्रादुर्भाव हो जाता है ।
२१. उपदेश करने के लिए अरिहन्त भगवान् के मुख से एक योजन को उल्लंघन करने वाला हृदयंगम स्वर निकलता है ।
२२. भगवान् का भाषण अर्द्धभागधी भाषा में होता है ।
२३. भगवान् द्वारा प्रयुक्त भाषा, आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद आदि समस्त प्राणिवर्ग की भाषा के रूप में परिवर्तित हो जाती है ।
२४. बद्ध-वैर वाले देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, गंधर्व आदि भगवान् के पादमूल में प्रशान्तचित्त होकर धर्म-श्रवण करते हैं ।
२५. अन्य तीर्थ वाले प्रावचनिक ( विद्वान् ) भी भगवान् को नमस्कार करते हैं ।

२६. अन्य तीर्थवाले विद्वान् भगवान् के पादमूल में आकर निरुत्तर हो जाते हैं ।

साथ ही जहाँ भगवान् का विहार होता है, वहाँ पच्चीस योजन तक निम्न बातें नहीं होतीं—

२७. ईति अर्थात् धान्य को नष्ट करने वाले चूहे आदि प्राणियों की उत्पत्ति नहीं होती ।

२८. महामारी ( संक्रामक बीमारी ) नहीं होती ।

२९. अपनी सेना उपद्रव नहीं करती ।

३०. दूसरे राजा की सेना उपद्रव नहीं करती ।

३१. अतिवृष्टि नहीं होती ।

३२. अनावृष्टि नहीं होती ।

३३. दुर्भिक्ष नहीं होता ।

३४. भगवान् के विहार से पूर्व उत्पन्न हुई व्याधियाँ भी शीघ्र ही शान्त हो जाती हैं और रुधिर वृष्टि तथा ज्वरादि का प्रकोप नहीं होता ।

### (स) वचनातिशय

जैन आगमों में पैंतीस वचनातिशयों के उल्लेख मिलते हैं<sup>१</sup>। संस्कृत टीकाकारों ने प्रकारान्तर से ग्रन्थों में प्रतिपादित वचन के पैंतीस गुणों का उल्लेख किया है । यही पैंतीस वचनातिशय कहलाते हैं जो निम्न हैं—

१. संस्कारत्व :-वचनों का व्याकरण-सम्मत होना ।
२. उदात्तत्व :-उच्च स्वर से परिपूर्ण होना ।
३. उपचारोपेतत्व :-ग्रामीणता से रहित होना ।
४. गम्भीरशब्दत्व :-मेघ के समान गम्भीर शब्दों से युक्त होना ।
५. अनुनादित्व :-प्रत्येक शब्द का यथार्थ उच्चारण से युक्त होना ।
६. दक्षिणत्व :-वचनों का सरलता से युक्त होना ।
७. उपनीतरागत्व :-यथोचित् राग-रागिणी से युक्त होना ।

उपरोक्त अतिशय शब्द-सौन्दर्य की अपेक्षा से जाने जाते हैं एवं शेष अतिशय अर्थ-गौरव की अपेक्षा से जाने जाते हैं ।

८. महार्थत्व :-वचनों का महान् अर्थ होना ।
९. अव्याहृतपौर्वापर्यत्व :-पूर्वापर अविरोधी वाक्य वाला होना ।
१०. शिष्टत्व :-वक्ता की शिष्टता का सूचक होना ।

१. पणीतीसं सच्चवयणाइसेसां पण्णत्ता -समवायांग सूत्र, समवाय ३५ ।



४४ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक मध्ययन

११. असन्दिग्धत्व :-सन्देह-रहित निश्चित अर्थ का प्रतिपादक होना ।
१२. अपहृतान्योत्तरत्व :-अन्य पुरुषों के दोषों को दूर करने वाला होना ।
१३. हृदयग्राहित्व :-श्रोताओं के हृदय को आकृष्ट करने वाले वचन वाला होना ।
१४. देश कालाव्ययीतत्व :-देश-काल के अनुकूल वचन होना ।
१५. तत्वानुरूपत्व :-विवक्षित वस्तु स्वरूप के अनुरूप वचन होना ।
१६. अप्रकीर्ण प्रसृतत्व :-निरर्थक विस्तार से रहित सुसम्बद्ध वचन होना ।
१७. अन्योन्य प्रगृहीत :-परस्पर अपेक्षा रखने वाले पदों एवं वाक्यों से युक्त होना ।
१८. अभिजातत्व :-वक्ता को कुलीनता और शालीनता के सूचक होना ।
१९. अतिस्निग्ध मधुरत्व :-अत्यन्त स्नेह एवं मधुरता से युक्त होना ।
२०. अपरमर्मवेधित्व :-मर्मवेधी न होना ।
२१. अर्थधर्माभ्यासानपेतत्व :-अर्थ और धर्म के अनुकूल होना ।
२२. उदारत्व :-नुच्छता-रहित और उदारता-युक्त होना ।
२३. परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तत्व :-पराई निन्दा और अपनी प्रशंसा से रहित होना ।
२४. उपगतश्लाघत्व :-जिन्हें सुनकर लोग प्रशंसा करें, ऐसे वचन होना ।
२५. अनपनीतत्व :-काल, कारक, लिंग-व्यत्यय आदि व्याकरण के दोषों से रहित होना ।
२६. उत्पादिताच्छिन्न कौतूहलत्व :-अपने विषय में श्रोताजनों को लगा-तार कौतूहल उत्पन्न करने वाला होना ।
२७. अद्भुतत्व :-आश्चर्यजनक अद्भुत नवीनता प्रदर्शक वचन होना ।
२८. अनतिविलम्बित्व :-अतिविलम्ब से रहित धाराप्रवाह से बोलना ।
२९. विभ्रम, विक्षेप किलिकिञ्चितादि विमुक्तत्व :-मन की भ्रान्ति, विक्षेप और रोष, भयादि से रहित वचन होना ।
३०. अनेक जातिसंश्रयाद्विचित्रत्व :-अनेक प्रकार से वर्णनीय वस्तु स्वरूप के वर्णन करनेवाले वचन होना ।
३१. आहितविशेषत्व :-सामान्य वचनों से कुछ विशेषतायुक्त वचन होना ।
३२. साकारत्व :-पृथक् पृथक् वर्ण, पद, वाक्य के आकार से युक्त वचन होना ।
३३. सत्वपरिगृहीतत्व :-साहस से परिपूर्ण वचन होना ।
३४. अपरिखेदित्व :-खेद-खिन्नता से रहित वचन होना ।
३५. अव्युच्छेदित्व :-विवक्षित अर्थ की सम्यक् सिद्धि वाले वचन होना ।

## ८. तीर्थंकर—निर्दोष व्यक्तित्व

जैन परम्परा में तीर्थंकर को निम्न १८ दोषों से रहित माना गया है<sup>१</sup>—१-दानान्तराय, २-लाभान्तराय, ३-वीर्यान्तराय, ४-भोगान्तराय, ५-उपभोगान्तराय, ६-मिथ्यात्व, ७-अज्ञान, ८-अविरति, ९-कामेच्छा, १०-हास्य, ११-रति, १२-अरति, १३-शोक, १४-भय, १५-जुगुप्सा, १६-राग, १७-द्वेष और १८-निद्रा।

श्वेताम्बर परम्परा में प्रकारान्तर से उन्हें निम्न १८ दोषों से भी रहित कहा गया है।<sup>२</sup>—

१. हिंसा, २. मृषावाद, ३. चोरी, ४. कामक्रीड़ा, ५. हास्य, ६. रति, ७. अरति, ८. शोक, ९. भय, १०. क्रोध, ११. मान, १२. माया, १३. लोभ, १४. मद, १५. मत्सर, १६. अज्ञान, १७. निद्रा और १८. प्रेम।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ नियमसार में तीर्थंकर को निम्न १८ दोषों से रहित कहा गया है।<sup>३</sup>

१. क्षुधा, २. तृषा, ३. भय, ४. रोष (क्रोध), ५. राग, ६. मोह, ७. चिन्ता, ८. जरा, ९. रोग, १०. मृत्यु, ११. स्वेद, १२. खेद, १३. मद, १४. रति, १५. विस्मय, १६. निद्रा, १७. जन्म, १८. उद्वेग (अरति)।

श्वेताम्बर और दिगम्बर पराम्पराओं में तीर्थंकरों को जिन दोषों से रहित माना गया है उसमें मूलभूत अन्तर यह है कि जहाँ दिगम्बर परम्परा तीर्थंकर में क्षुधा और तृषा का अभाव मानती है वहाँ श्वेताम्बर परम्परा तीर्थंकर में इनका अभाव नहीं मानती है। क्योंकि श्वेताम्बर परम्परा में केवलो का कवलाहार ( भोजन-ग्रहण) माना गया है जबकि

१. पंचेव अंतराया, मिच्छन्तमनाणामविरई कामो।

हासल्लग रागदोसा, निद्दाऽट्ठारस इमे दोसा ॥ १९२ ॥

—राजेन्द्र अभिधानकोश, पृ० २२४८

२. “हिंसाऽऽतिगं कीला, हासाऽऽपंचगं च चउकसाया।

मयमच्छर अन्नाणा, निद्दा पिम्मं इअ व दोसा ॥ १९३ ॥

—राजेन्द्र अभिधानकोश, पृ० २२४८

३. “छुहत्ण्हीरुरोसो रागो, मोहो चित्ताजरा रुजामिच्चू।

स्वेदं खेदं मदो रइ विण्हियाणिद्दाजणुव्वेगो।”

—नियमसार, ६

दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती, उनके अनुसार केवली भोजन ग्रहण नहीं करता है। शेष बातों में दोनों में समानता है।

### ९. तीर्थंकर बनने की योग्यता

तीर्थंकर पद की प्राप्ति के लिए जीव को पूर्व जन्मों में विशिष्ट साधना करनी होती है। जैनधर्म में इस हेतु जिन विशिष्ट साधनाओं को आवश्यक माना गया है उनकी संख्या को लेकर जैनधर्म के सम्प्रदायों में मतभेद है। तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के आधार दिगम्बर सम्प्रदाय तीर्थंकर नामकर्म उपाजन हेतु निम्न सोलह बातों की साधना को आवश्यक मानता है<sup>१</sup>—

१. दर्शन विशुद्धि :—बोतराग कथित तत्त्वों में निर्मल और वृद्ध रुचि।
२. विनयसम्पन्नता :—मोक्षमार्ग और उसके साधकों के प्रति समुचित आदरभाव।
३. शीलव्रतानतिचार :—अहिंसा, सत्यादि मूलव्रत तथा उनके पालन में उपयोगी अभिग्रह आदि दूसरे नियमों का प्रमाद रहित होकर पालन करना।
४. अभीक्षणज्ञानोपयोग :—तत्त्वविषयक ज्ञान प्राप्ति से सदैव प्रयत्नशील रहना।
५. अभीक्षण संवेग :—सांसारिक भोगों से जो वास्तव में सुख के स्थान पर दुःख के ही साधन बनते हैं, डरते रहना।
६. यथाशक्ति का त्याग :—अपनी शक्त्यानुरूप आहारदान, अभयदान, ज्ञानदान आदि विवेकपूर्वक करते रहना।
७. यथाशक्ति तप :—शक्त्यानुरूप विवेकपूर्वक तप साधना करना।
८. संघ साधु समाधिकरण :—चतुर्विधसंघ और विशेषकर साधुओं को समाधि—सुख पहुँचाना अर्थात् ऐसा व्यवहार करना, जिससे उन्हें मानसिक एवं शारीरिक पीड़ा न पहुँचे।
९. वैयाकृत्यकरण :—गुणीजनों अथवा ऐसे लोगों, जिन्हें सहायता की अपेक्षा है, की सेवा करना।
- १०-१३. चतुःभक्ति :—अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत और शास्त्र इन चारों में शुद्ध निष्ठापूर्वक अनुराग रखना।
१४. आवश्यकपरिहाण :—सामायिक आदि षडावश्यकों के अनुष्ठान सदैव करते रहना।

१. तत्त्वार्थसूत्र, ६-२३, पृ० १६२

१५. मोक्षमार्ग प्रभावना :—अभिमान को त्यागकर मोक्षमार्ग की साधना करना तथा दूसरों को उस मार्ग का उपदेश देना ।

१६. प्रवचनवात्सल्य :—जैसे गाय बछड़े पर स्नेह रखती है, वैसे ही सह-धर्मियों पर निष्काम स्नेह रखना ।

श्वेताम्बर परम्परा में ज्ञाताधर्मकथा के आधार पर तीर्थंकर नामकर्म के उपार्जन हेतु निम्न (२०) बीस साधनाओं को आवश्यक माना गया है<sup>१</sup>—

१-७. अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत एवं तपस्वी इन सातों के प्रति वात्सल्य-भाव रखना ।

८. अनवरत ज्ञानाभ्यास करना ।

९. जीवादि पदार्थों के प्रति यथार्थ श्रद्धारूप शुद्ध सम्यक्त्व का होना ।

१०. गुरुजनों का आदर करना ।

११. प्रायश्चित्त एवं प्रतिक्रमण द्वारा अपने अपराधों की क्षमायाचना करना ।

१२. अहिंसादि व्रतों का अतिचार रहित योग्य रीति से पालन करना ।

१३. पापों की उपेक्षा करते हुए वैराग्यभाव धारण करना ।

१४. बाह्य एवं आभ्यन्तर तप करना ।

१५. यथाशक्ति त्यागवृत्ति को अपनाना ।

१६. साधुजनों की सेवा करना ।

१७. समता भाव रखना ।

१८. ज्ञान-शक्ति को निरन्तर बढ़ाते रहना ।

१९. आगमों में श्रद्धा करना ।

२०. जिन प्रवचन का प्रकाश रखना ।

### १०. तीर्थंकरों से सम्बन्धित विवरण का विकास

तीर्थंकरों की संख्या एवं उनके जीवनवृत्त आदि को लेकर सामान्य-तया जैनसाहित्य में बहुत कुछ लिखा गया किन्तु यदि हम ग्रन्थों पर काल-क्रम की दृष्टि से विचार करें तो प्राचीनतम जैन आगम आचारांग में महावीर के संक्षिप्त जीवनवृत्त को छोड़कर हमें अन्य तीर्थंकरों के संदर्भ में कोई जानकारी नहीं मिलती । यद्यपि आचारांग सामान्यरूप से भूतकालिक, वर्तमानकालिक और भविष्यकालिक अरहंतों का बिना किसी नाम के निर्देश अवश्य करता है । रचनाकाल को दृष्टि से इसके पश्चात् कल्पसूत्र का क्रम आता है उसमें महावीर के जीवनवृत्त के साथ-साथ पार्श्व, अरिष्ट-

१. ज्ञाताधर्मकथा, १।८।१८

नेमि और ऋषभदेव के सम्बन्ध में भी किञ्चित् विवरण मिलता है, शेष तीर्थंकरों का केवल नामनिर्देश ही है। इसके पश्चात् तीर्थंकरों के सम्बन्ध में जानकारी देने वाले ग्रन्थों में समवायांग और आवश्यकनियुक्ति का काल आता है। समवायांग और आवश्यकनियुक्ति संक्षिप्त शैली में ही सही, किन्तु वर्तमान, भूतकालिक और भविष्यकालिक तीर्थंकरों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्रदान करते हैं। दिगम्बरपरम्परा में ऐसा ही विवरण यतिवृषभ की तिलोयपण्णति में मिलता है। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ऋषभ के सम्बन्ध में और ज्ञाताधर्मकथा मल्लिक के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं। तिलोयपण्णतिके बाद दिगम्बर परम्परा में पुराणों का क्रम आता है। पुराणों में तीर्थंकरों के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विपुल सामग्री उपलब्ध है। श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांग, समवायांग, कल्पसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, आवश्यकनियुक्ति, विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यकचूर्णि, चउपन्नमहापुरिसचरियं एवं त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र और कल्पसूत्र पर लिखी गई परवर्ती टीकाएँ तीर्थंकरों का विवरण देने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

### समवायांग में उपलब्ध विवरण

ऐसा लगता है कि तीर्थंकर सम्बन्धी विवरणों में समय-समय पर वृद्धि होती रहो है। हमारी जानकारी में २४ तीर्थंकरों की अवधारणा और तत्सम्बन्धी विवरण सर्वप्रथम श्वेताम्बर परम्परा में समवायांग और विमलसूरि के पउमचरियं में प्राप्त होता है। यद्यपि स्थानांग एवं समवायांग की गणना अंग आगमों में की जाती है, किन्तु समवायांग में २४ तीर्थंकरों सम्बन्धी जो विवरण है वह उसके परिशिष्ट के रूप में है और ऐसा लगता है कि बाद में जोड़ा गया है। इस प्रकीर्णक समवाय में तीर्थंकरों के पिता, उनकी माता, उनके पूर्वभव, उनकी शिविकाओं के नाम, उनके जन्म एवं दीक्षा नगर का उल्लेख मिलता है। मान्यता यह है कि ऋषभ और अरिष्टनेमि को छोड़कर सभी तीर्थंकरों ने अपनी जन्मभूमि में दीक्षा ग्रहण की थी। सभी तीर्थंकर एक देवदुष्य वस्त्र लेकर दीक्षित हुए। इसके साथ-साथ प्रत्येक तीर्थंकर ने कितने व्यक्तियों को साथ लेकर दीक्षा ली, इसका भी उल्लेख इसमें मिलता है। इसी क्रम में समवायांग में दीक्षा लेते समय के व्रत, प्रथम भिक्षादाता, प्रथम भिक्षा कब मिली इसका भी उल्लेख है। इसमें तीर्थंकरों के प्रथम शिष्य और शिष्याओं का भी उल्लेख है। समवायांग में सर्वप्रथम २४ तीर्थंकरों के चैत्यवृक्षों का भी उल्लेख हुआ है।

## भगवती

अंग आगमों के क्रम की दृष्टि से समवायांग के पश्चात् भगवतीसूत्र का क्रम आता है, यद्यपि स्मरण रखना होगा कि विद्वानों द्वारा रचनाकाल की दृष्टि से भगवती को समवायांग की अपेक्षा पूर्ववर्ती माना गया है। भगवतीसूत्र भगवान् महावीर के सम्बन्ध में समवायांग की अपेक्षा अधिक जानकारो प्रस्तुत करता है। इसमें देवानन्दा को महावीर की माता कहा गया है। महावीर और गोशालक के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर इसमें विस्तार के साथ चर्चा हुई है तथापि विद्वानों ने इस अंश को परवर्ती और प्रक्षिप्त माना है। भगवती में महावीर और जामालि के विवाद को भी स्पष्ट किया गया है, फिर भी इसमें महावीर के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों के सम्बन्ध में नामों के उल्लेख के अतिरिक्त हमें विस्तार से कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। महावीर से पार्श्वपत्यों (पार्श्व के अनुयायियों) के मिलने एवं चर्चा करने का उल्लेख तो इसमें है किन्तु पार्श्व के जीवनवृत्त का भी अभाव ही है। इससे निश्चित ही ऐसा लगता है कि समवायांग के तीर्थंकर सम्बन्धी विवरण भगवती की अपेक्षा परवर्ती काल के हैं।

## ज्ञाताधर्मकथा

ज्ञाताधर्मकथा यद्यपि अन्य तीर्थंकरों के सम्बन्ध में तो विशेष सूचनाएँ नहीं देता है, किन्तु १०वें तीर्थंकर मल्लि के सम्बन्ध में इसमें विस्तार से विवरण उपलब्ध है। सम्भवतः इतना विस्तृत विवरण अन्य किसी तीर्थंकर के सम्बन्ध में अंग आगमों में उपलब्ध नहीं है। विद्वानों ने ज्ञाताधर्मकथा के इस मल्लि नामक अध्याय को अपेक्षाकृत परवर्ती काल का माना है। इसमें मल्लि को स्त्री-तीर्थंकर मानकर श्वेताम्बर परम्परा की स्त्री-मुक्ति की अवधारणा को पुष्ट किया गया है। इसी आधार पर कुछ दिग्म्बर विद्वान् इसे श्वेताम्बर-दिग्म्बर परम्परा के विभाजन के पश्चात् का मानते हैं। इसके मल्लि नामक अध्याय में ही तीर्थंकर-नाम-गोत्र-कर्म उपार्जन की साधना विधि का उल्लेख है। मल्लि सम्बन्धी यह विवरण निश्चित ही समवायांग के समकालीन या अपेक्षाकृत कुछ परवर्ती है।

## अन्य अंग आगम

जहाँ तक उपासकदशा का प्रश्न है इसमें महावीर के काल के १० श्रावकों का विवरण है, इसी प्रसंग में महावीर के कुछ उपदेश भी इसमें उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु इसमें २४ तीर्थंकरों की अवधारणा का स्पष्ट

रूप से कोई संकेत नहीं है। इसी प्रकार अंतकृद्दशा में यद्यपि महावीर और अरिष्टनेमि के काल के कुछ साधकों के विवरण मिलते हैं। किन्तु इसमें अरिष्टनेमि और कृष्ण सम्बन्धी जो विवरण दिए गये हैं, वे लगभग ५वीं शताब्दी के पश्चात् के ही हैं, क्योंकि अंतकृद्दशा की प्राचीन विषय-वस्तु, जिसका विवरण स्थानांग में है, कृष्ण से सम्बन्धित किसी विवरण का कोई संकेत नहीं देती है। प्रश्नव्याकरण की वर्तमान विषयवस्तु लग-भग ७वीं शताब्दी के आसपास की है। यद्यपि इसमें तीर्थंकरों के प्रवचन आदि का उल्लेख है, किन्तु स्पष्ट रूप से तीर्थंकरों के सम्बन्ध में कोई भी विवरण प्रस्तुत नहीं करता है। यही स्थिति औपपातिक और विपाकसूत्र की भी है।

### उपांग आगम साहित्य

उपांग साहित्य में राजप्रश्नीयसूत्र में पार्श्वपत्य केशी का उल्लेख है, किन्तु इसमें २४ तीर्थंकरों की अवधारणा को लेकर विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। तीर्थंकरों के जीवनवृत्त की दृष्टि से उपांग साहित्य के जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को महत्वपूर्ण माना जा सकता है, क्योंकि इसमें अव-सर्पिणी और उत्सर्पिणी के कालचक्र का विवेचन करते हुए, उसमें होने वाले तीर्थंकरों का उल्लेख किया गया है। इसमें द्वितीय और तृतीय वक्षस्कार अर्थात् अध्याय में क्रमशः ऋषभदेव एवं भरत के जीवनवृत्त का भी विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसमें ऋषभ के एक वर्ष तक चीवरधारो और बाद में नग्न होने की बात कही गई है।

उपांग साहित्य के 'वृष्णीदशा' में कृष्ण के परिजनों से सम्बन्धित उल्लेख हैं। किन्तु तीर्थंकर की अवधारणा और तीर्थंकरों के जीवनवृत्तों का इसमें भी अभाव है।

### मूल आगम ग्रन्थ

मूलसूत्रों में उत्तराध्ययन अपेक्षाकृत प्राचीन माना जाता है, इसमें केवल पार्श्व, महावीर, अरिष्टनेमि और नमि के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि इन उल्लेखों में उनके जीवनवृत्तों की अपेक्षा उनके उपदेशों और मान्यताओं पर ही अधिक बल दिया गया है, तथापि इतना निश्चित है कि उत्तराध्ययन के ये उल्लेख समवायांग की अपेक्षा प्राचीन हैं। उत्तराध्ययन के २२ वें और २३ वें अध्याय में क्रमशः अरिष्टनेमि और पार्श्व के सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध होती है। उत्तराध्ययन का २२वां रथनेमि नामक अध्याय यद्यपि मूलतः रथनेमि और राजीमती (राजुल) के

घटना-प्रसंग को लेकर लिखा गया है। किन्तु इस अध्याय में अरिष्टनेमि के विवाह-प्रसंग का भी उल्लेख है। २३वें अध्याय में मुख्य रूप से तीर्थंकर पार्श्व और महावीर की आचार सम्बन्धी विभिन्नताओं के उल्लेख मिलते हैं। किंतु उत्तराध्ययन में किसी तीर्थंकर का जीवनवृत्त नहीं दिया गया है। दशवैकालिक, अनुयोगद्वार और नन्दी में भी तीर्थंकरों के जीवनवृत्त नहीं हैं।

### कल्पसूत्र

तीर्थंकरों के जीवनवृत्त को सूचित करने वाले आगमिक ग्रन्थों में कल्प-सूत्र महत्त्वपूर्ण है। कल्पसूत्र अपने आप में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। यह दशाश्रुतस्कन्ध नामक छेदसूत्र का अष्टम अध्याय ही है। किन्तु इसके जिनचरित्र नामक खंड में महावीर के साथ-साथ पार्श्व, अरिष्टनेमि और ऋषभ के जीवनवृत्तों का भी संक्षिप्त विवरण मिलता है। अरिष्टनेमि से लेकर ऋषभ तक के बीच के तीर्थंकरों के नाम एवं उनके बीच की कालावधि का भी इसमें उल्लेख है।

### निर्युक्ति एवं भाष्य

श्वेताम्बर परम्परा के इन आगमिक ग्रन्थों के अतिरिक्त आवश्यक-निर्युक्ति एवं विशेषावश्यकभाष्य में भी तीर्थंकरों के सम्बन्ध में और उनके माता, पिता आदि के बारे में सूचनाएँ मिलती हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति में तीर्थंकरों के पूर्वभव का भी सांकेतिक उल्लेख हुआ है। आवश्यकनिर्युक्ति तीर्थंकरों की जन्म तिथि का भी निर्देश करती है। इसमें तीर्थंकरों के वर्षादान का उल्लेख है साथ ही यह भी बताया गया है कि किस तीर्थंकर ने कौमार्य अवस्था में दीक्षा ली और किसने बाद में। इसमें तीर्थंकरों के निर्वाण तप तथा निर्वाण तिथियों का भी उल्लेख मिलता है। तीर्थंकरों के शरीर की ऊँचाई आदि का उल्लेख स्थानांग एवं समवायांग में भी उपलब्ध है, किन्तु वह एकीकृत रूप में न होकर बिखरा हुआ है जब कि आवश्यकनिर्युक्ति में उसे एकीकृत रूप से प्रस्तुत किया गया है। यथा—आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार सभी तीर्थंकर स्वयं ही बोध प्राप्त करते हैं, लोकान्तिक देव तो उन्हें व्यवहार के कारण प्रतिबोधित करते हैं, सभी तीर्थंकर एक वर्ष तक दान देकर प्रव्रजित होते हैं। महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य को छोड़ अन्य सभी तीर्थंकरों ने राज्यलक्ष्मी का भोग करने के पश्चात् ही दीक्षा ली थी, जबकि अवशिष्ट पांच कौमार्य अवस्था में दीक्षित हुए थे। शान्ति, कुंथु और अर ये तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती थे शेष सामान्य राजा। महावीर अकेले,



पार्श्व और मल्लि ३०० व्यक्तियों, वासुपूज्य-६०० व्यक्तियों, ऋषभ-४००० व्यक्तियों एवं शेष सभी १००० व्यक्तियों के साथ दीक्षित हुए थे। सुमति ने बिना किसी व्रत के साथ दीक्षा ग्रहण की, वासुपूज्य ने उपवास के साथ दीक्षा ग्रहण की, पार्श्व और मल्लि ने ३ उपवास के साथ दीक्षा ली और शेष सभी ने २ दिन के उपवास के साथ दीक्षा ली। ऋषभ वनिता से, अरिष्टनेमि द्वारका से और अन्य अपनी-अपनी जन्मभूमि में दीक्षित हुए थे। ऋषभ ने सिद्धार्थवन में, वासुपूज्य ने विहारगृह (वन) में, धर्मनाथ ने वप्पग्राम में, मुनि सुमति ने नीलगुफा में, पार्श्व ने आम्रवन में, महावीर ने ज्ञातृवन में तथा शेष सभी तीर्थंकरों ने सहस्रआम्रवन में दीक्षा ग्रहण की। पार्श्व, अरिष्टनेमि, श्रेयांस, सुमति और मल्लि पूर्वाह्ने में दीक्षित हुए। ऋषभ, नेमि, पार्श्व और महावीर ने अनार्य भूमि में भी विहार किया, शेष सभी ने मगध, राजगृह आदि आर्य-भूमि में ही विहार किया।

प्रथम तीर्थंकर को १२ अंग और शेष को ११ अंग का श्रुतलाभ रहा। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर ने पंचयाम का और शेष ने चातुर्याम का उपदेश दिया। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर में सामायिक और छेदोस्थापनीय ऐसे दो चारित्र्यों का विकल्प होता है जबकि शेष में सामायिक चारित्र ही होता है। इसमें २४ तीर्थंकरों के केवलज्ञान की तिथियों, नक्षत्रों एवं स्थलों को भी दिया गया है। २३ तीर्थंकरों को पूर्वाह्ने में और महावीर को अपराह्ने में ज्ञान प्राप्त हुआ। ऋषभ को पुरिमताल में, महावीर को ऋजुपालिका नदी के किनारे और शेष ने जिस उद्यान में दीक्षा ली, उसी में केवल ज्ञान प्राप्त किया। पार्श्व, मल्लि और अरिष्टनेमि को तीन उपवास की तपस्या में, वासुपूज्य को एक उपवास में और शेष तीर्थंकरों को दो उपवास में ज्ञान प्राप्त हुआ। महावीर ने दूसरे समवसरण में तीर्थ की स्थापना की, जबकि शेष तीर्थंकरों ने प्रथम समवसरण में तीर्थ की स्थापना की। २४ तीर्थंकरों में से २३ तीर्थंकरों के, जितने गण थे उतने ही गणधर भी थे, परन्तु महावीर के गणों की संख्या ९ एवं गणधरों की संख्या ११ थी। इसके अतिरिक्त आवश्यकनिर्युक्ति में २४ तीर्थंकरों के माता-पिता के नाम, जन्मभूमि, वर्ण, प्रथम शिक्षा दाता, प्रथम भिक्षा स्थल, छद्मस्थ काल, श्रावक संख्या, कुमार काल, शरीर की ऊँचाई, एवं आयु प्रमाण आदि का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है। आवश्यकचूर्ण में निर्युक्ति विवरणों के अतिरिक्त महावीर और ऋषभ का जीवनवृत्त भी विस्तार से वर्णित है।

### आगमेतर कथा साहित्य

श्वेताम्बर परम्परा में २४ तीर्थंकरों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी

प्रदान करने वाले आगमेतर ग्रन्थों में वसुदेवहिण्डी, विमलसूरि का पउम-चरियं, शीलांक का चउप्पन्नमहापुरिसचरियं और हेमचन्द्र का त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र उल्लेखनीय है। इनमें वसुदेवहिण्डी और पउमचरियं का मुख्य विषय तीर्थकर चरित्र नहीं है।

श्वेताम्बर परम्परा में तीर्थकरों के जीवनवृत्त का विस्तृत विवेचन करने वाले ग्रन्थों में चउप्पन्नमहापुरिसचरियं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शीलांक की यह कृति लगभग ईसा की नवीं शताब्दी में लिखी गई है। सम्भवतः श्वे० जैन परम्परा में तीर्थकरों का विस्तृत विवरण देने वाला यह प्रथम ग्रन्थ है। यद्यपि इसमें भी मुख्य रूप से तो ऋषभ, शान्ति, मल्लि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर के कथानक विस्तार से वर्णित हैं, शेष तीर्थकरों के जीवनवृत्त तो सामान्यतया एक दो पृष्ठों में ही समाप्त हो जाते हैं। इसके पश्चात् तीर्थकरों के जीवनवृत्त का विवरण देने वाले ग्रन्थों में हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। चउप्पन्नमहापुरिसचरियं एवं त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के पश्चात् तीर्थकरों के जीवनवृत्त पर स्वतन्त्र रूप से अनेक चरित काव्य लिखे गए हैं जिनकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है।

### दिगम्बर आगम ग्रन्थ

दिगम्बर परम्परा के आगम साहित्य में षट्खंडागम, कषायपाहुड, मूलाचार, भगवतोआराधना, तिलोयपण्णत्ति एवं आचार्य कुंदकुंद के ग्रन्थ समाहित हैं। इनमें मुख्य रूप से मूलाचार और भगवतोआराधना यथा-प्रसंग तीर्थकरों के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएं देते हैं, किन्तु इनमें सुव्यवस्थित रूप से तीर्थकरों से सम्बन्धित विवरण उपलब्ध नहीं हैं। सर्वप्रथम हमें तिलोयपण्णत्ति में तीर्थकरों की अवधारणा एवं जीवन सम्बन्धी सूचनाएं मिलती हैं। तिलोयपण्णत्ति में तीर्थकरों के नाम, च्यवन स्थल, पूर्वभव, माता-पिता का नाम, जन्मतिथि और नक्षत्र, कुल नाम (धर्मनाथ, अरहनाथ और कुथुनाथ—कुस्ववंश में, पार्श्वनाथ—उग्रवंश में, महावीर—ज्ञातृ वंश में, मुनिसुमत्ति, एवं नेमिनाथ—यादववंश में और शेष इक्ष्वाकु वंश में हुए हैं) जन्म-काल, आयु, कुमार काल, शरीर की ऊँचाई, वर्ण, राज्य काल, चिह्न, वैराग्य के कारण, दीक्षास्थल, (नेमिनाथ द्वारका और शेष अपने जन्म स्थान), दीक्षा तिथि, दीक्षा काल, दीक्षा तप, प्रथम भिक्षा में मिले पदार्थ, छद्मस्थ काल, केवल ज्ञान (तिथि, नक्षत्र और स्थल), समवसरण का रचना विन्यास, किसी वृक्ष के नीचे हुआ केवल ज्ञान, उत्पन्न यक्ष-यक्षिणी, कैवल्य काल, गणधरों की

संख्या, साधु-साध्वियों की संख्या, अवधिज्ञानी, केवलज्ञानी और वैक्रिय ऋद्धिधारक, एवं वादियों की संख्या, प्रमुख आर्थिकाएँ, निर्वाणतिथि, नक्षत्र, स्थल, तीर्थंकरों का शासनकाल, तीर्थंकरों का अन्तराल आदि का विवरण सुव्यवस्थित रूप से उपलब्ध है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर तिलोपपणत्ति की विवरणशैली आवश्यकनिर्युक्ति के समान है। इसमें आवश्यकनिर्युक्ति के समान ही तीर्थंकरों के माता-पिता आदि का विवरण मिलता है। यद्यपि यह आवश्यकनिर्युक्ति की अपेक्षा परवर्ती है।

### पुराण साहित्य

यद्यपि दिगम्बर परम्परा में तीर्थंकरों के जीवनवृत्त को बताने वाले आगमिक साहित्य का अभाव है, किन्तु उसमें पुराणों के रूप में अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं। इनमें तीर्थंकरों के जीवनवृत्त विस्तार से वर्णित हैं। इन पुराणों में जिनसेन और गुणभद्र की कृति महापुराण प्रसिद्ध है। इसका पूर्व भाग आदिपुराण और शेष भाग उत्तरपुराण के नाम से भी जाना जाता है। आदिपुराण में ऋषभ का और उत्तरपुराण में शेष सभी तीर्थंकरों का वर्णन है। दिगम्बर आचार्यों द्वारा रचित पुराण ग्रन्थ अनेक हैं यहाँ किन्तु उन सब की चर्चा करना सम्भव नहीं है।

### जैनसाहित्य में उपलब्ध तीर्थंकर की अवधारणा का सर्वेक्षण

तीर्थंकर की अवधारणा के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि लगभग ईसा की चौथी शताब्दी तक ऐसा कोई भी साहित्य हमें उपलब्ध नहीं होता है कि जिसमें २४ तीर्थंकरों की अवधारणा का विकसित रूप उपलब्ध होता हो। सम्भवतः सर्वप्रथम ईसा पूर्व तीसरी, दूसरी शताब्दी से हमें तीर्थंकरों की अवधारणा में अलौकिकता सम्बन्धी कुछ विवरण उपलब्ध होते हैं, किन्तु व्यवस्थित रूप से २४ तीर्थंकरों की कल्पना का कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं होता है। हमें ऐसा लगता है कि जैन परम्परा में २४ तीर्थंकरों की सुव्यवस्थित अवधारणा और उनका नामकरण ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास ही हुआ होगा, यद्यपि २४ तीर्थंकरों के नामोल्लेख करने वाले विवरण भगवती, समवायांग आदि में उपलब्ध हैं, किन्तु विद्वान् इन्हें ईसा की प्रथम शताब्दी या इनके परवर्ती काल का ही मानते हैं। यदि हम अन्य तीर्थंकरों के जीवनवृत्तों को एक ओर रख दें तो भी स्वयं महावीर के जीवनवृत्त में एक विकास देखा जा सकता है। आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के उपधान नामक ९वें अध्याय में वर्णित महावीर का

चरित्र, सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के वीरस्तव नामक षष्ठम् अध्याय में कुछ विकसित हुआ है। फिर वह कल्पसूत्र में हमें अधिक विकसित रूप में मिलता है। कल्पसूत्र की अपेक्षा भी आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १५वें अध्याय में वर्णित महावीरचरित्र अधिक विकसित है, ऐसी डॉ० सागरमल जैन की मान्यता है। उनकी मान्यता का आधार कल्पसूत्र की अपेक्षा आचारांग के महावीरचरित्र में अधिक अलौकिक तत्त्वों का समावेश है। भगवतीसूत्र में महावीर के जीवनवृत्त से सम्बन्धित कुछ घटनाएँ; उल्लिखित हैं यथा—देवानन्दा, जामालि तथा गोशालक सम्बन्धी घटनाएँ उसमें गोशालक सम्बन्धी विवरण को जैन विद्वानों ने प्रक्षिप्त एवं परवर्ती माना है। आवश्यकनिर्युक्ति यद्यपि कल्पसूत्र की अपेक्षा महावीर का जीवनवृत्त विस्तार से उल्लिखित नहीं करती है, फिर भी २४ तीर्थंकरों सम्बन्धी सुव्यवस्थित जो वर्णन उसमें मिलता है, उससे ऐसा लगता है कि इसकी रचना कल्पसूत्र की अपेक्षा परवर्ती काल की है। इतना निश्चित है कि ईसा की दूसरी शताब्दी से २४ तीर्थंकरों की सुव्यवस्थित अवधारणा उपलब्ध होने लगती है। यद्यपि तीर्थंकरों के जीवनवृत्तों का विकास बाद में भी हुआ। सम्भवतः ईसा की ७वीं शताब्दी में सर्वप्रथम तीर्थंकरों के सुव्यवस्थित जीवनवृत्त लिखने के प्रयत्न किए गए, संभव है तत्सम्बन्धित कुछ अवधारणाएँ पूर्व में भी प्रचलित रही हों। आवश्यकचूर्ण (७वीं शती) महावीर और ऋषभ का विस्तृत विवरण देती है।

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में लगभग ईसा की ९वीं शताब्दी से ही हमें २४ तीर्थंकरों के सुव्यवस्थित जीवनवृत्त मिलने लगते हैं। यद्यपि इस काल के लेखकों के सामने कुछ पूर्व परम्पराएँ अवश्य रही होंगी, जिस आधार पर उन्होंने इन चरित्रों का विकास किया। वस्तुतः ईसा की दूसरी शताब्दी से ९ वीं शताब्दी के बीच का काल ही ऐसा है जिसमें २४ तीर्थंकरों सम्बन्धी अवधारणा का क्रमिक विकास हुआ। आश्चर्यजनक यह है कि बौद्ध परम्परा में २४ बुद्धों और हिन्दू परम्परा में २४ अवतारों और उनके जीवनवृत्तों को भी सुव्यवस्थित रूप इसी काल में दिया गया है जो तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हिन्दू परम्परा में अवतार की सुव्यवस्थित अवधारणा हमें भागवतपुराण में मिलती है। इतिहासविदों ने भागवतपुराण का काल लगभग ९ वीं शताब्दी माना है, यही काल शीलांक के चउपन्नमहापुरिसचरियं एवं दिगम्बर परम्परा के महापुराण आदि का है। यह एक सुनिश्चित सत्य है कि २४ तीर्थंकरों, २४ बुद्धों और २४ अवतारों की अवधारणा कालक्रम में

५६ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

विकसित होकर सुनिश्चित हुई है। इसी प्रसंग में अतीत एवं अनागत तीर्थंकरों और बुद्धों की कल्पना विकसित हुई जो तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है।

अब हम ग्रन्थ की सोमा को देखते हुए भूतकालीन और आगामी तीर्थंकरों के नाम निर्देश के साथ वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीर्थंकरों के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालेंगे।

**तीर्थंकरों की संख्या—वर्तमान, अतीत और अनागत काल के तीर्थंकर**

यद्यपि भागवत में विष्णु के अनन्त अवतार बताये गये हैं<sup>१</sup> फिर भी वैष्णवों में चौबीस अवतार की अवधारणा प्रसिद्ध है। उसी प्रकार जैन ग्रन्थ महापुराण में यद्यपि भूत और भविष्य की अनन्त चौबीसियों के आधार पर अनन्त जिनों की कल्पना की गई है।<sup>२</sup> फिर भी जैनों में चौबीस तीर्थंकरों की अवधारणा ही अधिक प्रचलित रही है तथा विविध क्षेत्रों और कालों की अपेक्षा से अनन्त चौबीसियों की कल्पना की गई।

जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकर इस प्रकार हैं<sup>३</sup>—

१. ऋषभ, २. अजित, ३. संभव, ४. अभिनन्दन, ५. सुमति, ६. पद्मप्रभ, ७. सुपार्श्व, ८. चन्द्रप्रभ, ९. सुविधि-पुष्पदन्त, १०. शीतल, ११. श्रेयांस, १२. वासुपुज्य, १३. विमल, १४. अनन्त, १५. धर्म, १६. शान्ति, १७. कुन्धु, १८. अर, १९. मल्लो, २०. मुनिसुव्रत, २१. नमि, २२. नेमि, २३. पार्श्व और २४. वर्धमान।

१. भागवत १।२।५; २।६।४१-४५

२. णाइ णन्तु भाविणिहि णिस्तउ, एहउ वीरजिणदेवुतउ।

पढतु समासमि कालु अणाइउ, सो अणन्तु जिणणाणि जाइउ ॥

—महापुराण २।४

३. जब्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसपिणीए चउवीसं तित्थगरा होत्था। तं जहा-उसभे १, अजिये २, संभवे ३, अभिणंदणे ४, सुमई ५, पउमप्पहे ६, सुपासे ७, चंदप्पभे ८, सुविहि-पुष्पदंते ९, सीयले १०, सिज्जंसे ११, वासुपुज्जे १२, विमले १३, अणंते १४, धम्मे १५, संती १६, कुंथु १७, अरे १८, मल्ली १९, मणिसुव्वए २०, णमी २१, नेमी २२, पासे २३, वड्ढमाणो २४।—समवायांग, श्री मधुकर मुनि, प्रकीर्णक समवाय ६३५।

जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र के वर्तमान अवसर्पिणी काल में निम्न चौबोस तीर्थंकर<sup>१</sup> हुए हैं—

१. सुचन्द्र, २. अग्निसेन, ३. नन्दिसेन, ४. ऋषिदत्त, ५. सोमचन्द्र, ६. युक्तिसेन, ७. अजितसेन, ८. शिवसेन, ९. बुद्ध, १०. देवशर्म, ११. निक्षिप्तशस्त्र-(श्रेयांस), १२. असंज्वल, १३. जिनवृषभ, १४. आमतज्ञानो अनन्त, १५. उपशान्त, १६. गुप्तिसेन, १७. अतिपाश्व, १८. सुपाश्व, १९. मरुदेव, २०. धर, २१. श्यामकोष्ठ, २२. अग्निसेन, २३. अग्निपुत्र, २४. वारिषेण ।

समवायांग में तो जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में उत्सर्पिणी काल के अतीत तीर्थंकरों का विवरण उपलब्ध नहीं है परन्तु प्रवचनसारोद्धार में निम्न २४ तीर्थंकरों का विवरण उपलब्ध होता है<sup>२</sup>—

१. केवलज्ञानी, २. निर्वाणी, ३. सागरजिन, ४. महायश, ५. विमल, ६. नाथसुतेज (सर्वानुभूति), ७. श्रीधर, ८. दत्त, ९. दामोदर, १०. सुतेज, ११. स्वामिजिन, १२. शिवाशो (मुनिसुव्रत), १३. सुमति, १४. शिवगति, १५. अबाध (अस्ताग), १६. नाथनेमोश्वर, १७. अनिल, १८. यशोधर, १९. जिनकृतार्थ, २०. धर्मीश्वर (जिनेश्वर), २१. शुद्धमति, २२. शिवकरजिन, २३. स्यन्दन, २४. सम्प्रतिजिन ।

१. जंबुद्वीपे [ णं दीवे ] एरवए वासे इमीसे ओसप्पिणीए चउव्वीसं तित्थयरा होत्था । तं जहा—

चंदाणणं सुचंदं अग्गीसेणं च नंदिसेण च ।  
इसिदिण्णं वयहारिं वंदिमी सोमचंदं च ॥  
वंदामि जुत्तिसेणं अजियसेणं तहेव सिवसेणं ।  
बुद्धं च देवसम्मं सययं निक्खित्तसत्थं च ॥  
असंजलं जिणवसहं वंदे य अणंतयं अमियणाणि ।  
उवसंतं च धुरयं वंदे खलु गुत्तिसेणं च ॥  
अतिपासं च सुपासं देवेसरवंदियं च मरुदेवं ।  
निव्वाणगयं च धरं खीणदुहं सामकोट्ठं च ॥  
जियरागमग्गिसेणं वंदे खीणरयमग्गिउत्तं च ।  
वोक्कसियपिज्जदोसं वारिसेणं गयं सिद्धिं ॥

—समवायांग (सं. श्री मधुकर मुनि) प्रकीर्णक समवाय ६६४

२. प्रवचनसारोद्धार ७ गा० २८८-२९०

दिगम्बर ग्रन्थ जयसेनप्रतिष्ठापाठ के नामों में कुछ भिन्नता है उसमें निम्न २४ तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है—<sup>१</sup>

१. निर्वाण, २. सागर, ३. महासाधु, ४. विमलप्रभ, ५. शुद्धाभदेव, ६. श्रीधर, ७. श्रीदत्त, ८. सिद्धाभदेव, ९. अमलप्रभ, १०. उद्धारदेव, ११. अग्निदेव, १२. संयम, १३. शिव, १४. पुष्पांजलि, १५. उत्साह, १६. परमेश्वर, १७. ज्ञानेश्वर, १८. विमलेश्वर, १९. यशोधर, २०. कृष्णमति, २१. ज्ञानमति, २२. शुद्धमति, २३. श्रीभद्र, २४. अनन्तवीर्य।

श्वेताम्बरग्रन्थ प्रवचनसारोद्धार और दिगम्बरग्रन्थ जयसेनप्रतिष्ठापाठ में भरतक्षेत्र के उत्सर्पिणी काल के अतीत तीर्थंकरों—निर्वाण, सागर जिन, विमल, श्रीधर, दत्त, शिवगति, शुद्धमति के नामों में समानता दिखायी देती है एवं अन्य तीर्थंकरों के नामों में दोनों ग्रन्थों में भिन्नता है।

ऐरावत क्षेत्र के अवसर्पिणी काल के अतीत तीर्थंकरों के सम्बन्ध में हमें कोई जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी है।

जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में आगामी उत्सर्पिणी काल में होने वाले चौबीस तीर्थंकर<sup>२</sup> निम्न हैं—

१- महापद्म, २- सूरदेव, ३-सुपाश्वं, ४- स्वयंप्रभ, ५- सर्वानुभूति, ६- देवश्रुत, ७- उदय, ८- पेढालपुत्र, ९- प्रोष्ठिल, १०- शतकीर्ति, ११-मुनिसुव्रत, १२-सर्वभाववित्, १३-अमम, १४-निष्कषाय, १५-

१. जयसेनप्रतिष्ठापाठ, ४७०-४९३

२. जंबुद्वीपे णं दीवे भरहे वासे आगमिस्साए उस्सर्पिणीए चउवीसं तित्थगरा भविस्संति । तं जहा—

महापउमे सूरदेवे सूपासे य सयंपभे ।  
 सण्वाणुभूई अरहा देवस्सुए य होक्खइ ॥  
 उदए पेढालपुत्ते य पोट्टिले सत्तकित्ति य ।  
 मुणिसुव्वए य अरहा सव्वभावविऊ जिणे ॥  
 अममे णिक्कसाए य निप्पुलाए य निम्ममे ।  
 चित्तउत्ते समाही य आगमिस्सेण होक्खइ ॥  
 संवरे अणियट्ठी य विजए विमले ति य ।  
 देवोववाए अरहा अणंतविजए इ य ।  
 एए वुत्ता चउवीसं भरहे वासम्मि केवली ।  
 आगमिस्सेणं होक्खंति धम्मतित्थस्स देसगा ॥

—समवायांग (सं० श्री मधुकर मुनि) प्रकीर्णक समवाय ६६७ ४

निष्पुलाक, १६-निर्मम, १७-चित्रगुप्त, १८-समाधिगुप्त, १९-संवर, २०-अनिवृत्ति, २१-विजय, २२-विमल, २३-देवोपपात और २४-अनन्त विजय ।

उपरोक्त तीर्थकर आगामी उत्सर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में धर्म तीर्थ की देशना करेंगे ।

जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी काल में चौबीस तीर्थकर होंगे—

१-सुमंगल, २-सिद्धार्थ, ३-निर्वाण, ४-महायश, ५-धर्मध्वज, ६-श्रीचन्द्र, ७-पुष्पकेतु, ८-महाचन्द्र केवली, ९-सुतसागर अर्हन्, १०-सिद्धार्थ, ११-तूर्णघोष, १२-महाघोष केवली, १३-सत्यसेन अर्हन्, १४-सूरसेन अर्हन्, १५-महासेन केवली, १६-सर्वानन्द, १७-देवपुत्र अर्हन्, १८-सुपार्श्व, १९-सुव्रत अर्हन्, २०-सुकोशल अर्हन्, २१-अनन्तविजय अर्हन्, २२-विमल अर्हन्, २३-महाबल अर्हन् और २४-देवानन्द अर्हन् ।

उपरोक्त चौबीस तीर्थकर ऐरावत क्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी काल में धर्मतीर्थ की देशना करने वाले होंगे ।

१. जंबुद्वीपे [ णं दीवे ] एरवए वासे आगमिस्साए उस्सर्पिणीए चउन्वीसं तित्थकरा भविस्संति । तं जहा—

सुमंगले य सिद्धत्थे णिब्वाणे य महाजसे ।  
 धम्मज्झए य अरहा आगमिस्साण होक्खई ॥  
 सिरिचंदे पुष्पकेऊ महाचंदे य केवली ।  
 सुयसागरे य अरहा आगमिस्साण होक्खई ॥  
 सिद्धत्थे पुण्णघोसे य महाघोसे य केवली ।  
 सच्चसेणे य अरहा आगमिस्साण होक्खई ॥  
 सूरसेणे य अरहा महासेणे य केवली ।  
 सव्वाणंदे य अरहा देवउत्ते य होक्खई ॥  
 सुपासे सुव्वए अरहा अरहे य सुकोसले ।  
 अरहा अणंतविजए आगमिस्साण होक्खई ॥  
 विमले उत्तरे अरहा अरहा य महाबले ।  
 देवाणंदे य अरहा आगमिस्साण होक्खई ॥  
 एए वुत्ता चउन्वीसं एरवयम्मि केवली ।  
 आगमिस्साण होक्खंति धम्मतित्थस्स देसगा ॥

—समवायांग (सं० श्री मधुकरमुनि) प्रकीर्णक समवाय ६७४ ॥



जिस प्रकार बौद्धों में सुखावतीव्यूह में सदैव बुद्धों की उपस्थिति मानी गई है उसी प्रकार जैनों ने महाविदेह क्षेत्र में सदैव बीस तीर्थंकरों की उपस्थिति मानी है। यद्यपि इनमें से प्रत्येक तीर्थंकर अपनी आयु मर्यादा पूर्ण होने पर सिद्ध हो जाता है अर्थात् निर्वाण को प्राप्त कर लेता है किन्तु जिस समय वह निर्वाण प्राप्त करता है, उसी समय उसी नाम का दूसरा तीर्थंकर कौवलय प्राप्तकर तीर्थंकर पद प्राप्त कर लेता है, इस प्रकार क्रम सदा चलता रहता है। महाविदेह क्षेत्र के बीस तीर्थंकर निम्न हैं।<sup>१</sup>

१. सोमन्धर, २. युगमन्धर, ३. बाहु, ४. सुबाहु, ५. संजात, ६. स्वयंप्रभ, ७. ऋषभानन, ८. अनन्तवीर्य, ९. सूरिप्रभ, १०. विशालप्रभ, ११. वज्रंधर, १२. चन्द्रानन, १३. चन्द्रबाहु, १४. भुजंगम, १५. ईश्वर, १६. नेमिप्रभु, १७. वीरसेन, १८. महाभद्र, १९. देवयश, २०. अजितवीर्य।

जैनों की कल्पना है कि समस्त मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) के विभिन्न क्षेत्रों में एक साथ अधिकतम १७० और न्यूनतम २० तीर्थंकर सदैव वर्तमान रहते हैं<sup>२</sup>। इस न्यूनतम और अधिकतम संख्या का अतिक्रमण नहीं होता, फिर भी एक तीर्थंकर का दूसरे तीर्थंकर से कभी मिलाप नहीं होता।

### १. ऋषभदेव

ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर माने जाते हैं।<sup>३</sup> इनके पिता नाभि और इनकी माता मरुदेवी थीं।<sup>४</sup> ये इक्ष्वाकु कुल के काश्यप गोत्र में उत्पन्न हुए थे। इनका जन्मस्थान कोशल जनपद के अयोध्या नगर में माना जाता है। इनकी दो पत्नियाँ थीं—सुनन्दा और सुमंगला। भरत, बाहुबलि आदि उनके १०० पुत्र और ब्राह्मी—सुन्दरी दो पुत्रियाँ थीं<sup>५</sup>।

ऋषभदेव उस काल में उत्पन्न हुए थे, जब मनुष्य प्राकृतिक जीवन से निकल कर ग्रामीण एवं नगरीय जीवन में प्रवेश कर रहा था। माना जाता है कि ऋषभदेव ने पुरुष को ७२ और स्त्रियों को ६४ कलाओं की

१. जयसेनप्रतिष्ठापाठ, ५४५-६४।

२. “वीसं वि सयले खेत्ते सत्तरिसयं वरदो।” —त्रिलोकसार—६८१।

३. कल्पसूत्र, २१०।

४. वही, २०५-८१; आवश्यकनिर्युक्ति १७०, ३८५, ३८७; समवायांग १५७।

५. कल्पसूत्रवृत्ति २३६, २३१ (विनय-विजय); आवश्यकचूर्णि भाग १, पृ० १५२-३।

शिक्षा दी थी, उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिज्ञान तथा सुन्दरी को गणित विषय में पारंगत बनाया था। जैन मान्यता के अनुसार असि (सैन्यकर्म), मसि (वाणिज्य) और कृषि को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय भी ऋषभदेव को है। इस प्रकार इन्हें भारतीय सभ्यता और संस्कृति का आदि पुरुष माना जाता है। यह भी मान्यता है कि इन्होंने सामाजिक जीवन में सर्वप्रथम योगलिक परम्परा को समाप्त कर विवाह की परम्परा स्थापित की थी। परम्परागत मान्यता के अनुसार इनके शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष और आयु ८४ लाख पूर्व वर्ष मानी गई है। ये ८३ लाख पूर्व वर्ष सांसारिक अवस्था में रहे और इन्होंने १/२ लाख पूर्व वर्ष तक संयम का पालन किया। अपने जीवन की संघ्यावेला में इन्होंने चार हजार लोगों के साथ संन्यास लिया। इन्हें एक वर्ष के कठोर तप साधना के पश्चात् पुरिमताल उद्यान में बोधि प्राप्त हुई थी। जैनों की ऐसी मान्यता है कि ऋषभदेव के साथ संन्यास धर्म को अंगीकार करने वाले अधिकांश व्यक्ति उनके समान कठोर आचरण का पालन न कर पाये और परिणामस्वरूप अपनी-अपनी सुविधाओं के अनुसार विभिन्न श्रमण परम्पराओं को जन्म दिया। उनके पौत्र मारीचि द्वारा त्रिदंडी संन्यासियों की परम्परा प्रारम्भ हुई। जैनों की मान्यता है कि ऋषभदेव के संघ में ८४ गणों में विभक्त ८४ गणधरों के अधीन ८४ हजार श्रमण थे, ब्राह्मी प्रमुख तीन लाख आर्थिकार्ये थी। तीन लाख पचास हजार श्रावक और पांच लाख चौवन हजार श्राविकाएँ थीं।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में ऋषभदेव के १२ पूर्व भवों का उल्लेख है। इसके साथ ही साथ उसमें उनके जन्म-महोत्सव, नामकरण, रूप-यौवन, विवाह, गृहस्थजीवन, सन्तानोत्पत्ति, राज्याभिषेक, कलाओं की शिक्षा, वेराग्य, गृहत्याग और दीक्षा, साधनाकाल के उपसर्ग, इक्षुरस से पारण, केवलज्ञान, समवसरण, संघ स्थापना और उपदेश आदि का विस्तार से वर्णन है।

ऋषभदेव का उल्लेख अन्य परम्पराओं में भी मिलता है। वैदिक परम्परा में वेदों से लेकर पुराणों तक इनके नाम का उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद में अनेक रूपों में इनकी स्तुति की गई है। यद्यपि आज यह कहना कठिन है कि ऋग्वेद में वर्णित ऋषभदेव वही हैं जो जैनों के प्रथम

१. “एवा बभ्रो वृषभ चैकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि।”

—ऋग्वेद २।३३।१५.

तीर्थंकर हैं, क्योंकि इनके पक्ष एवं विपक्ष में विद्वानों ने अपने तर्क दिये हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में नाभि पुत्र ऋषभ और ऋषभ के पुत्र भरत का उल्लेख है।<sup>१</sup> उत्तरकालीन हिन्दू परम्परा के ग्रन्थों श्रीमद्भागवत, मार्कण्डेयपुराण, कूर्मपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण, गरुड-पुराण, विष्णुपुराण और स्कन्धपुराण में भी ऋषभदेव के उल्लेख मिलते हैं।<sup>२</sup> श्रीमद्भागवत और परवर्ती पुराणों में से अधिकांश में ऋषभदेव का वर्णन उपलब्ध है, जो जैन परम्परा से बहुत साम्य रखता है।

ऋग्वेद के १० वें मंडल के सूत्र १३६/२ में वातरशना शब्द का प्रयोग हुआ है,<sup>३</sup> व्युत्पत्ति की दृष्टि से वातरशन शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) वात + अशन अर्थात् वायु ही जिनका भोजन है, उन्हें वातरशन कहा जा सकता है (२) वात + रशन है, रशन वेष्टन का परिचायक वायु ही जिनका वस्त्र है अर्थात् इस दृष्टि से यह नग्न मुनि का परिचायक हो सकता है। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार वातरशना का अर्थ नग्न होता है। जैनाचार्य जिनसेन ने वातरशना का अर्थ दिगम्बर किया है और उसे ऋषभदेव का विशेषण बताया है। सायण ने वातरशना का अर्थ वातरशन का पुत्र किया है, किन्तु उसका अर्थ वातरशन के अनुयायी करना अधिक उचित है क्योंकि श्रीमद्भागवत में भी यह कहा गया है कि ऋषभदेव ने वातरशना श्रमणों के धर्म का उपदेश दिया। जैन पुराण और श्रीमद्भागवत में वातरशना को जो ऋषभदेव के साथ

१. (अ) “ऋषभो वा पशुनामधिपति” । —ताण्ड्य ब्राह्मण—१४।२।५ ।

(ब) ऋषभो वा पशूनां प्रजापतिः” —शतपथ ब्राह्मण—५।२।५।१० ।

२. अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जातिं उरुक्रमः ।

दर्शयन् वत्सं धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥ —भागवत १।३।१३

नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनुर्यो वै चचार समदृग् जडयोगचर्याम् ।

यत् पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः ॥

—भागवत २।७।१०

देखें—मार्कण्डेयपुराण अध्याय ५० ३९-४२; कूर्मपुराण अध्याय ४१, ३७-३८, अग्निपुराण, १०, १०-११, वायुपुराण ३३।५०-५२ गरुडपुराण १, ब्रह्माण्डपुराण १४, ६१ विष्णुपुराण २।१।२७, स्कन्धपुराण कुमारखण्ड, ३७।५७ ।

३. मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला ।

वातस्यानु ध्वाजि यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥

जोड़ने का प्रयत्न किया गया है, समुचित तो प्रतीत होता है, साथ ही यह भी सूचित करता है कि ऋग्वैदिक काल में ऋषभ की परम्परा प्रचलित थी।

ऋग्वेद में 'शिशुदेवा' शब्द आया है। 'शिशुदेव' के ऋग्वेद में दो उल्लेख हैं—प्रथम (७।२।१५) में तो कहा गया है कि वे हमारे यज्ञ में विघ्न न डालें और दूसरे (१०।१९।३) में इन्द्र द्वारा शिशुदेवों को मारकर शतद्वारों वाले दुर्ग की निधि पर कब्जा करने का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि शिशुदेव (नग्न देव) के पूजक वैदिक परम्परा के विरोधी और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न थे। शिशुदेवा के दो अर्थ हो सकते हैं। इसका एक अर्थ है शिशु को देवता मानने वाले, दूसरा शिशु युक्त अर्थात् नग्न देवता को पूजने वाले। इन दोनों अर्थों में से यदि किसी भी अर्थ को ग्रहण करें, किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद के काल में एक परम्परा थी जो नग्न देवताओं की पूजा करती थी और यह भी सत्य है ऋषभ की परम्परा नग्न श्रमणों की परम्परा थी।

ऋग्वेद में केशी की स्तुति किये जाने का उल्लेख मिलता है। यह केशी साधनायुक्त कहे गए हैं और अग्नि, जल, पृथ्वी और स्वर्ग को धारण करते हैं। साथ ही सम्पूर्ण विश्व के तत्त्वों का दर्शन करते हैं और उनकी ज्ञानज्योति मात्र ज्ञानरूप ही है।<sup>१</sup> ऋग्वेद में एक अन्य स्थल पर केशी और ऋषभ का एक साथ वर्णन हुआ है।<sup>२</sup> श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव के केशधारी अवधूत के रूप में परिभ्रमण करने का उल्लेख मिलता है<sup>३</sup>। जैन-मूर्तिकला में भी ऋषभदेव के वक्रकेशों की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल से पायी जाती है। तीर्थंकरों में मात्र ऋषभदेव की मूर्ति के सिर पर ही कुटिल (वक्र) केश देखने को मिलते हैं, जो कि उनका एक लक्षण माना जाता है। पद्मपुराण<sup>४</sup> एवं हरिवंशपुराण<sup>५</sup> में भी उनकी लम्बी जटाओं के उल्लेख पाए जाते हैं। अतः उपरोक्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि ऋषभदेव का ही दूसरा नाम "केशी" रहा होगा।

१. ऋग्वेद १०।१३६।१।
२. ऋग्वेद १०।१०२।६।
३. श्रीमद्भागवत ५।५।२८-३१।
४. पद्मपुराण, ३।२८८।
५. हरिवंशपुराण, ९।२०४।

पुरातात्विक स्रोतों से भी ऋषभदेव के बारे में सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं। डॉ० राखलदास बनर्जी द्वारा सिन्धुघाटी की सभ्यता की खोज में प्राप्त सील (मुहर) नं० ४४९ पर चित्र लिपि में कुछ लिखा हुआ है। इसे श्री प्राणनाथ विद्यालंकार ने जिनेश्वर: 'जिन-इ-इ-सर:' पढ़ा है। राम-बहादुर चन्दा का कहना है कि सिन्धु घाटी से प्राप्त मुहरों में एक मूर्ति मथुरा के ऋषभदेव की खड्गासन मूर्ति के समान त्याग और वैराग्य के भाव प्रदर्शित करती है। इस सील में जा मूर्ति उत्कीर्ण है, उसमें वैराग्य भाव तो स्पष्ट है ही, साथ ही साथ उसके नीचे के भाग में ऋषभदेव के प्रतीक बैल का सद्भाव भी है।<sup>१</sup>

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने सिन्धु-सभ्यता का अध्ययन करते हुए लिखा कि फलक १२ और ११८ आकृत ७ (मार्शल कृत मोहन-जो-दड़ो) कायःत्संग मुद्रा में खड्गासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों से विशेष रूप से मिलती है। जैसे—मथुरा से प्राप्त तीर्थंकर ऋषभ की मूर्ति। मुहर संख्या एफ० जी० एच० फलक दो पर अंकित देवमूर्ति एक बैल ही बना है। सम्भव है कि यह ऋषभ का प्रतीक रूप हो। यदि ऐसा हो, तो शैव-धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है।<sup>२</sup>

डॉ० विसेन्ट ए० स्मिथ का कथन है कि मथुरा सम्बन्धी खोजों से यह फलत होता है कि जैन धर्म की तीर्थंकरों की अवधारणा ई० सन् के पूर्व में विद्यमान थी। ऋषभादि २४ तीर्थंकरों की मान्यता सुदूर प्राचीन काल में पूर्णतया प्रचलित थी।<sup>३</sup> इस प्रकार ऋषभदेव को प्राचीनता इतिहास के सार्हात्यक एवं पुरातात्विक दोनों साक्ष्यों से सिद्ध है। डॉ० एन० एन० बसु का मन्तव्य है कि ब्राह्मी लिपि का प्रथम आविष्कार सम्भवतः ऋषभदेव ने ही किया था। अपनी पुत्री के नाम पर इसका ब्राह्मी नाम रखा। ऋग्वेद में वे विष्णु के अष्टम अवतार के रूप में प्रख्यात हुए हैं।<sup>४</sup>

### ऋषभ और शिव

सिन्धु घाटी में मिली मूर्तियों और सीलों की देव मूर्ति का समीकरण

१. डॉ० नेमिचन्द्रशास्त्री, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (सागर, १९७४), पृ० १४।
२. हिन्दू सभ्यता (नई दिल्ली, १९५८) पृ० २३।
३. द जैन स्तूप—मथुरा, प्रस्तावना, पृ० ६।
४. हिन्दूविश्वकोश, जिल्द १, पृ० ६४ तथा जिल्द ३, पृ० ४४४।

चाहे हम शिव से करें या ऋषभ से करें बहुत अन्तर नहीं है। ऋषभ और शिव के संदर्भ में जो कथाएँ मिलती हैं उससे इतना स्पष्ट होता है कि दोनों वैदिक कर्म-काण्ड के विरोधी थे। दिगम्बर विद्वान् पं० कैलाशचन्द्र जी ने शिव और ऋषभ में समोकरण खोजने का प्रयत्न किया है।

महाभारत में भी महादेव के नामों में शिव और ऋषभ दोनों का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद के १५ वें ब्रात्य नामक काण्ड में एक-ब्रात्य को महादेव भी कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रात्यों, वातरशना मुनियों और शिश्नदेवों की कोई एक परम्परा थी, जो वैदिक काल में भी प्रचलित थी और यह परम्परा निश्चित ही वेद-विरोधी श्रमण धारा को थी। ब्रात्य शब्द का अर्थ भी व्रतों का पालन करने वाला, त्यागी या घुमक्कड़ होता है। ये सभी बातें श्रमणों में पाई जाती हैं। पुनः अथर्व-वेद में ब्रात्यों को मागध कहा गया है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि वे श्रमण परम्परा के ही लोग थे। यह सुनिश्चित सत्य है कि मागध श्रमणों का केन्द्रस्थल था। इन सब आधारों पर ऐसा लगता है कि श्रमणों की यही परम्परा विकसित होकर हिन्दू धर्म में शैवों अर्थात् शिव के उपासकों के रूप में और श्रमण परम्परा में ऋषभ के अनुयायियों के रूप में विकसित हुई। हिन्दू पुराणों में मार्कण्डेय पुराण, कूर्म पुराण, अग्नि पुराण, वायु पुराण, गरुड़ पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, विष्णु पुराण, स्कन्ध पुराण और श्रोमद्भागवत में जो ऋषभदेव का वर्णन उपलब्ध होता है उससे इतना तो निश्चित ही सिद्ध हो जाता है कि ऋषभ निश्चित ही एक ऐतिहासिक पुरुष रहे हैं।

जैन परम्परा में ऋषभदेव की मूर्तियाँ तथा पूजा के प्रमाण हमें ईसा-पूर्व की प्रथम शताब्दी से मिलने लगते हैं। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि ईसवी पूर्व में भी ऋषभदेव जैन परम्परा के तीर्थंकर माने जाते थे।

जैन और वैदिक परम्परा में प्राचीन काल से ही उनकी उपस्थिति का जो संकेत मिलता है, वह इस बात का भी सूचक है कि वे एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और महावीर तथा पार्श्व के पूर्व उनकी श्रमण परम्परा जीवित थी। सम्भव है कि महावीर के सम्मुख ऋषभ और पार्श्व दोनों की परम्परा जीवित रही हो; महावीर ने पार्श्व की परम्परा की अपेक्षा ऋषभ की परम्परा को अधिक महत्त्व दिया हो।

आज हमारे पास आजोवक सम्प्रदाय का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है

फिर भी इतना निश्चित है कि आजीवकों की परम्परा महावीर और गोशालक के पूर्व भी प्रचलित थी, सम्भव है कि आजीवकों की यह परम्परा ऋषभ की परम्परा रही हो। परवर्ती जैन ग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के धर्म में समानता होती है, वह आकस्मिक नहीं है। तार्किक आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि महावीर ने पार्श्व की परम्परा की अपेक्षा आजीवकों के रूप में जीवित ऋषभ की नग्नतावादी परम्परा को ही प्राथमिकता दी और स्वीकार किया।

जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं, पं० कैलाशचन्द्र जी आदि कुछ जैन विद्वानों ने इन सब उल्लेखों के आधार पर ऋषभ को एक ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध करने का प्रयास किया है और उनकी समरूपता शिव के साथ भी स्थापित की गई है। जिसके आधार निम्न हैं—

प्रथम तो ऋषभ और शिव दोनों ही दिग्म्बर हैं। शिव का वाहन नन्दी (वृषभ) है तो ऋषभ का लांछन भी वृषभ है। दोनों ध्यान, साधना और योग के प्रवर्तक माने जाते हैं।<sup>1</sup> जहाँ शिव को कैलाशवासी माना गया है, वहाँ ऋषभ का निर्वाण भी कैलाश पर्वत (अष्टापद) पर बताया गया है। इसी प्रकार दोनों वैदिक कर्मकाण्ड के विरोधी, निवृत्ति-मार्गी और ध्यान एवं योग के प्रस्तोता हैं। यद्यपि दोनों में बहुत कुछ समानताएँ खोजी जा सकती हैं, फिर भी परवर्ती साहित्य में वर्णित दोनों के जीवन-वृत्तों के आधार पर आज यह कहना कठिन ही है कि वे अभिन्न व्यक्ति हैं या अलग-अलग व्यक्ति हैं; परन्तु इस समग्र चर्चा से इतना निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि ऋषभ को भारतीय समाज और संस्कृति में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। यही कारण है कि हिन्दू परम्परा उन्हें भगवान् के चौबीस अवतारों में प्रथम मानवीय अवतार के रूप में स्वीकार करती है।

बौद्ध साहित्य में धम्मपद में “उसभं पवरं वीरं” (४२२) के रूप में ऋषभ का उल्लेख है, यद्यपि यह शब्द ब्राह्मण का एक विशेषण है अथवा ऋषभ नामक तीर्थंकर को सूचित करता है, यह विवादास्पद ही है।

१. “भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वरः।” —भागवत ५।५।९।

“नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपति ऋषभः।” —वही ५।५।३५

“योगिकल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वजम्।” —ज्ञानार्णव १।२

मञ्जुश्री मूलकल्प में भो नाभि पुत्र ऋषभ और उनके पुत्र भरत का उल्लेख उपलब्ध है।<sup>१</sup>

## २. अजित

अजित जैन परम्परा के दूसरे तीर्थंकर माने जाते हैं।<sup>२</sup> इनके पिता का नाम जितशत्रु और माता का नाम विजया था तथा इनका जन्मस्थान अयोध्या माना गया है।<sup>३</sup> इनका शरीर ४०० धनुष ऊँचा और कांचन वर्ण बताया गया है।<sup>४</sup> इन्होंने भी अपने जोवन के अन्तिम चरण में संन्यास ग्रहण कर १२ वर्ष तक कठिन तपस्या की, तत्पश्चात् सर्वज्ञ बने।<sup>५</sup> अपनी ७२ लाख पूर्व वर्ष की सर्व आयु में इन्होंने ७१ लाख पूर्व वर्ष गृहस्थ धर्म और १ लाख पूर्व वर्ष संन्यास धर्म का पालन किया।<sup>६</sup> इनके संघ में १ लाख मुनि और ३ लाख ३० हजार साध्वियाँ थीं।<sup>७</sup> त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र में इनके पूर्वभवों का उल्लेख है और इन्हें सगर चक्रवर्ती का चचेरा भाई बताया गया है।

बौद्ध परम्परा में अजित थेर का नाम मिलता है किन्तु इनकी तीर्थंकर अजित से कोई समानता परिलक्षित नहीं होती है। इसी प्रकार बुद्ध के समकालीन तीर्थंकर कहे जाने वाले ६ व्यक्तियों में एक अजितकेशकम्बल भी हैं किन्तु ये महावीर के समकालीन हैं जबकि दूसरे तीर्थंकर अजित महावीर के बहुत पहले हो चुके हैं। डॉ० राधाकृष्णन् की सूचनानुसार ऋग्वेद में भी अजित का नाम आता है—ये प्राचीन हैं अतः इनकी तीर्थंकर अजित से एकरूपता की कल्पना की जा सकती है। किन्तु यहाँ भी मात्र नाम की एकरूपता के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

१. “प्रजापतेः सुतोनाभि तस्यापि आगमुच्यति ।

नाभिनो ऋषभ पुत्रो वै सिद्ध कर्म दृढव्रतः ॥”

—आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प, ३९०

२. नन्दीसूत्र १८

३. सम० १५७; आवश्यकनियुक्ति ३२३, ३८५, ३८७ ।

४. समवायांग, गाथा १०७; आवश्यकनि० ३७८, ३७६ ।

५. आवश्यकवृत्ति २०५-७ ।

६. आवश्यकनियुक्ति २७२, २७८, ३०३ ।

७. वही, २५६, २६० ।



### ३. संभव

संभव वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीसरे तीर्थंकर माने गये हैं।<sup>१</sup> इनके पिता का नाम जितारि एवं माता का नाम सेनादेवी था तथा इनका जन्म-स्थान श्रावस्ती नगर माना गया है।<sup>२</sup> इनके शरीर की ऊँचाई ४०० धनुष, वर्ण कांचन और आयु ६० लाख वर्ष पूर्व मानी गई है।<sup>३</sup> इन्होंने भी अपने जोवन की संध्या वेला में संन्यास ग्रहण किया और १४ वर्ष की कठोर साधना के पश्चात् साल वृक्ष के नीचे इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ।<sup>४</sup> इन्होंने सम्मत्शिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।<sup>५</sup> इनकी शिष्य-सम्पदा में २ लाख भिक्षु और ३ लाख ३६ हजार भिक्षुणियाँ थीं।<sup>६</sup> अन्य परम्पराओं में इनका उल्लेख हमें कहीं नहीं मिलता है। त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों का उल्लेख है।

### ४. अभिनन्दन

अभिनन्दन जैन परम्परा के चौथे तीर्थंकर माने जाते हैं। इनके पिता का नाम संवर एवं माता का नाम सिद्धार्था था तथा इनका जन्म स्थान अयोध्या माना गया है।<sup>१</sup> इनके शरीर की ऊँचाई ३५० धनुष और वर्ण सुनहला बताया गया है।<sup>२</sup> इन्होंने जीवन के अन्तिम चरण में १००० मनुष्यों के साथ संन्यास ग्रहण किया और कठिन तपस्या के बाद सम्मत्पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया।<sup>३</sup> इन्होंने अपनी ५० लाख पूर्व वर्ष की आयु में साढ़े बारह लाख पूर्व वर्ष कुमार अवस्था में, साढ़े छत्तीस लाख पूर्व वर्ष गृहस्थ जीवन में और एक लाख पूर्व वर्ष में संन्यास धर्म पालन किया। इनको प्रियंक वृक्ष के नीचे कैवल्य प्राप्त हुआ था।

इनके ३ लाख मुनि और ३० हजार साध्वियाँ थीं।<sup>४</sup> त्रिषष्टिशलाका-

१. समावायांग गा० १५७; नन्दीसूत्र, १८; विशेषावश्यकभाष्य, १७५८
२. वही, १५७; आवश्यकनियुक्ति ३८५।
३. वही, १०६, ५९; आवश्यकनियुक्ति ३७८, ३७६, २७८।
४. वही, १५७; आवश्यकनियुक्ति २५४, ३०२।
५. कल्पसूत्र, २०२; आवश्यकनियुक्ति ३०३, ३०७, ३११।
६. समावायांग गा० १५७; आवश्यकनियुक्ति, २५६, २६०।
७. वही, १५७; आवश्यकनियुक्ति, ३८२।
८. आवश्यकनियुक्ति, ३७६।
९. वही, २२५, २८०, ३०३।
१०. वही, २५६, २६०।

पुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों—महाबल राजा और अनुत्तर स्वर्ग के देव का उल्लेख हुआ है ।

#### ५. सुमति

सुमति वर्तमान अवसर्पिणो काल के पाँचवें तीर्थकर माने गये हैं ।<sup>१</sup> इनके पिता का नाम मेघ एवं माता का नाम मंगला तथा इनका जन्म स्थान विनय नगर माना गया है ।<sup>२</sup> इनके शरीर की ऊँचाई ३०० धनुष और वर्ण कांचन माना गया है ।<sup>३</sup> इन्होंने जीवन की अन्तिम सन्ध्या वेला में संन्यास ग्रहण किया था और १२ वर्ष की कठोर साधना के पश्चात् प्रियंगु वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त किया था ।<sup>४</sup> इन्होंने अपनी ४० लाख पूर्व वर्ष की सर्व आयु में १० लाख पूर्व वर्ष कुमारावस्था और २९ लाख पूर्व वर्ष गृहस्थ जीवन और १ लाख पूर्व वर्ष संन्यास धर्म का पालन किया ।<sup>५</sup> इनकी शिष्यसम्पदा में ३ लाख २० हजार भिक्षु और ५ लाख ३० हजार भिक्षुणियाँ थीं । त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों—पुरुष-सिंह राजकुमार और ऋद्धिशाली देव का उल्लेख हुआ है ।

अन्य परम्पराओं में हमें इनका कोई उल्लेख नहीं मिलता है ।

#### ६. पद्मप्रभ

जैन परम्परा में पद्मप्रभ छठवें तीर्थकर के रूप में माने जाते हैं ।<sup>१</sup> इनके पिता का नाम धर एवं माता का नाम सुसीमा था तथा इनका जन्म स्थान कौशाम्बी नगर माना गया है ।<sup>२</sup> इनके शरीर की ऊँचाई २५० धनुष एवं वर्ण लाल बताया गया है ।<sup>३</sup> इन्होंने कठिन तपश्चरण कर छत्रांग वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त किया था ।<sup>४</sup> इन्होंने अपनी ३० लाख पूर्व वर्ष

१. समवायांग गा० १५७; विशेषावश्यकभाष्य १६६४, १७५८ ।
२. वही, १०४, १५७; आवश्यकनियुक्ति ३८३, ३८५, ३८७ ।
३. आवश्यकनियुक्ति ३७६, ३७८ ।
४. समवायांग गा० १५७ ।
५. आवश्यकनियुक्ति ३०३, ३०७, ३११, २७२-३०५ ।
६. कल्पसूत्र, १९९; आवश्यकनियुक्ति, १०८९ ।
७. समवायांग गा० १५७; आवश्यकनियुक्ति, ३८२-३८७
८. वही, १०३; आवश्यकनियुक्ति, ३७६, ३७८ ।
९. वही, १५७ ।

७० : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

की आयु में साढ़े इक्कीस लाख पूर्व वर्ष गृहस्थ धर्म और एक लाख पूर्व वर्ष तक मुनि धर्म का पालन किया ।<sup>१</sup>

इनके संघ में ३ लाख ३० हजार मुनि एवं ४ लाख २० हजार साध्वियाँ थीं ।<sup>२</sup> अन्य परम्पराओं में इनका भी कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है । वैसे पद्म राम का एक नाम है किन्तु इनकी राम से कोई समरूपता नहीं दिखाई देती है । त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों--अपराजित महाराजा और ग्रैवेयक देव का उल्लेख हुआ है ।

### ७. सुपाश्र्व

सुपाश्र्व वर्तमान अवसर्पिणी काल के सातवें तीर्थंकर माने गये हैं ।<sup>३</sup> इनका जन्म वाराणसी के राजा प्रतिष्ठ की रानी पृथ्वी की कुक्षि से माना गया है ।<sup>४</sup> इनके शरीर को ऊँचाई २०० धनुष और वर्ण स्वर्णिम माना गया है ।<sup>५</sup> इन्हें ९ माह की कठिन तपस्या के पश्चात् शिरीष वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ<sup>६</sup> और २० लाख पूर्व वर्ष की आयु पूर्ण करने के पश्चात् सम्मत्शिखर पर निर्वाण प्राप्त हुआ ।<sup>७</sup>

इनके संघ में ३ लाख मुनि और ४ लाख ३० हजार साध्वियाँ थीं ।<sup>८</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों--नन्दिसेन राजा और अहमिन्द्र देव का उल्लेख हुआ है ।

### ८. चन्द्रप्रभ

जैन परम्परा में वर्तमान अवसर्पिणी काल के आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ माने जाते हैं ।<sup>९</sup> इनके पिता का नाम महासेन और माता का नाम लक्षणा

१. आवश्यकनियुक्ति ३०२-३०६ ।
२. वही, २५६-२६६, २७२-३०५ ।
३. समवायांग गा० १५७; विशेषावश्यकभाष्य १७५८; आवश्यकनियुक्ति, ५०९० ।
४. वही, १५७; आवश्यकनियुक्ति ३८२, ३८५, ३८७ ।
५. वही, १०१; आवश्यकनियुक्ति ३७६ ।
६. समवायांग गाथा १५७ ।
७. आवश्यकनियुक्ति, ३०३, ३०७, ३०९ ।
८. वही, २५७, २६१ ।
९. कल्पसूत्र, १९७; आवश्यकनियुक्ति १०९० ।

था तथा इनका जन्मस्थान चन्द्रपुर था ।<sup>१</sup> इनके शरीर की ऊँचाई १५० धनुष मानी गई है।<sup>२</sup> इनके शरीर का वर्ण चन्द्रमा के समान श्वेत बताया गया है।<sup>३</sup> इनको नागवृक्ष के नीचे बोधिज्ञान प्राप्त हुआ था।<sup>४</sup> इनको शिष्य सम्पदा में ढाई लाख भिक्षु और ३ लाख ८० हजार भिक्षु-णियाँ थीं।<sup>५</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों—वद्म राजा और अहमिन्द्र देव का उल्लेख मिलता है।

अन्य परम्पराओं में इनका कहीं भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

## ९. सुविधि या पुष्पदन्त

सुविधिनाथ जैन परम्परा के नवें तीर्थंकर माने गये हैं।<sup>६</sup> इनका जन्म काकन्दी नगरी के राजा सुप्रोव के यहाँ हुआ था और इनकी माता का नाम रामा था।<sup>७</sup> इनके शरीर की ऊँचाई १०० धनुष बताई गयी है।<sup>८</sup> इनके शरीर का वर्ण चमकते हुये चन्द्रमा के समान बताया गया है।<sup>९</sup> इनको काकन्दी नगरी के बाहर उद्यान में मल्लिका वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।<sup>१०</sup> तथा २ लाख पूर्व वर्ष आयु व्यतीत करने के पश्चात् निर्वाण लाभ हुआ था।<sup>११</sup> इनके संघ में २ लाख साधु एवं ३ लाख साधवियाँ थीं।<sup>१२</sup> अन्य परम्पराओं में इनका भी उल्लेख नहीं मिलता है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों—महापद्म राजा और अहमिन्द्र देव का वर्णन हुआ है।

१. समवायांग गाथा १५७; आवश्यकनियुक्ति, ३८२, ३८५, ३८७।
२. वही गा० १०१; आवश्यकनियुक्ति, ३७८।
३. आवश्यकनियुक्ति, ३७६।
४. समवायांग गा० १५७; स्थानांग, ७३५; आवश्यकनियुक्ति, २७२-३०७।
५. वही, गा० ९३; आवश्यकनियुक्ति २५७, २६६।
६. कल्पसूत्र, १९६; आवश्यकनियुक्ति १०९१।
७. समवायांग गा० १५७; आवश्यकनियुक्ति, ३८५, ३८८।
८. वही, गा० १००; आवश्यकनियुक्ति, ३८५, ३८८।
९. आवश्यकनियुक्ति, ३७६।
१०. समवायांग गाथा १५७।
११. आवश्यकनियुक्ति, ३०३, ३०७।
१२. वही, २५७, २६१।

## १०. शीतल

शीतल वर्तमान अवसर्पिणी काल के दसवें तीर्थकर माने गये हैं।<sup>१</sup> इनके पिता का नाम दृढरथ और माता का नाम नन्दा था तथा इनका जन्मस्थान भद्रिपुर माना गया है।<sup>२</sup> इनके शरीर की ऊँचाई ९० धनुष<sup>३</sup> और वर्ण स्वर्णिम<sup>४</sup> बताया गया है। इन्होंने भी अपने जीवन के अन्तिम चरण में संन्यास ग्रहण कर ३ माह की कठिन तपस्या के पश्चात् पीपल वृक्ष के नीचे बोधि-ज्ञान प्राप्त किया<sup>५</sup> तथा सम्मेतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।<sup>६</sup> इनकी शिष्य सम्पदा में एक लाख साधु और एक लाख २० हजार साध्वियाँ थीं।<sup>७</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों—पद्मोत्तर राजा और प्राणत स्वर्ग में बीस सागर की स्थिति वाले देव के रूप में जन्म ग्रहण करने का उल्लेख है।

इनका भी उल्लेख अन्य परम्पराओं में देखने को नहीं मिलता है।

## ११. श्रेयांस

जैनपरम्परा में श्रेयांस को ग्यारहवें तीर्थकर के रूप में माना गया है।<sup>८</sup> इनका जन्म सिंहपुर के राजा विष्णु के यहाँ हुआ बताया जाता है। इनकी माता विष्णु देवी थीं।<sup>९</sup> इनके शरीर की ऊँचाई ८० धनुष तथा वर्ण स्वर्णिम बताया गया है।<sup>१०</sup> इन्होंने २ माह की कठिन तपस्या के बाद तिन्दुक वृक्ष के नीचे बोधि-ज्ञान प्राप्त किया था।<sup>११</sup> इनको भी सम्मेत

१. समवायांग गा० १५७, विशेषावश्यकभाष्य, १७५८; १०९१, १११२; आवश्यकनिर्युक्ति, ३७०।
२. समवायांग गा० १५७; आवश्यकनिर्युक्ति, ३८३, ३८५, ३८८।
३. वही, गा० ९०; आवश्यकनिर्युक्ति, ३७९।
४. आवश्यकनिर्युक्ति, ३७६।
५. समवायांग, गा० १५७।
६. आवश्यकनिर्युक्ति, ३०७।
७. वही, २५७, २६१।
८. समवायांग गा० १५७; विशेषावश्यकभाष्य, १७५१, १६६९, १७५८; आवश्यकनिर्युक्ति, ३७०, ४२०, १०९२।
९. समवायांग गा० १५७; आवश्यकनि०, ३८३, ३८५, ३८८।
१०. वही, गा० ८०; आ० नि० ३७९, ३७६।
११. वही, गा० १५७।

शिखर पर निर्वाण प्राप्त हुआ था ।<sup>१</sup> इनके संघ में ८४ हजार भिक्षु और १ लाख ६ हजार भिक्षुणियाँ थीं ।<sup>२</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों—नलिनीगुलम राजा और ऋद्धिमान देव का उल्लेख हुआ है ।

अन्य परम्पराओं में इनका भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है ।

### १२. वासुपूज्य

वासुपूज्य वर्तमान अवसर्पिणी काल के बारहवें तीर्थंकर माने जाते हैं ।<sup>३</sup> इनके पिता का नाम वसुपूज्य एवं माता का नाम जया था तथा इनका जन्मस्थान चम्पा माना गया है ।<sup>४</sup> इनके शरीर की ऊँचाई ७० धनुष बताई गई है ।<sup>५</sup> इनके शरीर का वर्ण लाल बताया गया है ।<sup>६</sup> इन्होंने भी तपश्चरण कर पाटला वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त किया था ।<sup>७</sup> इनकी शिष्य सम्पदा में ७२ हजार भिक्षु और एक लाख ३ हजार भिक्षुणियाँ थीं ।<sup>८</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों—पद्मोत्तर राजा और ऋद्धिमान देव का उल्लेख मिलता है ।

अन्य परम्पराओं में इनका भी उल्लेख नहीं मिलता है ।

### १३. विमल

जैन परम्परा में विमल को तेरहवाँ तीर्थंकर माना गया है ।<sup>९</sup> इनके पिता का नाम कृतवर्मा एवं माता का नाम श्यामा और जन्मस्थान काम्पिल्यपुर माना गया है ।<sup>१०</sup> इनके शरीर की ऊँचाई साठ धनुष और रंग कांचन बताया गया है ।<sup>११</sup> इन्होंने भी अपने जीवन के अन्तिम चरण

१. आवश्यकनियुक्ति, ३०४, ३०७ ।
२. वही, २५७, २६१ ।
३. समवायांग, गा० १५७; विशेषावश्यकभाष्य १६५७, १७५८; आ० नि०, ३७०, १०९२ ।
४. वही, १५७; आवश्यकनि० ३८३, ३८५, ३८८ ।
५. वही, गा० ७०; आ० नि० ३७९ ।
६. आवश्यकनियुक्ति, ३७७ ।
७. समवायांग, गा० १५७ ।
८. वही, १५७; आवश्यकनि० २५७, २६१ ।
९. समवायांग, गा० १५७; वि० आ० भा० १७५८; आ० नि० ३७१, १०९३ ।
१०. वही, १५७; आ० नि० ३८२, ३८८ ।
११. वही, ६०; आ० नि० ३७९, ३७६ ।

७४ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

में कठिन तपस्या को और जम्बू वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त किया।<sup>१</sup> अपनी साठ लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर अन्त में सम्मत्शिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।<sup>२</sup> इनके संघ में ६८ हजार साधु एवं एक लाख एक सौ आठ साध्वियों के होने का उल्लेख प्राप्त होता है।<sup>३</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों—पद्मसेन राजा और ऋद्धिमान देव का उल्लेख हुआ है।

इनका भी उल्लेख अन्य परम्पराओं में उपलब्ध नहीं है।

### १४. अनन्त

अनन्त जैन परम्परा के चौदहवें तीर्थंकर माने गये हैं।<sup>४</sup> इनके पिता का नाम सिंहसेन एवं माता का नाम सुयशा और जन्मस्थान अयोध्या माना गया है।<sup>५</sup> इनके शरीर की ऊँचाई ५० धनुष और वर्ण कांचन बताया गया है।<sup>६</sup> इनको अशोक वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।<sup>७</sup> इन्होंने ३० लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण लाभ किया।<sup>८</sup> इनकी शिष्य सम्पदा में ६६ हजार भिक्षु और एक लाख आठ सौ भिक्षुणियों के होने का उल्लेख है।<sup>९</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों—पद्मरथ राजा और पुष्पोत्तर विमान में बीस सागरोपम की स्थिति वाले देव का उल्लेख है।

इनका उल्लेख हमें अन्य परम्पराओं में नहीं मिलता है।

### १५. धर्म

धर्म वर्तमान अवसर्पिणी काल के पन्द्रहवें तीर्थंकर माने गए हैं।<sup>१०</sup> इनके पिता का नाम भानु एवं माता का नाम सुव्रता और जन्मस्थान रत्नपुर माना गया है।<sup>११</sup> इनके शरीर की ऊँचाई ४५ धनुष और वर्ण

१. समवायांग, गा० १५७।
२. कल्पसूत्र, १९२, आ० नि० २७२-३२५, ३२६।
३. समवायांग, गा० १५७।
४. वही, १५७, विशेषावश्यकभा० १७५८।
५. वही, १५७; आ० नि० ३८६, ३८८।
६. वही, ५०, आ० नि० ३७९, ३७७।
७. वही, १५७।
८. आवश्यकनियुक्ति, २७२-३०५।
९. वही, २५६।
१०. समवायांग, गा० १५७, विशेषावश्यकभाष्य १७५९, आ० नि० १०९४।
११. वही, १५७, आ० नि० ३८३, ३८६ ३८८।

स्वर्णिम बताया गया है।<sup>१</sup> इन्होंने जीवन की सान्ध्य वेला में कठिन तपस्या कर दधिपर्ण वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त किया।<sup>२</sup> इन्होंने एक लाख पूर्व वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त किया। जैन ग्रन्थों के अनुसार इनके संघ में ६४ हजार साधु एवं ६२ हजार ४ सौ साध्वियाँ थीं।<sup>३</sup> त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्व भवों—दृढरथ राजा और अहमिन्द्रदेव का वर्णन उपलब्ध है।

अन्य परम्पराओं में इनका कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

## १६. शान्ति

जैन परम्परा में शान्तिनाथ को सोलहवाँ तीर्थंकर माना गया है।<sup>४</sup> इनके पिता का नाम विश्वसेन एवं माता का नाम अचिरा और जन्मस्थान हस्तिनापुर माना गया है।<sup>५</sup> इनके शरीर की ऊँचाई ४० धनुष और वर्ण स्वर्णिम कहा गया है।<sup>६</sup> इन्होंने एक वर्ष को कठिन तपस्या के बाद नन्दी वृक्ष के नीचे बोधिज्ञान या केवलज्ञान प्राप्त किया।<sup>७</sup> अपनी एक लाख वर्ष की आयु पूर्ण करने के पश्चात् इन्होंने सम्मत्तशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।<sup>८</sup> इनकी शिष्य सम्पदा में ६२ हजार भिक्षु और ६१ हजार ६ सौ भिक्षुणियाँ थी, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।<sup>९</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र में इनके दो पूर्व भवों—मेघरथ राजा और सर्वार्थसिद्धि विमान में देव बनने का उल्लेख हुआ है।

यद्यपि शान्तिनाथ का उल्लेख बौद्ध एवं वैदिक परम्पराओं में नहीं मिलता है, किन्तु “मेघरथ” के रूप में इनके पूर्वभव की कथा हिन्दू पुराणों में महाराजा शिवि के रूप में मिलती है।

भगवान् शान्ति अपने पूर्वभव में राजा मेघरथ थे। उस समय जब वे ध्यान चिन्तन में लीन थे, एक भयातुर कपोत उनकी गोद में गिरकर

१. वही, ४५, आ० नि० ३७७, ३७९।
२. वही, १५७।
३. आ० नि०, २५६।
४. समवायांग, गा० १५७, उत्तराध्ययन १८।३३, वि० भा० १७५९।
५. वही, १५८, आ० नि० ३८३, ३९८, ३९९।
६. वही, ४०, आ० नि० ३७७, ३९२, ३७९।
७. वही, १५७।
८. कल्पसूत्र, आ नि० २७२-३०४, ३०७, ३०९।
९. समवायांग, गा० १५७, आ० नि० २५८, २६०, २६२।



उनसे अपने प्राणों की रक्षा के लिए प्रार्थना करता है। जैसे ही राजा ने उसे अभयदान दिया, उसी समय एक बाज उपस्थित होता है और राजा से प्रार्थना करता है कि कपोत मेरा भोज्य है, इसे छोड़ देवें, क्योंकि मैं बहुत भूखा हूँ।

राजा उस बाज से कहते हैं कि उदर पूर्ति के लिए हिंसा करना घोर पाप है, अतः तुम्हें इस पाप से विरत रहना चाहिए। शरणागत की रक्षा करना मेरा धर्म है, अतः तुम्हें भी इस पाप से दूर रहना चाहिए, किन्तु बाज पर इस उपदेश का कोई असर न हुआ। अन्त में बाज कबूतर के बराबर मांस मिलने पर कबूतर को छोड़ देने पर राजी हो गया। राजा मेघरथ ने तराजू के एक पलड़े में कबूतर को और दूसरे पलड़े में अपने शरीर से मांस के टुकड़ों को रखना शुरू कर दिया। परन्तु कबूतर वाला पलड़ा भारी पड़ता रहा, अन्त में ज्यों ही राजा उस पलड़े में बैठने को तत्पर हुए उसी समय एक देव प्रकट हुआ और उनकी प्राणिरक्षा की वृत्ति की प्रशंसा की। कबूतर एवं बाज अदृश्य हो गए। राजा पहले की तरह स्वस्थ हो गए।

इसी तरह की कथा महाभारत के वनपर्व में राजा शिवि की उल्लिखित है। राजा शिवि अपने दिव्य-सिंहासन पर बैठे हुए थे, एक कबूतर उनकी गोद में गिरता है और अपने प्राणों की रक्षा के लिए प्रार्थना करता है— महाराज, बाज मेरा पीछा कर रहा है, मैं आपकी शरण में आया हूँ। इतने में बाज भी उपस्थित हो जाता है और कहता है कि महाराज, कपोत मेरा भोज्य है, इसे आप मुझे दे दें। राजा ने कपोत देने से मना कर दिया और बदले में अपना मांस देना स्वीकार किया। तराजू के एक पलड़े में कपोत और दूसरे में राजा शिवि अपने दायीं जांघ से मांस काट-काटकर रखने लगे, फिर भी कपोत वाला पलड़ा भारी ही पड़ता रहा। अतः स्वयं राजा तराजू के पलड़े पर चढ़ गए। ऐसा करने पर तनिक भी उन्हें क्लेश नहीं हुआ। यह देखकर बाज बोल उठा—‘हो गयी कबूतर की रक्षा’, और वह अन्तर्धान हो गया।

अब राजा शिवि ने कबूतर से पूछा कि वह बाज कौन था, तो कबूतर ने कहा कि वह बाज साक्षात् इन्द्र थे और मैं अग्नि हूँ। राजन्! हम दोनों आपकी साधुता देखने के लिए यहाँ आये थे।

इन दोनों ही कथाओं का जब तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं तो दिखायी देता है कि दोनों में ही जीव हिंसा को पाप बताया गया है और अहिंसा के पालन पर जोर दिया गया है। यद्यपि इन दोनों कथाओं में कथा-

नायक राजा मेघरथ और राजा शिवि के नामों में भिन्नता है। किन्तु कथा की विषयवस्तु और प्रयोजन अर्थात् प्राणी रक्षा दोनों में समान है।

### १७. कुन्थु

कुन्थुनाथ को जैन परम्परा में सत्रहवाँ तीर्थंकर माना गया है।<sup>१</sup> इनके पिता का नाम सूर्य एवं माता का नाम श्री और जन्मस्थान गजपुर अर्थात् हस्तिनापुर माना गया है।<sup>२</sup> इनके शरीर की ऊँचाई ३५ धनुष और वर्ण कांचन बताया गया है।<sup>३</sup> इनको तिलक वृक्ष के नीचे कठिन तपस्या के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।<sup>४</sup> अपनी ९५ हजार वर्ष की आयु पूर्ण करने के बाद इन्होंने भो सम्मत्शिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।<sup>५</sup> इनके संघ में ६० हजार साधु एवं ६० हजार ६ सौ साध्वियों के होने का उल्लेख है।<sup>६</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों—सिंहावह राजा और अहमिन्द्र देव का उल्लेख है।

इनके विषय में अन्य परम्पराओं में कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

### १८. अरनाथ

अरनाथ वर्तमान अवसर्पिणी काल के अट्ठारहवें तीर्थंकर माने गये हैं।<sup>७</sup> इनके पिता का नाम सुदर्शन एवं माता का नाम श्रीदेवी और जन्म-स्थान हस्तिनापुर माना गया है।<sup>८</sup> इनके शरीर की ऊँचाई ३० धनुष और रंग स्वर्णिम बताया गया है।<sup>९</sup> इन्होंने जीवन के अन्तिम चरण में संन्यास ग्रहण कर तीन वर्ष तक कठोर तपस्या की, तत्पश्चात् सर्वज्ञ बने।<sup>१०</sup> इनको

१. समवायांग गा० १५७, १५८, आ० नि० ३७१, ३७४, ३८४, ३९८, ३९९, ४१८, विशोषावश्यकभाष्य १७५९।

२. समवायांग, १५८।

३. वही, ३५, आ० नि० ३८०, ३७७।

४. वही, १५७।

५. वही, ९५, आ० नि० २७२-३०५, ३०७।

६. आ० नि० २५८।

७. समवायांग, १५७, स्थानांग, ४११, वि० भा० १७५९, आ० नि०, ३७१, ४१८, ४२१, १०९५।

८. समवायांग, गा० १५७-१५८, आ० नि० ३८३, ३९८-९९।

९. वही, ३०, आ० नि० ३८०, ३९३।

१०. आवश्यकनियुक्ति २२४, २३८।

केवल ज्ञान आम्र के वृक्ष के नीचे प्राप्त हुआ।<sup>१</sup> अपनी ८४ हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर इन्होंने भी सम्मैतशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।<sup>२</sup> इनकी शिष्य सम्पदा में ५० हजार साधु एवं ६० हजार साध्वियाँ थीं ऐसा उल्लेख है।<sup>३</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों—धनपति राजा और महर्द्धिक देव का उल्लेख हुआ है।

पं० दलमुख भाई मालवणिया ने 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' की भूमिका में अर की बौद्धपरम्परा के अरक बुद्ध से समानता दिखाई है। बौद्ध परम्परा में अरक नामक बुद्ध का उल्लेख प्राप्त होता है। भगवान् बुद्ध ने पूर्वकाल में होने वाले सात शास्ता वीतराग तीर्थंकरों की बात कही है। आश्चर्य यह है कि उसमें भी इन्हें तीर्थंकर (तित्थंकर) कहा गया है।<sup>४</sup> इसी प्रसंग में भगवान् बुद्ध ने अरक का उपदेश कैसा था वर्णन किया है। उनका उपदेश था कि सूर्य के निकलने पर जैसे घास पर स्थित ओस बिन्दु तत्काल विनष्ट हो जाते हैं, वैसे ही मनुष्य का यह जीवन भी मरणशील होता है इस प्रकार ओस बिन्दु को उग्रमा देकर जीवन की क्षणिकता<sup>५</sup> बताई गई है। उत्तराध्ययन में भी एक गाथा इसी तरह को उपलब्ध है—

“कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।

एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए ॥”<sup>६</sup>

इसमें भी जीवन की क्षणिकता के बारे में कहा गया है। अतः भगवान् बुद्ध द्वारा वर्णित अरक का हम जैन परम्परा के अट्ठारहवें तीर्थंकर अर के साथ कुछ मेल बैठ सकते हैं या नहीं यह विचारणीय है। जैनशास्त्रों के आधार से अर की आयु ८४००० वर्ष मानी गई है और उनके

१. समवायांग, गा० १५७ ।

२. कल्पसूत्र १८७, आ० नि० २५८-२६३, ३०५, ३०७ ।

३. आवश्यकनियुक्ति, २५८ ।

४. “भूपुव्वं भिक्खवे सुनेत्तो नाम सत्था अहोसितित्थंकरो कामेसु वीतरागो.... मुगपक्ख ...अरनेमि....कुटालक ...हत्थिपाल....जोतिपाल....अरको नाम सत्था अहोसि तित्थंकरो कामेसु वीतरागो । अरकस्स सोपन, भिक्खवे सत्थुनो अनेकानि सावकसतानि अहेनु ।”

—अंगुत्तर निकाय भा० ३, पृ० २५६-२५७

५. अंगुत्तर निकाय, भाग ३, अरकसुत्त, पृ० २५७-५८ ।

६. उत्तराध्ययन अ० १० ।

बाद होने वाले मल्लि तीर्थंकर की आयु ५५ हजार वर्ष है। अतएव पौराणिक दृष्टि से विचार किया जाय तो अरक का समय अर और मल्लि के बीच ठहरता है। इस आयु के भेद को न माना जाय तो इतना कहा ही जा सकता है कि अर या अरक नामक कोई महान् व्यक्ति प्राचीन पुराणकाल में हुआ था जिन्हें बौद्ध और जैन दोनों ने तीर्थंकर का पद दिया है। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस अरक से भी पहले बुद्ध के मत से अरनेमि नामक एक तीर्थंकर हुए हैं। बौद्ध परम्परा में बताये गये अरनेमि और जैन तीर्थंकर अर का भी कोई सम्बन्ध हो सकता है, यह विचारणीय है। नामसाम्य तो आंशिक रूप से है ही और दोनों की पौराणिकता भी मान्य है। हमारी दृष्टि में अरक का सम्बन्ध अर से और अरनेमि का सम्बन्ध अरिष्टनेमि से जोड़ा जा सकता है। बौद्ध परम्परा में अरक का जो उल्लेख हमें प्राप्त होता है उसे हम जैन परम्परा के अर-तीर्थंकर के काफी समीप पाते हैं।

### १९. मल्लि

“मल्लि” को इस अवसर्पिणी काल का १९ वां तीर्थंकर माना गया है।<sup>१</sup> इनके पिता का नाम कुंभ और माता का नाम प्रभावती था। मल्लि की जन्मभूमि विदेह की राजधानी मिथिला मानी गयी है।<sup>२</sup> इनके शरार की ऊँचाई २५ धनुष और रंग सांवाला माना गया है।<sup>३</sup> सम्भवतः जैन परम्परा के अंग साहित्य में महावीर के बाद यदि किसी का विस्तृत उल्लेख मिलता है तो वह मल्लि का है। ज्ञाताधर्मकथा में मल्लि के जीवनवृत्त का विस्तार से उल्लेख उपलब्ध है। जैनधर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराएँ मल्लि के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विशेष तौर से इस बात को लेकर कि वे पुरुष थे या स्त्री मतभेद रखती हैं। दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि मल्लि पुरुष थे, जबकि श्वेताम्बर परम्परा उन्हें स्त्री मानती है। सामान्यतया जैन परम्परा में यह माना गया है कि पुरुष ही तीर्थंकर होता है किन्तु श्वेताम्बर आगम साहित्य में यह भी उल्लेख है कि इस काल चक्र में जो विशेष आश्चर्यजनक १० घटनाएँ हुईं उनमें महावीर का गर्भापहरण और मल्लि का स्त्रीरूप में तीर्थंकर होना विशेष महत्त्वपूर्ण है।

श्वेताम्बर आगम ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार मल्लि के सौन्दर्य पर

१. समवायांग, १५७, विशेष० भा० १७५९।

२. समवायांग, १५७, आ० नि० ३८६।

३. समवायांग, गा० २५, ५५, आवश्यकनियुक्ति, ३७७, ३८०।

मोहित होकर साकेत के राजा प्रतिबुद्ध, चम्पा के राजा चन्द्रछाग, कुणाल के राजा रुक्मि, वाराणसी के राजा शंख, हस्तिनापुर के राजा अदीनशत्रु और कम्पलपुर के राजा जितशत्रु इनसे विवाह करना चाहते थे, किन्तु इन्होंने अपने युक्ति बल से छहों को समझाकर वैराग्य के मार्ग पर लगा दिया। इन सभी ने मल्लि के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। मल्लि ने जिन दिन संन्यास ग्रहण किया उसी दिन उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया। मल्लि के ४० हजार श्रमण, ५० हजार श्रमणियाँ और १ लाख ८४ हजार गृहस्थ उपासक तथा ३ लाख ६५ हजार गृहस्थ उपासिकाय थीं।<sup>१</sup>

जैन परम्परा के अनुसार इन्होंने सम्मत्शिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।<sup>२</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों—महाबल राजा और अर्हमिन्द्र देव का उल्लेख हुआ है।

## २०. मुनिसुव्रत

जैन परम्परा में बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत माने गए हैं।<sup>३</sup> इनके पिता का नाम सुमित्र एवं माता का नाम पद्मावती और जन्मस्थान राजगृह माना गया है।<sup>४</sup> इनके शरीर की ऊँचाई २० धनुष और वर्ण गहरा नीला माना गया है।<sup>५</sup> इन्होंने जीवन की संघ्यावेला में चम्पक वृक्ष के नीचे कठोर तपस्या कर केवलज्ञान प्राप्त किया<sup>६</sup> और अपनी ३० हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण को प्राप्त किया।<sup>७</sup> इनके संघ में ३० हजार मुनियों एवं ५० हजार साध्वियों के होने का उल्लेख है।<sup>८</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों—सुरश्रेष्ठ राजा और अर्हमिन्द्र देव का उल्लेख है।

इनके विषय में अन्य परम्पराओं में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

१. आवश्यकनियुक्ति, २५८।
२. वही, २७२-३०५, ३०७।
३. समवायांग, गा० १५७, स्थानांग ४११, वि० आ० भा० १७५९।
४. वही, १५७, आ० नि० ३८३।
५. वही, २०, आवश्यकनियुक्ति २७७, ३७९।
६. वही, १५७।
७. वही, ३०५, ३२५।
८. वही, २५९, २७८, समवायांग, गा० ५०।

## २१. नमि-तीर्थंकर

नमिनाथ वर्तमान अवसर्पिणी काल के इक्कीसवें तीर्थंकर माने गये हैं।<sup>१</sup> इनका जन्म मिथिला के राजा विजय की रानी वप्रा की कुक्षि से माना गया है।<sup>२</sup> इनके शरीर की ऊँचाई १५ धनुष और वर्ण कांचन माना गया है।<sup>३</sup> इन्होंने दोरसली वृक्ष के नीचे कठिन तपस्या कर केवल ज्ञान प्राप्त किया।<sup>४</sup> अपनी १० हजार वर्ष की आयु व्यतीत कर इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।<sup>५</sup> इनकी शिष्य सम्पदा में २० हजार भिक्षु और ४१ हजार भिक्षुणियाँ थीं ऐसा उल्लेख है।<sup>६</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके दो पूर्वभवों का उल्लेख है—सिद्धार्थ राजा और अपराजित विमान में ३३ सागर की आयु वाले देव।

बौद्ध एवं हिन्दू परम्पराओं में इनका उल्लेख उपलब्ध है। बौद्ध परम्परा में नमि नामक प्रत्येकबुद्ध का और हिन्दू परम्परा में मिथिला के राजा के रूप में नमि का उल्लेख है।

उत्तराध्ययनसूत्र के ९ वें अध्याय “नमि प्रव्रज्या” में नमि के उपदेश विस्तार से संकलित हैं। सूत्रकृतांग में अन्य परम्परा के ऋषियों के रूप में तथा उत्तराध्ययन के १८ वें अध्याय में प्रत्येकबुद्ध के रूप में भी नमि का उल्लेख है। यद्यपि तीर्थंकर नमि और इन ग्रन्थों में वर्णित नमि एक ही हैं यह विवादास्पद है। जैनाचार्य इन्हें भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं—किन्तु हमारी दृष्टि में वे एक ही व्यक्ति हैं वस्तुतः नमि की चर्चा उस युग में सर्व-सामान्य थी—अतः जैनों ने उन्हें आगे चलकर तीर्थंकर के रूप में मान्य कर लिया। उत्तराध्ययन के ‘नमि’ तीर्थंकर नमि ही हैं, क्योंकि दोनों का जन्म स्थान भी मिथिला ही है।

## २२. अरिष्टनेमि-तीर्थंकर

अरिष्टनेमि वर्तमान अवसर्पिणी काल के बाईसवें तीर्थंकर माने गए हैं।<sup>१०</sup>

१. समवायांग, ३०, ४१, १५८, कल्पसूत्र १८४, स्था० ४११, आ० नि० ३७१, ४१९ वि० आ० भा० १७५९।
२. समवायांग १५७, आ० नि० ३८६, ३८९।
३. वही, १५७, आ० नि० ३८० ३७७।
४. वही, १५७।
५. स्थानांग ७३५, आ० नि० २७२-३०५।
६. आवश्यकनियुक्ति, २५८।
७. समवायांग, गा० १५७, उक्त० नि०, पृ० ४९६।

यह पार्श्व के पूर्ववर्ती तीर्थंकर तथा कृष्ण के समकालीन माने गए हैं। इनके पिता का नाम समुद्रविजय और माता का नाम शिवा देवी कहा जाता है। इनका जन्म स्थान शौरीपुर माना गया है।<sup>१</sup> इनको ऊँचाई १० धनुष और वर्ण सांवला था।<sup>२</sup> त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके नौ पूर्वभवों का उल्लेख हुआ है—धनकुमार, अपराजित आदि। इनके एक भाई रथनेमि थे<sup>३</sup> जिनका विशेष उल्लेख उत्तराध्ययन के २२वें अध्याय में उपलब्ध होता है। राजीमती के साथ इनका विवाह निश्चित हो गया था किन्तु विवाह के समय जाते हुए इन्होंने मार्ग में अनेक पशु-पक्षियों को एक बाड़े में बन्द देखा तो इन्होंने अपने सारथि से जानकारी प्राप्त की, कि यह सब पशु-पक्षी किसलिए बाड़े में बन्द कर दिए गए हैं। सारथि ने बताया कि यह आपके विवाहोत्सव के भोज में मारे जाने के लिए इस बाड़े में बन्द किए गए हैं। अरिष्टनेमि को यह जानकर बहुत धक्का लगा कि मेरे विवाह के निमित्त इतने पशु-पक्षियों का वध होगा, अतः वे बारात से बिना विवाह किए ही वापस लौट आए तथा विरक्त होकर कुछ समय के पश्चात् संन्यास ले लिया। इनको संन्यास ग्रहण करने के ५४ दिन पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ। राजीमती, जिससे उनका विवाह-सम्बन्ध तय हो गया था, ने भी उनका अनुसरण करते हुए संन्यास ग्रहण कर लिया।

अरिष्टनेमि के १८ हजार भिक्षु और ४० हजार भिक्षुणियाँ थीं।<sup>४</sup> इनको निर्वाणलाभ उर्जयन्त शिखर पर हुआ था।<sup>५</sup> अरिष्टनेमि महाभारत के काल में हुए थे। महाभारत का काल ई० पू० १००० के लगभग कहा जाता है। महाभारत के काल के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है किन्तु यह सत्य है कि कृष्ण महाभारत काल में हुए थे और अरिष्टनेमि या नेमिनाथ उनके चचेरे भाई थे। डॉ० फुहरर (Fuhrrer) ने जैनों के २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ को ऐतिहासिक व्यक्ति माना है।<sup>६</sup> अन्य विद्वानों ने भी नेमिनाथ को ऐतिहासिक पुरुष माना है। प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार ने

१. उत्तराध्ययन अ० २२, समवायांग १५७, आ० नि० ३८६।

२. समवायांग, गा० १०, आ० नि०, गा० ३८०, ३७७।

३. (अ) उत्तराध्ययन अध्याय २२, (ब) उत्तराध्ययन नियुक्ति, पृ० ४९६,  
(स) दशवैकालिकचूर्ण, पृ० ८७।

४. आवश्यकनियुक्ति, २५८।

५. तिलोपपण्णत्ति, ४।११८५-१२०८।

६. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द १ पृ० ३८९।

काठियावाड़ में प्रभासपट्टन नामक स्थान से प्राप्त एक ताम्रपत्र को पढ़कर बताया है कि वह बाबुल देश (Babylonia) के सम्राट् नेबुशदनेजर ने उत्कीर्ण कराया था, जिनके पूर्वज रेवानगर के राज्याधिकारी भारतीय थे। सम्राट् नेबुशदनेजर ने भारत में आकर गिरनार पर्वत पर नेमिनाथ भगवान् की वन्दना की थी। इससे नेमिनाथ की ऐतिहासिकता स्पष्टरूप से सिद्ध हो जाती है।

जैन परम्परा के अनुसार अरिष्टनेमि कृष्ण के चचेरे भाई थे। अंतकृत-दशांग के अनुसार कृष्ण के अनेक पुत्रों और पत्नियों ने अरिष्टनेमि के समीप संन्यास ग्रहण किया था। जैन आचार्यों ने इनके जीवनवृत्त के साथ-साथ कृष्ण के जीवनवृत्त का भी काफी विस्तार के साथ उल्लेख किया है। जैन हरिवंशपुराण में तथा उत्तरपुराण में इनके और श्रीकृष्ण के जीवनवृत्त विस्तार के साथ उल्लिखित हैं। ऋग्वेद में अरिष्टनेमि के नाम का उल्लेख है<sup>१</sup> किन्तु नाम उल्लेख मात्र से यह निर्णय कर पाना अत्यन्त कठिन है कि वेदों में उल्लिखित अरिष्टनेमि जैनों के २२वें तीर्थंकर हैं या कोई और। जैनपरम्परा अरिष्टनेमि को श्रीकृष्ण का गुरु मानती है। इसी आधार पर कुछ विद्वानों में छान्दोग्य उपनिषद् में देवकी पुत्र कृष्ण के गुरु घोर अंगिरस के साथ अरिष्टनेमि की साम्यता बताने का प्रयास किया है। धर्मानन्द कोशाम्बी का मन्तव्य है कि अंगिरस भगवान् नेमिनाथ का ही नाम था।<sup>२</sup> यह निश्चित ही सत्य है कि अरिष्टनेमि और घोर अंगिरस दोनों ही अहिंसा के प्रबल समर्थक हैं<sup>३</sup> किन्तु इस उपदेश साम्यता के आधार पर दोनों को एक मान लेना कठिन है। अरिष्टनेमि की नाम साम्यता बौद्धपरम्परा के अरनेमि बुद्ध से भी देखी जाती है जो विचारणीय है।

### २३. पाश्र्वनाथ-तीर्थंकर

पाश्र्व को वर्तमान अवसर्पिणी काल का तेईसवाँ तीर्थंकर माना गया है।<sup>३</sup> महावीर के अतिरिक्त जैन तीर्थंकरों में पाश्र्व ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनको असन्दिग्धरूप से ऐतिहासिक व्यक्ति माना जा सकता है। इनके

१. ऋग्वेद १।१४।८९।६, १।२४।१८०।१०,

३।४।५३।१७, १०।१२।१७८।१।

२. छान्दोग्योपनिषद्, ३।१७।४-६।

३. समवायांग, गाथा २४।



पिता का नाम अश्वसेन, माता का नाम वामा और जन्मस्थान वाराणसी माना गया है।<sup>१</sup> इनके शरीर की ऊँचाई नौ रत्ति अर्थात् नौ हाथ तथा वर्ण श्याम माना गया है।<sup>२</sup> इनके पिता वाराणसी के राजा थे। जैन कथा साहित्य में हमें उनके दो नाम उपलब्ध होते हैं—अश्वसेन और ह्यसेन। महाभारत में वाराणसी के जिन राजाओं का उल्लेख उपलब्ध है उनमें से एक नाम हर्यअश्व ही है, सम्भावना की जा सकती है कि हर्यअश्व और अश्वसेन एक ही व्यक्ति रहे हों।

**पार्श्व की ऐतिहासिकता**—डा० सागरमल जैन के अनुसार किसी भी व्यक्ति की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। पार्श्व की ऐतिहासिकता के विषय में अभी तक ईसापूर्व का कोई अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध नहीं हुआ है। भारत में प्राप्त अभी तक पढ़े जा सकने वाले प्राचीनतम अभिलेख मौर्यकाल से अधिक प्राचीन नहीं हैं। मौर्यकालीन अभिलेखों में निर्ग्रन्थों का तो उल्लेख है किन्तु पार्श्व का कोई उल्लेख नहीं है।

परम्परागत मान्यताओं के आधार पर पार्श्वनाथ मौर्यकाल से ४०० वर्ष पूर्व हुए हैं, किन्तु इनके सम्बन्ध में अभिलेखीय साक्ष्य ईसा की प्रथम शताब्दी का उपलब्ध है।<sup>३</sup> मथुरा के अभिलेख संख्या ८३ में स्थानीय कुल के गणि उगगहीनिय के शिष्य वाचक घोष द्वारा अर्हत् पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा को स्थापित करने का उल्लेख है।<sup>४</sup> डा० जैकोबी ने बौद्ध साहित्य के उल्लेखों के आधार पर निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रमाणित करते हुए लिखा है कि “बौद्ध निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय को एक प्रमुख सम्प्रदाय मानते थे, किन्तु निर्ग्रन्थ अपने प्रतिद्वन्द्वी अर्थात् बौद्धों की उपेक्षा करते थे। इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि बुद्ध के समय निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय कोई नवीन स्थापित सम्प्रदाय नहीं था। यही मत पिटकों का भी जान पड़ता है।”<sup>५</sup>

डा० हीरालाल जैन ने लिखा है—“बौद्ध ग्रन्थ ‘अंगुत्तरनिकाय’ ‘चत्तु-क्कनिपात’ (वग ५) और उसकी ‘अट्टकथा’ में उल्लेख है कि गौतम बुद्ध

१. कल्पसूत्र, १५०, समवायांग, गा० १५७, आवश्यकनियुक्ति, गा० ३८४-८९।
२. समवायांग, गा० ९, आवश्यकनियुक्ति, गा० ३८०, ३७७।
३. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, पृ० १।
४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, लेख संख्या ८३।
५. Indian Antiquary, Vol. 9th, Page 160.

का चाचा (वप्प शाक्य) निर्ग्रन्थ श्रावक था।<sup>१</sup> अब यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ये निर्ग्रन्थ कौन थे? यह महावीर के अनुयायी तो हो नहीं सकते क्योंकि महावीर बुद्ध के समसामयिक हैं। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि महावीर और बुद्ध से पहले निर्ग्रन्थों की कोई परम्परा अवश्य रही होगी, जिसका अनुयायी बुद्ध का चाचा था। अतः हम कह सकते हैं कि बुद्ध और महावीर के पूर्व पार्श्वपत्यों की परम्परा रही होगी। पालित्रिपिटक साहित्य में पार्श्वनाथ की परम्परा का एक और प्रमाण यह है कि सच्चक का पिता निर्ग्रन्थ श्रावक था। सच्चक द्वारा महावीर को परास्त करने का आख्यान भी मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि सच्चक और महावीर समकालीन थे। अस्तु सच्चक के पिता का निर्ग्रन्थ श्रावक होना यह सिद्ध करता है कि महावीर के पूर्व भी कोई निर्ग्रन्थ परम्परा थी, जो पार्श्वनाथ की ही परम्परा रही होगी<sup>२</sup> ?

मज्झिमनिकाय के 'महासिंहनादसुत्त' में बुद्ध ने अपने प्रारम्भिक कठोर तपस्वी जीवन का वर्णन करते हुए तप के चार प्रकार बतलाए हैं— तपस्विता, रूक्षता, जुगुप्सा और प्रविविकृता। जिनका उन्होंने स्वयं पालन किया और पीछे उनका परित्याग कर दिया था।<sup>३</sup> इन चारों तपों का महावीर एवं उनके अनुयायियों ने पालन किया था। बुद्ध के दीक्षा लेने के समय तक महावीर के निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का प्रवर्तन नहीं हुआ था। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय अवश्य ही महावीर के पूर्वज पार्श्वनाथ का रहा होगा।

यह सम्भव है कि प्रथम महावीर ने पार्श्वपत्यों की परम्परा का अनुसरण कर एक वस्त्र ग्रहण किया हो, किन्तु आगे चलकर आजीवक परम्परा के अनुरूप अचेलता का अनुगमन कर लिया हो। उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप से महावीर को अचेल धर्म और पार्श्वनाथ को सचेलक धर्म का प्रतिपादक कहा गया है।<sup>४</sup> सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, भगवती आदि में मिलने वाले पार्श्वपत्यों के उल्लेखों से और उनके द्वारा महावीर की परम्परा स्वीकार करने सम्बन्धी विवरणों से निर्विवाद रूप से यह सिद्ध

१. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, मध्यप्रदेश शासन-साहित्य परिषद्, भोपाल, सन् १९६२, पृ० २१।
२. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा पृ० ४।
३. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ० २१२-२१३।
४. उत्तराध्ययन २३।२५-३०।

होता है कि पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, काल्पनिक नहीं। पार्श्व एवं उनकी परम्परा की ऐतिहासिकता तथा उनकी दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं के सन्दर्भ में पंडित सुखलालजी ने अपने ग्रन्थ चार तीर्थंकर में, पंडित दलमुखभाई ने जैनसत्यप्रकाश में प्रकाशित पार्श्व पर लिखे अपने शोध लेख में, श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने अपने ग्रन्थ भगवान् पार्श्व, एक समीक्षात्मक अध्ययन में और डॉ. सागरमल जैन ने अपने ग्रन्थ अर्हत पार्श्व और उनकी परम्परा पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला है विद्वान् पाठकगण उसे वहाँ देख सकते हैं।

यद्यपि यह आश्चर्यजनक है कि हिन्दू और बौद्ध साहित्य में कहीं भी पार्श्व के नाम का उल्लेख नहीं है जबकि प्राचीन जैन आगम साहित्य के अनेक ग्रन्थ यथा ऋषिभाषित, सूत्रकृतांग, भगवती, उत्तराध्ययन कल्प-सूत्र आदि में पार्श्व और उनके अनुयायियों के उल्लेख मिलते हैं। ऋषि-भाषित आदि तो ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की रचना है उसमें इनका उल्लेख इनकी ऐतिहासिकता को प्रमाणित करता है। बौद्ध पालि त्रिपिटक साहित्य में भी जिन चातुर्यामों का उल्लेख मिलता है उनका सम्बन्ध पार्श्वनाथ की परम्परा से है। पार्श्वनाथ ने विशेषरूप से देह-दंडन की प्रक्रिया की आलोचना की तथा ज्ञान सम्बन्धी और विवेकयुक्त तप को ही श्रेष्ठ बताया। जैनपरम्परा में पुरुषादानीय के रूप में इनका बड़े आदर के साथ उल्लेख पाया जाता है। जैनपरम्परा में पार्श्व को महावीर से भी अधिक महत्त्व प्राप्त है। उन्हें विघ्न-हरण करनेवाला बतलाया गया है। उनके यक्ष का नाम पार्श्व बतलाया गया है और उसकी आकृति हिन्दू परम्परा के गणेश के समान मानी गई है जो कि विघ्नहारी देवता हैं। पार्श्वनाथ का विहार-क्षेत्र अमलकप्पा, श्रावस्ती, चम्पा, नागपुर, साकेत, अहिच्छत्र, मथुरा, काम्पिल्य, राजगृही, कौशाम्बी, हस्तिनापुर आदि रहा है। जैनमान्यता के अनुसार इन्होंने सम्मत् शिखर पर्वत पर सौ वर्ष की आयु में परिनिर्वाण प्राप्त किया था। आज भी सम्मत्शिखर पार्श्व-नाथ पहाड़ के नाम से जाना जाता है। पार्श्वनाथ के सोलह हजार भिक्षु और अड़तिस हजार भिक्षुणियाँ थी। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके १० पूर्व भवों का उल्लेख है। यह माना जाता है कि महावीर ने पार्श्व-नाथ की परम्परा की मान्यताओं को देश और काल के अनुसार संशोधित कर नए रूप से प्रस्तुत किया। प्राचीन जैन साहित्य को देखने पर यह भी ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में पार्श्वनाथ और महावीर की परम्परा में

मतभेद रहा किन्तु आगे चलकर पार्श्वनाथ की परम्परा महावीर की परम्परा में विलीन हो गई ।

### पार्श्व का अवदान

भारतीय संस्कृति में श्रमण धारा का आवश्यक घटक तप एवं त्याग को माना गया है और यही इसकी प्रतिष्ठा का कारण रहा है । पार्श्वनाथ इसी श्रमण परम्परा के प्रतिपादक हैं । भारतीय संस्कृति को पार्श्व के अवदान की चर्चा करते हुए डॉ० सागरमल जैन लिखते हैं कि यद्यपि श्रमणों ने वैदिकों के हिंसक यज्ञ-यज्ञों का विरोध किया ही साथ ही उनके कर्म-काण्डोय प्रथा का भी बहिष्कार किया था । फिर भी श्रमण धारा में कर्म-काण्ड प्रविष्ट कर ही गया था, क्योंकि उनके तप और त्याग विवेक प्रधान न रहकर रूढ़िवादी कर्म-काण्डोय प्रथा के अनुरूप बन गए थे । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पार्श्वनाथ के युग में श्रमण धारान्तर्गत तप और त्याग के साथ कर्म-काण्ड पूरी तरह जुड़ गया था और तप देहदण्डन और बाह्याडम्बर मात्र रह गया । कठोरतम देहदण्डन द्वारा लोक में प्रतिष्ठा पाना श्रमणों और संन्यासियों का एकमात्र उद्देश्य बन गया था । सम्भवतः उपनिषदों की ज्ञानमार्गी धारा अभी पूर्णतया विकसित नहीं हो पायी थी, तदर्थ पार्श्वनाथ ने देहदण्डन और कर्मकाण्ड दोनों का विरोध किया । कमठ तापस के देहदण्डन की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा कि तुम्हारी इस साधना में आध्यात्मिक आनन्दानुभूति कहाँ है ? इसमें न तो स्वहित ही है और न परहित अथवा लोकहित ही । एक ओर तो तुम स्वयं अग्नि द्वारा अपने शरीर को झुलसा रहे हो तो दूसरी ओर अनेक छोटे-बड़े जीव-जन्तुओं को भी जला रहे हो, मात्र यही नहीं इस लक्कड़ के टुकड़े में नाग-युगल भी जल रहा है । उनकी इस बात की पुष्टि हेतु लक्कड़ को चीरकर नाग-युगल के प्राणों की रक्षा की गई । इससे यह बोध होता है कि पार्श्व के अनुसार वह साधना जो आत्म-पीड़न और पर-पीड़न से जुड़ी हो सच्चे अर्थों में साधना नहीं कही जा सकती । साधना में ज्ञान और विवेक का होना आवश्यक है । देह-दण्डन जिसमें ज्ञान और विवेक के तत्त्व नहीं हैं आत्म-पीड़न से अधिक कुछ नहीं है । देह को पीड़ा देना साधना नहीं है । साधना से तो मनोविकारों में निर्मलता आती है एवं आत्मा में सहज आनन्द की अनुभूति होती है । पार्श्वनाथ की यह शिक्षा, हो सकता है कि कमठ जैसे तापसों को अच्छी नहीं लगी हो, किन्तु इसमें एक सत्य निहित है । धर्म साधना को न तो आत्मपीड़न के साथ

जोड़ना चाहिए और न पर-पीड़न के साथ । वासना एवं विकारों से मुक्ति ही वास्तविक अर्थ में मुक्ति है ।<sup>१</sup>

ऐसा प्रतीत होता है कि पार्श्वनाथ ने अपने युग में एक महत्वपूर्ण क्रान्ति के द्वारा साधना को सहज बनाकर ज्ञान और विवेक के तत्त्व को प्रतिष्ठित किया होगा । इस प्रकार पार्श्व ने धर्म और साधना को पर-पीड़न और आत्म-पीड़न से मुक्त करके आत्म शोधन या निर्विकारता की साधना के साथ जोड़ने का प्रयास किया है और उनकी यही शिक्षा भारतीय संस्कृति और श्रमण परम्परा को सबसे बड़ा अवदान कहा जा सकता है ।

### पार्श्व का धर्म एवं दर्शन

ऋषिभाषित (ई० पू० तीसरी-चौथी शती) में पार्श्व के दार्शनिक मान्यताओं और धार्मिक उपदेशों का उल्लेख उपलब्ध हो जाता है । हम उसी अध्याय के आधार पर उनके धर्म एवं दर्शन को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं—पार्श्व ने लोक को पारिमाणिक नित्य माना है । उनके अनुसार लोक अनादि काल से है, यद्यपि उसमें परिवर्तन होते रहते हैं । उनके अनुसार जीव और पुद्गल दोनों ही परिवर्तनशील हैं । पुद्गल में परिवर्तन स्वाभाविक होते हैं जबकि जीव में परिवर्तन कर्म जन्य होते हैं । वे यह भी कहते हैं कि व्यक्ति हिंसा, असत्य आदि पाप कर्मों के माध्यम से अष्ट प्रकार की कर्म ग्रन्थियों का सृजन करता है । इसके विपरीत जो व्यक्ति चातुर्याम धर्म का पालन करता है, वह अष्ट प्रकार की कर्म-ग्रन्थि का सृजन नहीं करता है और फलतः नारक, देव, मनुष्य और पशु गति को प्राप्त नहीं होता है । ऋषिभाषित में उपलब्ध पार्श्व के उपदेशों से ऐसा लगता है कि जैन दर्शन की पंचास्तिकाय की अवधारणा, अष्टकर्म का सिद्धान्त और चातुर्याम धर्म का पालन ये पार्श्व की मूलभूत मान्यतायें थीं । पार्श्व के दर्शन और चिन्तन के कुछ रूप हमें पार्श्व के अनुयायियों की महावीर और उनके शिष्यों के साथ हुई परिचर्चा से प्राप्त हो जाते हैं ।

भगवती, उत्तराध्ययन आदि में उपलब्ध पार्श्व की परम्परा के चिन्तन के आधार पर हम कह सकते हैं कि पार्श्व की परम्परा में तप, संयम, आस्रव और निर्जरा की सुव्यवस्थित अवधारणा थी । पार्श्व की अन्य

१. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा—पृ० २१ ।

समस्त अवधारणाओं के सन्दर्भ में डॉ० सागरमल जैन ने अपने ग्रन्थ अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा में विस्तार से विचार किया है, वे लिखते हैं कि "सत् का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होना, पंचास्तिकाय की अवधारणा, अष्ट प्रकार की कर्म ग्रन्थियाँ, शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ विपाक, कर्म विपाक के कारण चारों गतियों में परिभ्रमण तथा सामायिक, संवर, प्रत्याख्यान, निर्जरा, व्युत्सर्ग आदि सम्बन्धी अवधारणायें पार्श्वपत्य परम्परा में स्पष्ट रूप से उपस्थित थी।"<sup>१</sup>

### २४. वर्धमान महावीर

महावीर वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीसवें और अंतिम तीर्थंकर माने जाते हैं।<sup>२</sup> इनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला कहा जाता है, इनका जन्मस्थान कुण्डपुर ग्राम बताया गया है।<sup>३</sup> महावीर के जीवनवृत्त को लेकर जैनों की श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में अनेक बातों में मतभेद हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर का जीव सर्वप्रथम ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में आया था और उसके पश्चात् इन्द्र के द्वारा उनका गर्भापहरण कराकर उन्हें सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला की कुक्षि में प्रतिस्थापित किया गया।<sup>४</sup> दिगम्बर परम्परा इस कल्पना को सत्य नहीं मानती है। महावीर के विवाह प्रसंग को लेकर भी श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में मतभेद हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर का विवाह हुआ था। उनकी पुत्री प्रियदर्शना थी, जिसका विवाह जामालि से हुआ था।

दोनों परम्पराओं के अनुसार उनके शरीर की ऊँचाई सात हाथ तथा वर्ण स्वर्ण के समान माना गया है।<sup>५</sup> दोनों परंपराएँ इस बात में भी सहमत हैं कि महावीर ने तीस वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण किया था, यद्यपि उनके संन्यास ग्रहण करते समय उनके माता-पिता जीवित थे या मृत्यु का प्राप्त हो गए थे, इस बात को लेकर पुनः मतभेद है, श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर ने गर्भस्थकाल में की गई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपने माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् ही अपने भाई नन्दी से

१. इसिभासियाइं अध्याय ३१ ।
२. समवायांग, मा० २४, १५७ ।
३. कल्पसूत्र २१ ।
४. वही, २१-२६ ।
५. समवायांग गा० ७, आवश्यकनियुक्ति, ३७७ ।

आज्ञा लेकर संन्यास ग्रहण किया।<sup>१</sup> परन्तु दिगम्बर परम्पर के अनुसार महावीर ने अपने माता-पिता की आज्ञा से संन्यास ग्रहण किया था। महावीर का साधना काल अत्यन्त दीर्घ रहा, उन्होंने बारह वर्ष छः माह तपस्या करके वैशाख शुक्ल दशमी को बयालिस वर्ष की अवस्था में कैवल्यज्ञान प्राप्त किया था।<sup>२</sup> वे कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् लगभग ३० वर्ष तक अपना धर्मोपदेश देते रहे और अन्त में ७२ वर्ष की अवस्था में मध्यम-पावा में निर्वाण को प्राप्त हुए। उनके संघ में १४००० श्रमण ३६०० श्रमणियाँ थीं।<sup>३</sup>

महावीर के जीवनवृत्त सम्बन्धी प्राचीनतम उल्लेख हमें आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के उपधान सूत्र नामक नवें अध्याय में तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावना नामक अध्ययन में मिलता है। पुनः महावीर के जीवनवृत्त का विस्तृत उल्लेख कल्पसूत्र में उपलब्ध होता है। इसके पश्चात् आवश्यकचूर्णि और परवर्ती महावीर चरित्रों में मिलता है। महावीर के जीवनवृत्तों को हम काल क्रम में देखें तो ऐसा लगता है कि प्राचीन ग्रंथों में उनके जीवन के साथ बहुत अधिक अलौकिकताएँ नहीं जुड़ी हुई हैं, किन्तु क्रमशः उनके जीवनवृत्त में अलौकिकताओं का प्रवेश होता गया। जिसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं।

### महावीर की ऐतिहासिकता

महावीर की ऐतिहासिकता निर्विवाद है। महावीर के जन्मस्थल कुण्डग्राम को आजकल वसुकुण्ड कहते हैं जो कि आज भी गण्डक नदी के पूर्व में स्थित है। बसाढ़ की खुदाई से प्राप्त सिक्के और मिट्टी की सीलें ईसापूर्व लगभग तीसरी शताब्दी की कही जाती हैं। सिक्कों पर अंकित—'वसुकुण्डे जन्मे वैशालिये महावीर' से महावीर की ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। वर्धमान महावीर को बौद्ध पिटक ग्रन्थों में 'निगंठ-नातपुत्त' कहा गया है।<sup>४</sup> निग्रन्थ परम्परा का होने के कारण

१. कल्पसूत्र, ११०, ११२, आवश्यकचूर्णि प्रथम भाग, पृ० २४९, आ० नि० गा० २९९।

२. कल्पसूत्र, १२०।

३. वही, १३४-१४७।

४. (अ) संयुक्त निकाय, नानातिथिय सुत्त, २।३।१०,  
(ब) संयुक्तनिकाय, संखसुत्त ४०।८,

सम्भवतः महावीर को निगंठ (निग्रन्थ) ज्ञातृवंशीय क्षत्रीय होने के कारण नातपुत्र कहला गया हो ।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं ने महावीर को कुण्ड-ग्राम के राजा सिद्धार्थ का पुत्र माना है । दिगम्बर ग्रन्थों तिलोय-पण्णत्ति, दशभक्ति और जयधवला में सिद्धार्थ को 'णाह' वंश या नाथ वंश का क्षत्रिय कहा गया है<sup>१</sup> और श्वेताम्बर ग्रन्थ सूत्रकृतांग में 'णाय' कुल का उल्लेख है ।<sup>२</sup> इसी कारण से महावीर को णाय कुल चन्द और णाय पुत्र कहा गया है ।

णाह, णाय, णात शब्द एक ही अर्थ के वाचक प्रतीत होते हैं । इसी-लिए 'बुद्धचर्या' में श्री राहुल जी ने नाटपुत्र का अर्थ—ज्ञातृपुत्र और नाथ पुत्र दोनों किया है ।

अस्तु यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि बौद्ध ग्रन्थों के निगंथ 'नाटपुत्र' कोई और न होकर महावीर ही थे । जिस प्रकार शाक्य वंश में जन्म होने के कारण बुद्ध के अनुयायी 'शाक्यपुत्रोय श्रमण' कहे जाते थे ।<sup>३</sup> इस तरह महावीर के अनुयायी 'ज्ञातृपुत्रोय निग्रन्थ' कहे जाते थे ।<sup>४</sup>

श्री बुहलर ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन सेक्ट आफ दी जैनास्' में इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'बौद्ध पिठकों का सिंहली संस्करण सबसे प्राचीन माना जाता है । ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में उसको अन्तिम रूप दिया गया ऐसा विद्वानों का मत है । उसमें बुद्ध के विरोधी रूप में निगंठों का उल्लेख है । संस्कृत में लिखे गए उत्तरकालीन बौद्ध साहित्य में भी निग्रन्थों को बुद्ध का प्रतिद्वन्द्वी बतलाया गया है ।

(स) अंगुत्तर निकाय, पंचकनिपात ५।२।८।१७ ।

(द) मज्झिम निकाय, उपातिसुत्त २।१।६ ।

१. (अ) कुण्डपुरवरिस्सरसिद्धत्थक्खत्तियस्य णाह कुले ।

तिसिलाए देवीए देवीसदसेवमाणए ॥२३॥—जयधवला,  
भा० १, पृ० ७८ ।

(ब) 'णाहोग्गवसेसु वि वीर पासा' ॥५५०॥ तिलोयपण्णत्ति, अ० ४ ।

(स) 'उग्रनाथो पार्व वीरो'—दशभक्ति पृ० ४८ ।

२. 'णातपुत्ते महावीरे एवमाह जिणुत्तमे'—सूत्रकृतांग १ श्रु०, अ०, १ उ० ।

३. बुद्धचर्या पृ० ५५१ ।

४. वही पृ० ४८१ ।



उन निगंठों या निग्रन्थों के प्रमुख को पालि में नाटपुत्त और संस्कृत में ज्ञातृपुत्र कहा गया है। इस प्रकार यह सुनिश्चित हो जाता है कि नाटपुत्त या ज्ञातृपुत्र जैन सम्प्रदाय के अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान एक ही व्यक्ति हैं।<sup>१</sup>

बौद्ध त्रिपिटक और अन्य बौद्ध साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के प्रतिद्वन्द्वी वर्धमान (नाटपुत्त) बहुत ही प्रभावशाली थे और उनका धर्म काफी फैल चुका था।<sup>३</sup>

### महावीर युग की धार्मिक मान्यताएं

ईसा पूर्व की छठी-पाँचवीं शताब्दी धार्मिक आन्दोलन का युग था। उस समय भारत में ही नहीं सम्पूर्ण एशिया में पुरानी धार्मिक मान्यतायें खण्डित हो रही थी और नए-नए मतों या सम्प्रदायों का उदय हो रहा था। चीन में लाओत्से और कन्फ्यूसियस, ग्रीस में पाइथागोरस, सुकरात और प्लेटो तथा ईरान और परसिया में जरथुस्त्र आदि अपनी नई-नई दार्शनिक विचार-धारायें प्रस्तुत कर रहे थे। ऐसे समय में जबकि प्रत्येक मत 'सयं सयं पसंसत्ता गरहंता परं वयं' अर्थात् अपने पन्थ एवं मान्यताओं को श्रेष्ठ बताकर दूसरों की निन्दा कर रहा था, उस समय विभिन्न मतों के आपसी वैमनस्य को दूर करने के लिए वर्धमान महावीर ने अनेकान्त दर्शन की विचारधारा प्रस्तुत की थी।

बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात में उल्लेख है कि उस समय ६३ श्रमण-सम्प्रदाय विद्यमान थे।<sup>४</sup> जैन ग्रन्थ सूत्रकृतांग, स्थानांग और भगवती में भी उस युग के धार्मिक मतवादों का उल्लेख उपलब्ध है।<sup>५</sup> सूत्रकृतांग में उन सभी वादों का वर्गीकरण निम्न चार प्रकार के समवसरण में किया गया है<sup>६</sup>—

१. इन्डियन सेक्ट आफ दी जैनास्, पृ० २९।
२. वही, पृ० ३६।
३. सूत्रकृतांग १।१।२।२३।
४. यानि च तीणि यानि च सट्ठि । सुत्तनिपात, समियसुत्त।
५. (अ) स्थानांग ४।४।३४५। (ब) भगवती ३०।१।८२४।
६. किरियं अकिरियं विणियंति तइय अन्नणामहंसु च उत्थमेव । सूत्रकृतांग

१—क्रियावाद, २—अक्रियावाद, ३—विनयवाद, ४—अज्ञानवाद ।  
**क्रियावाद**—क्रियावादियों का कहना है कि आत्मा पाप-पुण्य आदि का कर्ता है ।

**अक्रियावाद**—सूत्रकृतांग में अनात्मवाद, आत्मा के अकर्तृत्ववाद, मायावाद, और नियतवाद को अक्रियावाद कहा गया है ।<sup>१</sup>

**विनयवाद**—विनयवादी बिना भेदभाव के सबके साथ विनयपूर्वक व्यवहार करता है अर्थात् सबका विनय करना ही उनका सिद्धान्त है ।

**अज्ञानवाद**—अज्ञानवादियों का कहना है कि पूर्ण ज्ञान किसी को होता नहीं है और अपूर्ण ज्ञान ही भिन्न मतों की जननी है अर्थात् ज्ञानोपार्जन व्यर्थ है और अज्ञान में ही जगत् का कल्याण है ।

सूत्रकृतांग के अनुसार अज्ञानवादी तर्क करने में कुशल होने पर भी असंबद्ध-भाषी हैं । क्योंकि वे स्वयं सन्देह से परे नहीं हो सके हैं ।<sup>२</sup>

जैन आगम ग्रन्थ उत्तराध्ययन में कहा गया है कि क्रियावाद ही सच्चा पुरुषार्थवाद है, वही धीर पुरुष है जो क्रियावाद में विश्वास रखता है और अक्रियावाद का वर्णन करता है ।<sup>३</sup>

जैन दर्शन को सम्यक् क्रियावादी इसलिए कहा गया है, क्योंकि वह एकान्त दृष्टि नहीं रखता है । आत्मा आदि तत्त्वों में विश्वास करने वाला ही क्रियावाद (अस्तित्ववाद) का निरूपण कर सकता है ।<sup>४</sup>

आचारांग में भी महावीर के समकालीन चार वादों का उल्लेख भिन्न प्रकार से उपलब्ध है—'आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी और किरियावादी ।'<sup>५</sup> निशीथचूर्ण में महावीर के युग के निम्न दर्शन एवं दार्शनिकों का उल्लेख है<sup>६</sup>—

१—आजीवक, २—ईसरमत, ३—उलूग, ४—कपिलमत, ५—कविल,  
 ६—कावाल, ७—कावालिय, ८—चरग, ९—तच्चन्निय, १०—परिव्वा-  
 यग, ११—पंडुरंग, १२—बोडित, १३—भिच्छुग, १४—भिवखू, १६—वेद,

१. सूत्रकृतांग १।१२।४-८ ।

२. वही, १।१२।२ ।

३. उत्तराध्ययन १।८।३३ ।

४. सूत्रकृतांग १।१०।१७ ।

५. आचारांग सटीक श्रु० १, अ० १, उद्दे० १, पत्र २० ।

६. निशीथसूत्र सभाष्य, चूर्ण भाग १, पृ० १५ ।

९४ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

१७—सक्क, १८—सरक्ख, १९—मुतिवादी, २०—सेयवड़, २१—सेय-  
भिव्ख, २२—शाक्यमत, २३—हदुसरख ।

बौद्ध सम्प्रदाय में बुद्ध के समकालीन निम्न छह श्रमण सम्प्रदायों एवं उनके प्रतिपादक आचार्यों का उल्लेख है ।<sup>१</sup>

१. अक्रियावाद—पूरणकाश्यप
२. नियतिवाद—मक्खलिगोशालक
३. उच्छेदवाद—अजितकेशकंबलि
४. अन्योन्यवाद—प्रकुधकात्यायन
५. चातुर्यामसंवरवाद—निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र
६. विक्षेपवाद—संजय बेलट्ठिपुत्र

बौद्ध साहित्य में अंकित उपरोक्त ६ आचार्यों को तीर्थंकर कहा गया है । इनकी एक निगण्ठनाटपुत्त स्वयं महावीर ही हैं ।<sup>२</sup>

### महावीर के उपदेश और उनका वैशिष्ट्य

जैनों के अनुसार तीर्थंकर महावीर ने किसी नये दर्शन या धर्म की स्थापना नहीं की, अपितु पार्श्वनाथ की निर्ग्रन्थ परम्परा में प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं और आचार सम्बन्धी व्यवस्थाओं को किञ्चित् संशोधित कर प्रचारित किया । विद्वानों को यह मान्यता है कि महावीर की परम्परा में धर्म और दर्शन सम्बन्धी विचार जहाँ पार्श्वनाथ की परम्परा से गृहीत हुए, वहीं आचार और साधना विधि को मुख्यतया आजीवक परम्परा से गृहीत किया गया । जैन ग्रन्थों से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि महावीर ने पार्श्वनाथ की आचार परम्परा में कई संशोधन किए थे । सर्वप्रथम उन्होंने पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य को जोड़कर पंच महाव्रतों या पंचयाम धर्म का प्रतिपादन किया । पार्श्वनाथ की परम्परा में स्त्री को परिग्रह मानकर परिग्रह के त्याग में ही स्त्री का त्याग भी समाहित मान लिया जाता था । किन्तु आगे चलकर पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणों ने उसकी गलत ढंग से व्याख्या करना शुरू किया और कहा कि परिग्रह के त्याग में स्त्री का त्याग तो हो जाता है किन्तु बिना विवाह के बन्धन में बधे स्त्री का भोग तो किया जा सकता है और उसमें कोई दोष नहीं है । अतः महावीर ने स्त्री के भोग के निषेध के लिए ब्रह्मचर्य को स्वतन्त्र व्यवस्था की । महावीर ने पार्श्व की पर-

१. दीघनिकाय, सामञ्जस्यसुत्त ।

२. वही (हिन्दी अनुवाद), पृ० २१ का सार ।

म्पराओं में अनेक सुधार किए जैसे उन्होंने मुनि की नग्नता पर बल दिया, दुराचरण के परिशोधन के लिए प्रातःकालीन और सायंकालीन प्रतिक्रमण की व्यवस्था की। उन्होंने कहा चाहे अपराध हुआ हो या न हुआ हो प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल अपने दोषों की समीक्षा तो करनी चाहिए। इसी प्रकार औद्देशिक आहार का निषेध, चातुर्मासिक व्यवस्था और नवकल्प विहार आदि ऐसे प्रश्न थे, जिन्हें महावीर की परम्परा में आवश्यक रूप से स्वीकार किया गया था। इस प्रकार महावीर ने पार्श्वनाथ की ही परम्परा को संशोधित किया था। महावीर के उपदेशों की विशिष्टता यही है कि उन्होंने ज्ञानवाद की अपेक्षा भी आचार-शुद्धि पर अधिक बल दिया और किसी नये धर्म या सम्प्रदाय की स्थापना के स्थान पर पूर्व प्रचलित निर्ग्रन्थ परम्परा को ही देश और काल के अनुसार संशोधनों के साथ स्वीकार कर लिया। महावीर के उपदेशों में रत्नत्रय की साधना में पंचमहाव्रतों का पालन, प्रतिक्रमण, परिग्रह का सर्वथा त्याग, कठोर तप साधना आदि कुछ ऐसी बातें जो निर्ग्रन्थ परम्परा में महावीर के योगदान को सूचित करती हैं। इस प्रकार महावीर पार्श्व की निर्ग्रन्थ परम्परा में देश और काल के अनुसार नवीन संशोधन करने वाले कहे जा सकते हैं। वे किसी नवीन धर्म के संस्थापक नहीं अपितु पूर्व प्रचलित निर्ग्रन्थ परम्परा के संशोधक या सुधारक हैं।

### ११. तीर्थकर और लोक कल्याण

जैन धर्म में तीर्थकर के लिए लोकनाथ, लोकहितकारी, लोकप्रदीप, अभयदाता आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।

जैनाचार्यों ने स्पष्टरूप से यह स्वीकार किया है कि समय-समय पर धर्म चक्र का प्रवर्तन करने हेतु तीर्थकरों का जन्म होता रहता है। सूत्र-कृतांग टीका में कहा गया है कि तीर्थकरों का प्रवचन एवं धर्म प्रवर्तन प्राणियों के अनुग्रह के लिए होता है, पूजा एवं सत्कार के लिए नहीं।<sup>१</sup> जैनधर्म में यद्यपि तीर्थकर को लोकहित करने वाला बताया गया है, फिर भी उनका उद्देश्य सज्जनों का संरक्षण एवं दुष्टों का विनाश नहीं है। क्योंकि यदि वे दुष्टों का विनाश करते हैं तो उनके द्वारा प्रदर्शित अहिंसा का चरमादर्श खण्डित होता है, साथ ही सज्जनों की रक्षा एवं दुष्टों का विनाश के प्रयत्न निवृत्तिमार्गी साधनापद्धति के अनुकूल नहीं है। लोक परित्राण अथवा लोककल्याण तीर्थकरों के जीवन का लक्ष्य अवश्य रहा

१. सूत्रकृतांग टीका १।६।४।

है, किन्तु मात्र सन्मार्ग के उपदेश के द्वारा, न कि भक्तों के मंगल हेतु दुर्जनों का विनाश करके। तीर्थंकर धर्म संस्थापक होते हुए भी सामाजिक कल्याण के सक्रिय भागीदार नहीं हैं। वे सामाजिक घटनाओं के मात्र मूक-दर्शक ही हैं।

यद्यपि आचारांग में तीर्थंकरों ने “आणये मामगं धम्मं” कहकर अपनी आज्ञा पालन में ही धर्म की उद्घोषणा की है फिर भी उनका धर्म शासन बलात् किसी पर थोपा नहीं जाता है, आज्ञा पालन ऐच्छिक है। जैनधर्म में तीर्थंकर को सभी पापों का नाश करने वाला भी कहा गया है। एक गुजराती जैन कवि ने कहा है<sup>१</sup> कि “चाहे पाप का पुञ्ज मेरु के आकार के समान ही क्यों न हो, प्रभु के नाम रूपो अग्नि से यह सहज ही विनष्ट हो जाता है।” इस प्रकार जैन धर्म में तीर्थंकर के नाम-स्मरण एवं उपासना से कोटि जन्मों के पापों का प्रक्षालन सम्भव माना गया है। फिर भी जैन-तीर्थंकर अपनी ओर से ऐसा कोई आश्वासन नहीं देता, कि तुम मेरी भक्ति करो मैं तुम्हारा कल्याण करूँगा। वह तो स्पष्ट रूप से कहता है कि कृतकर्मों के फल भोग के बिना मुक्ति नहीं होती है।<sup>२</sup> प्रत्येक व्यक्ति को अपने शुभाशुभ कर्मों का लेखा-जोखा स्वयं ही पूरा करना है। चाहे तीर्थंकर के नाम रूपी अग्नि से पापों का प्रक्षालन होता हो, किन्तु तीर्थंकर में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि वह अपने भक्त को पीड़ाओं से उबार सके, उसके दुःख कम कर सके, उसको पापों से मुक्ति दिला सके। इस प्रकार तीर्थंकर अपने भक्त का त्राता नहीं है। वह स्वयं निष्क्रिय होकर भक्त को प्रेरणा देता है कि तू सक्रिय हो, तेरा उत्थान एवं पतन मेरे हाथ में नहीं, तेरे ही हाथ में निहित है।<sup>३</sup> इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि तीर्थंकर लोककल्याण या लोकहित की कामना को लेकर मात्र धर्म प्रवचन करता है ताकि व्यक्ति उन धर्माचरणों पर चलकर अपने चरित्र का निर्माण करे। क्योंकि मानव का नैतिक चरित्र ही उसका

१. पाप पराल को पुञ्ज वण्णो, मानो मेरु आकारो।

ते तुम नाम हुताशन तेसी सहज ही प्रजलत सारो ॥

२. “कडाण कम्मण न मोक्ख अत्थि”।

—उत्तराध्ययन, ४।३।

३. “पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?”

—आचारांग १।३।३।

“पुसि ! अत्ताणमेव अभि णिगिज्झ, एवं दुक्खा पसुच्चसि।

—वही, १।३।३।

समुद्धारक है, अन्य कोई नहीं। पाप से विमुक्ति की शक्ति तीर्थंकर के नाम में न होकर उसके निमित्त से भक्त की, जो आत्मविशुद्धि होती है, उसमें है।

## १२. जैन धर्म में भक्ति का स्थान

जैनधर्म में भक्ति का अत्यधिक माहात्म्य है एवं प्रत्येक जैन साधक का यह परम कर्तव्य है कि वह आदर्श पुरुष के रूप में तीर्थंकरों की स्तुति करे। भक्तिमार्ग की नामस्मरण या जपसाधना से जैनों की स्तुति का स्वरूप बहुत हद तक मिलता है। साधक स्तुति अथवा उपासना के द्वारा अपने अहंकार का विनाश कर सदगुणों के प्रति अनुराग की वृद्धि करता है। यद्यपि हमें यह बात स्पष्टरूप से जान लेनी चाहिए कि जैन साधना में जिन महापुरुषों की स्तुति की जाती है उनमें किसी प्रकार के लाभ की आशा करना व्यर्थ है, क्योंकि तीर्थंकर किसी को कुछ नहीं दे सकते। वे तो मात्र साधना या उपासना के आदर्श हैं। तीर्थंकर न तो किसी को संसार-सागर से पार करते हैं और न किसी प्रकार की भौतिक उपलब्धि में सहायक ही होते हैं। मात्र स्तुति के माध्यम से साधक को उनके गुणों के प्रति श्रद्धा दृढ़भूत होती है, साधक के समक्ष उनका महान् आदर्श मूर्तरूप में उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार साधक तीर्थंकरों के स्मरण से अपने अन्तर में आध्यात्मिक-पूर्णता के भावों की ज्योति प्रज्वलित करता है और विचार करता है कि मेरी आत्मा भी तीर्थंकरों की आत्मा के समान है; मैं भी यदि वैसी ही साधना करूँ तो तीर्थंकर बन सकता हूँ। मुझे अपने पुरुषार्थ से तीर्थंकर बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

यद्यपि गीता<sup>१</sup> के कृष्ण की तरह तीर्थंकर कोई उद्घोषणा नहीं करता कि तुम मेरी भक्ति करो, मैं तुम्हें सर्व पापों से मुक्त कर दूँगा। फिर भी आचारांग “आणाये मामगं धम्मं” अर्थात् मेरी आज्ञा के पालन में धर्म है यह कहकर उनके आदेशों के अनुपालन का निर्देश अवश्य करता है। सूत्र-कृतांग में भी महावीर को भय से रक्षा करने वाला कहा गया है।<sup>२</sup> फिर भी जैन तीर्थंकर प्रत्यक्ष रूप से अपने भक्त को किसी उपलब्धि में सहायक नहीं होते हैं।

१ गीता १८/६६

२. सूत्रकृतांग १/६६

यद्यपि जैन तीर्थंकर धर्म पालन का निर्देश देता है किन्तु गीता के कृष्ण की भाँति अपने उपासक या भक्त को पाप पंक से उबार लेने का आश्वासन नहीं देता है, क्योंकि वह तो निष्क्रिय व्यक्ति है। वह तो स्पष्ट शब्दों में कहता है कि मनुष्य को अपने कृत कर्मों के भोग के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। प्रत्येक व्यक्ति को अपने शुभाशुभ कर्मों का लेखा-जोखा स्वयं ही पूरा करना है। भले ही तीर्थंकर नाम जप से पापों का प्रक्षालन होता हो किन्तु तीर्थंकर में ऐसी कोई शक्ति नहीं कि वह अपने भक्त को पीड़ाओं से उबार सके, उसके दुःख कम करके उसको पापों से मुक्ति दिला सके। जैनधर्म का तीर्थंकर, हिन्दूधर्म के अवतार के अर्थ में अपने भक्त का त्राता नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्टरूप से यह बात कही थी कि हम तीर्थंकर की स्तुति इसलिए नहीं करते कि उसकी स्तुति करने या नहीं करने से वह कोई हित या अहित करेगा। वे कहते हैं—

“न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्त वैरेः।

तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चेते दुरितांजनेभ्यः॥”<sup>१</sup>

अर्थात् हे प्रभु ! तेरी प्रशंसा करने से भी कोई लाभ नहीं, क्योंकि तू वीतराग है, अतः स्तुति करने पर प्रसन्न नहीं होगा। तेरी निन्दा करने में भी कोई भय नहीं है, क्योंकि तू तो विवान्त वैर है, अतः निन्दा करने पर नाराज नहीं होगा। फिर भी हम तेरी स्तुति इसलिए करते हैं कि तेरे पुण्य गुणों के स्मरण के द्वारा हमारा चित्त दुर्गुणों से पवित्र हो जाता है। इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए श्रीमत् देवचन्द्र ने कहा है—“जिस प्रकार भेड़ों के समूह में पला हुआ सिंह-शावक, सिंह को देखकर अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है उसी प्रकार भक्त आत्मा भी प्रभु की भक्ति के द्वारा अपने आत्मस्वरूप को पहचान लेता है। इसका बोध तो स्वयं भक्त को करना है उपास्य तो वहाँ निमित्त मात्र है।”

इस प्रकार जैनधर्म में तीर्थंङ्कर तो मात्र आदर्श या निमित्त होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि स्तवन (भक्ति) से व्यक्ति की दर्शन-

### १. स्वयम्भूस्तोत्र

२. “अज कुल-गत केशरी लहेरे, निज पद सिंह निहाल।

तिम प्रभु भक्ति भवी लहेरे, आतमशक्ति संभाल॥

—अजित जिनस्तवन

विशुद्धि होती है।<sup>१</sup> आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्टरूप से स्वीकार किया है कि नाम-स्मरण के द्वारा पापों का पुंज नष्ट हो जाता है।<sup>२</sup> यद्यपि इसका कारण परमात्मा की कृपा न होकर व्यक्ति के दृष्टिकोण की विशुद्धि ही है।

इस प्रकार जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा का एकमात्र उद्देश्य आत्मस्वरूप का बोध या आत्म-साक्षात्कार करना है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि निर्वाणाभिभुक् होने का सतत प्रयत्न ही भक्ति है। निर्वाण प्राप्त महापुरुषों के गुणों का जप या स्मरण करना व्यावहारिक भक्ति है, राग-द्वेष एवं विकल्पों को छोड़कर विशुद्ध आत्मतत्त्व से जुड़ जाना वास्तविक भक्ति है। नियमसार में कहा गया है कि सभी तीर्थंकरों ने इसी भक्ति के द्वारा परम पद प्राप्त किया है। इस प्रकार जैनधर्म में भक्ति या स्तवन मूलतः आत्मभक्ति या आत्मस्तवन ही है।

### १३. श्रद्धा बनाम ज्ञान

जैनधर्म में श्रद्धा का अत्यधिक माहात्म्य है। कभी तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि वह गीता के समान ही श्रद्धा को प्रथम स्थान पर और ज्ञान को द्वितीय स्थान पर रखता है अर्थात् यह मानता है कि श्रद्धा के सम्यक् होने पर ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है। फिर भी जैनधर्म में श्रद्धा ज्ञान से ऊपर अपना स्थान प्राप्त नहीं कर सकी।

जैनधर्म में भी चारित्र्य को अपेक्षा ज्ञान एवं दर्शन (श्रद्धा) को प्राथमिकता दी गई है, किन्तु दर्शन और ज्ञान की पूर्वापरता को लेकर जैनाचार्यों में काफी विवाद रहा है। कुछ आचार्य दर्शन को प्राथमिक मानते हैं तो कुछ ज्ञान को, कुछ दोनों को समानान्तर मानते हैं। यद्यपि ज्ञान-मीमांसा के दृष्टिकोण से दर्शन की प्राथमिकता ही प्रबल ठहरती है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता।<sup>३</sup> किन्तु यहाँ दर्शन अनुभूति के अर्थ में है। अनुभूति के अर्थ में दर्शन को ज्ञान की अपेक्षा प्राथमिकता दी गई है। यद्यपि दर्शन के श्रद्धापरक अर्थ के संदर्भ में भी उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में दर्शन को ज्ञान और चारित्र्य

१. चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥ उत्तराध्ययन, २९/१०।

२. आवश्यकनियुक्ति, गा० १०७६।

३. नादंसणिस्स नाणं। उत्तराध्ययनसूत्र, २८/३०



की अपेक्षा प्रथम स्थान दिया है।<sup>१</sup> आचार्य कुन्दकुन्द ने भी दर्शनप्राप्त में 'दंसणमूलो धम्मो' अर्थात् धर्म को दर्शन प्रधान कहा है।<sup>२</sup>

लेकिन कुछ ऐसे भी सन्दर्भ मिलते हैं जिनमें ज्ञान को प्राथमिक माना गया है। उत्तराध्ययन में मोक्षमार्ग की विवेचना के प्रसंग में ज्ञान को प्रथम स्थान दिया गया है।<sup>३</sup> ज्ञान और दर्शन में से साधनात्मक जीवन की दृष्टि से किसे प्राथमिकता दें, इसका निर्णय करना सहज नहीं है। इस विवाद के मुख्य मूल कारण यह हैं कि श्रद्धावादी लोग सम्यक् दर्शन की और ज्ञानवादी लोग सम्यक् ज्ञान की प्राथमिकता को स्वीकार करते हैं, लेकिन इस विवाद में एकपक्षीय निर्णय लेना उचित नहीं होगा, बल्कि समन्वयवादी दृष्टिकोण ही सुसंगत होगा। नवतत्त्वप्रकरण में ऐसा ही समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है, जहाँ दोनों को एक दूसरे का पूर्वापर बताया है, कहा गया है कि जो जोवादि नव पदार्थों को यथार्थरूप से जानता है उसे सम्यक्त्व होता है। इस प्रकार ज्ञान को दर्शन के पूर्व बताया गया है लेकिन अगली ही पंक्ति से ज्ञानाभाव में केवल श्रद्धा से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति मान ली गई है और कहा गया है कि जो वस्तु तत्त्व को स्वतः नहीं जानता हुआ भी उसके प्रति भाव से श्रद्धा करता है उसे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है।<sup>४</sup>

डॉ० सागरमल जैन ने अपने ग्रन्थ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन'<sup>५</sup> में ज्ञान एवं दर्शन में से किसे प्रथम स्थान दें, इसका तार्किक विवेचन किया है—“दर्शन शब्द के दो अर्थ हैं— १. यथार्थ दृष्टिकोण, २. श्रद्धा। यदि हम दर्शन का यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ लेते हैं तो हमें साधनामार्ग की दृष्टि से उसे प्रथम स्थान देना चाहिए। क्योंकि यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण ही मिथ्या है, अयथार्थ है, तो न तो उसका ज्ञान सम्यक् (यथार्थ) होगा और न चारित्र्य ही। यथार्थ दृष्टि

१. तत्त्वार्थसूत्र, १/१

२. दर्शनपाहुड २

३. नाणं च दंसणं चैव चरित्तं च तवो तथा।

एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदंसिहि ॥ उत्तराध्ययनसूत्र २८/२

४. नवतत्त्वप्रकरण १, उद्धृत—जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृ० २४

५. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृ० २४

के अभाव में यदि ज्ञान और चारित्र्य सम्यक् प्रतीत भी हो, तो भो वे सम्यक् नहीं कहे जा सके। वह तो सांयोगिक प्रसंग मात्र है। ऐसा साधक दिग्भ्रान्त भी हो सकता है। जिसकी दृष्टि ही दूषित है, वह ज्यः सत्त्व को जानेगा और उसका आचरण करेगा? दूसरी ओर यदि हम सम्यक् दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ लेते हैं तो उसका स्थान ज्ञान के पश्चात् ही हागा, क्योंकि अविचल श्रद्धा तो ज्ञान के बाद ही उत्पन्न हो सकती है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ करते समय उसे ज्ञानके बाद ही स्थान दिया गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ज्ञान से पदार्थ (तत्त्व) स्वरूप को जाने और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करे।<sup>१</sup> व्यक्ति के स्वानुभव (ज्ञान) के पश्चात् ही श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसमें जो स्थायित्व होता है वह ज्ञानाभाव में प्राप्त हुई श्रद्धा से नहीं हो सकता। ज्ञानाभाव में जो श्रद्धा होती है उसमें संशय होने को सम्भावना हो सकती है। ऐसी श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा नहीं वरन् अन्ध श्रद्धा ही हो सकती है। जिन प्रणीत तत्त्वों में भो यथार्थ श्रद्धा तो उनके स्वानुभव एवं तार्किक परीक्षण के पश्चात् ही हो सकती है। यद्यपि साधना के लिए, आचरण के लिए श्रद्धा अनिवार्य तत्त्व है लेकिन वह ज्ञान प्रसूत होनी चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि धर्म की समीक्षा प्रज्ञा के द्वारा करें, तर्क से तत्त्व का विश्लेषण करें।

अतः वे मानते हैं कि यथार्थ दृष्टिपरक अर्थ में सम्यक् दर्शन को ज्ञान के पूर्व लेना चाहिए, जबकि श्रद्धापरक अर्थ में उसे ज्ञान के पश्चात् स्थान देना चाहिए। डॉ० जैन के अनुसार जैनधर्म में श्रद्धा का स्थान ज्ञान के पश्चात् ही है। जैनधर्म गीता के समान यह नहीं मानता है कि श्रद्धावान ज्ञान को प्राप्त होता है अपितु वह यह मानता है कि ज्ञान से श्रद्धा होती है”।<sup>२</sup>

यद्यपि जहाँ तक आचरण का प्रश्न है जैनधर्म यह मानता है कि सम्यक् श्रद्धा सम्यक् आचरण के लिए आवश्यक है।<sup>३</sup>

#### १४. तीर्थंकर की अवधारणा का दार्शनिक अवदान

जैनधर्म में तीर्थंकर की जो अवधारणा प्रस्तुत की गई है, उसके दार्शनिक अवदान का मूल्यांकन निम्नरूप से किया जा सकता है। सर्वप्रथम

१. “नाणेण जाणई भावे दंसणेय सहहे ॥ उत्तराध्ययन, २८/३५

२. जैन, बौद्ध और गीता का साधनामार्ग, पृ० २७

३. “नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं”—वही २८/२९

तो तीर्थंकर की अवधारणा यह मानकर चलती है कि प्रत्येक भव्य आत्मा में तीर्थंकर बनने की क्षमता उपस्थित है। प्रत्येक जीव जिन-पद को प्राप्त कर सकता है। इस अवधारणा का फलित यह है कि इससे व्यक्ति की गरिमा पुष्ट होती है और वह यह मानने लगता है कि वह अनन्तशक्ति अथवा परमात्मशक्ति से युक्त है। इससे उसके जीवन में निराशा दूर होकर आस्था का संचार होता है। दूसरे तीर्थंकर बनाया नहीं जाता अपितु बनता है। यह सिद्धान्त पुरुषार्थवाद का पोषण करता है। जैनपरम्परा यह मानती है कि कोई भी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के बल से ही तो तीर्थंकर पद को प्राप्त करता है। तीर्थंकरत्व एक याचित उपलब्धि नहीं है अपितु स्व-पुरुषार्थ से उपार्जित उपलब्धि है। इस प्रकार तीर्थंकर की अवधारणा दैववाद, भाग्यवाद और कृपा के स्थान पर पुरुषार्थवाद का समर्थन करती है। जैनपरम्परा में महावीर के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में एक कथा आती है। कथा के अनुसार महावीर के साधना करते समय अनार्य जनों के द्वारा अनेक कष्ट दिये जाते हैं। महावीर को दिये जाने वाले इन कष्टों को देखकर, इन्द्र महावीर से प्रार्थना करता है कि अपने साधनाकाल में मुझे अपने साथ रखने की अनुमति दीजिये ताकि साधनाकाल के कष्टों को दूर कर सकूँ। उस समय महावीर ने इन्द्र से कहा कि तीर्थंकर स्ववीर्य अर्थात् स्वपुरुषार्थ से ही परमज्ञान और परमसाध्य को प्राप्त करते हैं, किसी की कृपा या सहयोग से नहीं। यही एक ऐसा तथ्य है जो पुरुषार्थवाद और व्यक्ति की गरिमा को पुष्ट करता है।

अवतारवाद में ईश्वर स्वामी होता है और व्यक्ति उसका दास होता है, जबकि तीर्थंकर की अवधारणा में व्यक्ति स्वयं स्वामी होने का सामर्थ्य रखता है और होता है। दूसरे अवतारवाद में कृपा का तत्त्व प्रधान होता है। ईश्वरीय कृपा और कृपा ही अवतारवाद के मूलतत्त्व हैं, जबकि तीर्थंकर की अवधारणा में पुरुषार्थ प्रधान होता है। संक्षेप में व्यक्ति की सर्वोपरिता और पुरुषार्थवाद के सिद्धान्त तीर्थंकर की अवधारणा के महत्त्वपूर्ण दार्शनिक अवदान हैं।



## तृतीय अध्याय

# बुद्धत्व की अवधारणा

### १. बुद्ध शब्द का अर्थ

बुद्ध शब्द की उत्पत्ति बुध् शब्द में क्त प्रत्यय (बुध् + क्त) लगाने से हुई है। बुध् का अर्थ होता है जानना, प्रत्यक्ष करना, जागना। इस प्रकार बुद्ध शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है—ज्ञात, समझा हुआ, प्रत्यक्ष किया हुआ, जागा हुआ, जागरूक, देखा हुआ।<sup>१</sup> बुद्ध का शाब्दिक अर्थ होता है ज्ञान सम्पन्न (प्रबुद्ध) और जाग्रत (Enlightened and Awakened)। शाक्य-मुनि गौतम या सिद्धार्थ को उनके अनुयायियों ने बुद्ध नाम दिया था।<sup>२</sup> वस्तुतः बुद्ध जाति-वाचक नाम है, व्यक्तिवाचक नाम नहीं। यह विशेषण उनको दिया जाता है, जिन्होंने बोध या ज्ञान प्राप्त कर लिया है। व्यक्ति “बुद्ध” इस विशेषण को संसार के सभी मानवों एवं दैवी प्राणियों के बीच अपने सत्य ज्ञान या धर्म के द्वारा अर्जित करता है। ‘बुद्ध’—यह नाम माता-पिता, भाई-बान्धवों आदि के द्वारा दिया हुआ नाम नहीं है। खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत महानिद्देस में इस सम्बन्ध में एक सूत्र उपलब्ध होता है। ‘बुद्ध’—यह नाम, माता-पिता, भाई-बहन, मित्र, संबंधी, श्रमण, ब्राह्मण एवं देवताओं द्वारा दिया हुआ नहीं है, वरन् बोधिमूल में विमोक्ष-पुरस्सर सर्वज्ञता के अधिगम के साथ उपलब्ध एक प्रज्ञप्ति है<sup>३</sup>। यही बात चुल्लनिद्देस में भी कही गई है।<sup>४</sup> वस्तुतः वह पुरुष जिसने चार आर्यसत्त्यों को जान लिया है, सर्वज्ञता प्राप्त कर ली है, राग, द्वेष, मोह,

१. संस्कृत-हिन्दी कोश (वामन शिवराम आप्टे), पृ० ७१८।

२. पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० १११।

३. ‘बुद्धो त्ति नेतं मातरा कतं, न पितरा कतं, न भातरा कतं, न भगिनिया कतं, न मित्तामच्चेहि कतं, न आतिसालोहितेहि कतं, न समणब्राह्मणेहि कतं, न देवताहि कतं। विमोक्खन्तिकमेतं बुद्धानं भगवन्तानं बोधिया मूले सह सब्बञ्जुतञ्जाणस्स पटिलाभा सच्छिका पञ्चत्ति यदिदं बुद्धो त्ति-तं बुद्धं।’

—खुद्दकनिकाय भाग ४ (१), महानिद्देस ३:१६१:९२, पृ० ३९९।

४. चुल्लनिद्देस, पृ० २०९।

आस्रव तथा अन्यान्य क्लेशों से पूर्णतः विमुक्त हो परम-सम्बोधि को प्राप्त कर लिया है, जो सब पदार्थों को यथार्थ रूप से जानने के बाद प्रजा को उपदेश देता है, ऐसा अबुद्धि विहत तथा बुद्धि प्रतिलाभी पुरुष ही बुद्ध कहलाता है।<sup>१</sup> वैसे बुद्ध और जिन शब्द ऐसे हैं जिन्हें जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में समानरूप से स्वीकार किया गया है। जैन परम्परा में तीर्थंकर के लिए बुद्ध और जिन शब्दों का प्रयोग प्राचीन आगमों में बहु-तायत से मिलता है इसी प्रकार बौद्धसाहित्य में बुद्ध को जिन और जिन-पुत्र कहा गया है।

## २. बुद्धत्व की अवधारणा का अर्थ

छठीं शताब्दी ईसा पूर्व में गौतम ने 'बुद्ध' नाम अर्जित किया था। 'बुद्ध' यह नाम उनको अपनी माता महामाया एवं पिता शुद्धोधन से प्राप्त नहीं हुआ था, अपितु बोधि-वृक्ष के नीचे ज्ञानप्राप्त करने पर प्राप्त हुआ था। महानिद्देस एवं विमुद्धिमग्न में उल्लेख है कि गौतम ने बोधि-वृक्ष के नीचे अनुत्तर संग्राम में विजय प्राप्त करते हुए, अद्वितीय पुरुषार्थ के द्वारा यह नाम अर्जित किया था।<sup>२</sup>

प्रत्येक प्राणा बुद्धत्व की क्षमता से युक्त है। बुद्ध-बीज प्रत्येक में विद्यमान है। प्रत्येक प्राणी बोर्य, प्रज्ञा एवं पुरुषार्थ द्वारा बुद्धत्व की प्राप्ति कर सकता है। गौतम अपने पुरुषार्थ से सम्यक्-ज्ञान प्राप्त करने के कारण 'सम्यक्-सम्बुद्ध' कहलाये।<sup>३</sup> अपनी इस ब्राह्मी स्थिति के कारण लोक में 'भगवान् बुद्ध' या 'सम्यक्-सम्बुद्ध' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

१. 'बुद्धो ति केनट्ठेन बुद्धो ? बुज्झिता सच्चानी ति बुद्धो, बोधेता पजाया ति बुद्धो सब्बञ्जुताय बुद्धो, सब्बदस्साविताय बुद्धो, अभिञ्जेय्यताय बुद्धो, विकसिताय बुद्धो वीणासखसङ्खातेन बुद्धो, निरुपविकलेससङ्खातेन बुद्धो, एकन्तवीतरागो ति बुद्धो, एकन्तवीतदोसो ति बुद्धो, एकन्तवीतमोहो ति बुद्धो, एकन्तनिकिलेसो ति बुद्धो, एकायनमग्नं गतो ति बुद्धो, एको अनुत्तरं सम्मा-सम्बोधिं अभिसम्बुद्धो ति बुद्धो, अबुद्धि विहतता, बुद्धिपटिलाभा ति बुद्धो।'

—खुद्दकनिकाय भाग ४ (२), चुल्लनिद्देस, पृ० २०८-२०९।

२. (क) महानिद्देस, पृ० १२० (ख) विमुद्धिमग्न ७/५५, मू० ४२।

३. 'सम्मा सामञ्ज सब्बधम्मानं बुद्धता पन सम्मा सम्बुद्धो।'

—विमुद्धिमग्न ७/२६, पृ० १३६।

मज्झिमनिकाय के सेल-सुत्त के अनुसार 'बुद्ध' श्रमण गौतम का एक गुणवाचक नाम है, व्यक्तिवाचक नाम नहीं। उसमें भगवान् बुद्ध अपनी विशेषताओं के कारण ही स्वयं को बुद्ध कहते हैं कि 'मैं धर्म राजा हूँ, धर्मचक्र चला रहा हूँ, इस धर्मचक्र को तथागत का अनुजात (पोछे-उत्पन्न) सारिपुत्र अनुचालित कर रहा है। भावनोय की भावना कर ली, परित्याज्य को छोड़ दिया। अतः हे ब्राह्मण मैं "बुद्ध" हूँ।"<sup>१</sup>

इस प्रकार ज्ञानवान या जाग्रत पुरुष 'बुद्ध' नाम से अभिहित हाता है जिसने बोध को प्राप्त कर लिया है। 'प्रतिबुद्ध' को कल्पना पूर्ण ज्ञानी के अर्थ में प्राचीन वैदिक साहित्य में भी विद्यमान है।<sup>२</sup> बुद्ध का आविर्भाव बोधि या ज्ञान से होता है, माता के गर्भ से नहीं। इसीलिए कहा गया है कि बुद्ध का आविर्भाव लोक में दुर्लभ है।<sup>३</sup> बुद्ध का नाम सुनना भी लोक में दुर्लभ है।<sup>४</sup> बद्ध पुरुष अन्धकार से ग्रसित लोक के लिए दीपक के समान होता है। वह संसार के प्राणियों के कल्याण के लिए धर्म का उप-

१. 'राजाहमस्मि सेला ति, धम्मराजा अनुत्तरो ।  
धम्मेन चक्कं वत्तेमि, चक्कं अप्पटिवत्तियं ॥'  
'सम्बुद्धो पटिजानासि, धम्मराजा अनुत्तरो ।  
धम्मेन चक्कं वत्तेमि, इति भाससि गौतम ॥'  
'को नु सेनापति भोतो, सावको सत्थुरन्वयो ।  
को ते तमनुवत्तेति, धम्मचक्कं पवत्तितं ॥'  
'मया पवत्तितं चक्कं, (सेला ति भगवा) धम्मचक्कं अनुत्तरं ।  
सारिपुत्तो अनुवत्तेति, अनुजातो तथागतं ॥'  
'अभिञ्जेत्थं अभिञ्जातं भावेतब्बं च भावितं ।  
पहातब्बं पहीनं मे, तस्मा बुद्धोस्मि ब्राह्मण ॥'

—मज्झिमनिकाय भाग २, सेलसुत्त (४२।३।४), पृ० ४००

२. शतपथ ब्राह्मण, १४/७/२-१७ ।

३. किञ्चो बुद्धानमुप्पादो ।—खुट्कनिकाय भाग १ । धम्मपद १४/१८२, पृ० ३४ 'बुद्धो हवे कप्पतेहि दुल्लभो ।'—दीघनिकाय, महापरिनिब्बाणसुत्त २/३ ।

४. 'घोसो पि खो एसो दुल्लभो लोकस्मि-यदिदं 'बुद्धो' ति ।'

—मज्झिम निकाय भाग २, सेलसुत्त (४२।२।३), पृ० ३९८ ।

१०६ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

देश देता है, बहुजन के हित को सर्वोपरि मानता है। इसलिए धम्मपद में कहा गया है—

### ‘सुखो बुद्धानमुप्पादो’

बुद्धों का उत्पन्न होना सुखकारी है।<sup>१</sup> बुद्ध ने जीवन एवं जगत् के प्रत्येक पहलू का साक्षात्कार कर मानव कल्याण के लिए उपदेश दिया था। बुद्ध ने सत्य का दर्शन एवं अनुभव किया था, इसीलिए उन्हें ‘तथागत’ भी कहा जाता है। चार आर्यसत्त्यों का स्वयं बोध प्राप्त कर दूसरों को उनका बोध कराया, इसलिए ‘बुद्ध’ कहलाये।<sup>२</sup>

### ३. बौद्ध धर्म में बुद्ध का स्थान

बौद्ध धर्म में बुद्ध को धर्मचक्र का प्रवर्तक तथा धर्मसंघ का शास्ता माना गया है। मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय एवं कथावत्थु में बुद्ध को अनुत्पन्न मार्ग का प्रवर्तक, मार्गद्रष्टा एवं मार्ग को जानने वाला कहा गया है।<sup>३</sup>

“भगवा अनुप्पन्नस्स मग्गस्स उप्पादेता, असञ्जातस्स मग्गस्स सञ्जनेता, अनक्खातस्स मग्गस्स अक्खाता, मग्गन्तू, मग्गविद्, मग्गकोविदो।”

प्रारम्भ में बुद्ध को ज्ञान एवं सदाचरण से समन्वित धर्मोपदेष्टा माना गया, किन्तु क्रमशः उनके साथ दूसरे विशेषण भी जुड़ते गये। अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध को श्रमण, ब्राह्मण, वेदज्ञ, भिषक्, निर्मल, विमल, ज्ञानी, विमुक्त आदि नामों से पुकारा गया है।<sup>४</sup> बुद्धघोष ने अंगुत्तरनिकाय की

१. धम्मपद १४/१९४, पृ० ३५।

२. ‘बुज्झिता सच्चानी ति बुद्धो, बोधेता पजाया ति बुद्धो।’—खुद्दकनिकाय भाग ४ (१), महानिद्वेस १।१६।१९२, पृ० ३९९ विसुद्धिमग्ग, ७/५२।  
‘इमेसं सी भिक्खवे चतुन्नं अरियसच्चानं यथाभूतं।

अभिसम्बुद्धत्ता तथागतो अरहं सम्मासम्बुद्धो ति वुच्चतीति।’

—विसुद्धिमग्ग १६/२१।

३. मज्झिमनिकाय भाग ३ (८.१.१), पृ० ६८; संयुत्तनिकाय भाग २ (२२-५८-६१), पृ० २९५; कथावत्थु (३-२२(१).१), पृ० २०७।

४. “यं समणेन पत्तब्बं ब्राह्मणेन वुसीमता।

यं वेदगुणा पत्तब्बं, भिसक्केन अनुत्तरं ॥”

टीका सुमंगलविलासिनी में बुद्ध को तथागत कहा है।<sup>१</sup> बुद्ध के अनुयायी उनको “भगवा” कहकर पुकारते थे, दूसरे लोग उनको गौतम नाम से ही जानते थे। अन्यत्र उन्हें यक्ष<sup>२</sup>, शाक्य<sup>३</sup>, ब्रह्मा<sup>४</sup> एवं महामुनि<sup>५</sup> आदि नामों से भी सम्बोधित किया गया है।

दीघनिकाय, अंगुत्तरनिकाय और विशुद्धिमग्ग में बुद्ध के निम्न विशेषण उपलब्ध होते हैं—

“भगवा, अरहं सम्मासम्बुद्धो, विज्जाचरणसम्पन्नो, सुगतो, लोक-विद्, अनुत्तरो पुरिस धम्मसाग्धि, सत्था देव मनुस्सानं, बुद्धो भगवा।”<sup>६</sup>

अर्थात् भगवान् बुद्ध, अर्हत्, सम्यक्-ज्ञान सम्पन्न, विद्या एवं आचरण से युक्त, सद्गति को प्राप्त करने वाले, लोक-ज्ञाता, अनुपम, श्रेष्ठ मनुष्यों धर्म के नायक, देवता एवं मनुष्यों के शास्ता थे।

सुमंगलविलासिनी में बुद्ध को अपरिमितवर्ण से युक्त कहा गया है,<sup>७</sup> जो उनके विशिष्ट व्यक्तित्व का परिचायक है।

महायान ग्रन्थ सद्धर्मपुण्डरीक में बुद्ध को स्वयंभू, विजेता, वैद्य, आत्मदीप्त, विश्व का अधिष्ठाता, पाप रहित, प्रकाश देने वाला, सभी पदार्थों में उत्तम, मितभाषी एवं देवाधिदेव आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। इन विशेषणों में विश्व का अधिष्ठाता एवं देवाधिदेव ऐसे विशेषण हैं जो “बुद्ध” को एक लोकोत्तर व्यक्तित्व वाला बना देते हैं। यहीं बुद्धत्व की अवधारणा में ईश्वरत्व का आरोपण होता है।

“यं निम्मलेन पत्तब्बं, विमलेन सचीमता।

यं आणिना च पत्तब्बं, विमुत्तेन अनुत्तरं ॥”

“सोहं विजितसङ्गामो, मुत्तो मोचेमि बन्धना।

नागोमिह परमदन्तो, असेसो परिनिब्बुतो”ति ॥”

—अंगुत्तरनिकाय भाग ३ (८।१।५), पृ० ४२२

१. सुमंगलविलासिनी भाग १, पृ० ५९।

२. मज्झिमनिकाय भाग २ (६.२१), पृ० ६०।

५. खुद्दकनिकाय भाग १, पृ० ३१८।

३. सुत्तनिपात, पृ० ९१; सुत्तनिपात कमेन्टरी भाग २, पृ० ४१८।

४. बुद्धवंश कमेन्टरी, पृ० ३८।

५. सुमंगलविलासिनी-I-३१५

६. सद्धर्मपुण्डरीक (२२८.४, २२९.१, २९६.६)



## ४. हीनयान और महायान में बुद्ध की अवधारणा

### (अ) हीनयान में बुद्ध

हीनयान में बुद्ध को लोक ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ तथा परम बोधि को प्राप्त कहा गया है। वे सामान्य मनुष्य की तरह माता के गर्भ से जन्म लेते हैं। उनका विकास भी अन्य जरायुज प्राणियों के समान ही होता है। जन्म सम्बन्धी कुछ विशेषताओं को छोड़कर वे भी सामान्य व्यक्तियों की तरह बाल एवं कौमार्य अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं तथा उनका भौतिक शरीर भी जरामरण की व्याधि से युक्त होता है। हीनयान के अनुसार बुद्ध भी अपने रागादि मलों का उच्छेद कर, क्लेश बन्धन से विमुक्त हो अर्हत्-पद को प्राप्त करते हैं, उनका चित्त संसार से विमुक्त होता है और मन विषयों से छुटकारा प्राप्त कर लेता है किन्तु इसके लिए अनेकानेक पूर्व जन्मों में शील एवं ब्रह्मचर्य की साधना करना होती है, पूर्व जन्मों के साधना के द्वारा अर्जित पुण्य के फलस्वरूप वे अपने अन्तिम जन्म में एक विशिष्ट व्यक्तित्व को प्राप्त करते हैं इस जन्म में भी वे साधना करते हैं तथा अन्त में अर्हत् पद को प्राप्त कर लेते हैं। अर्हत् पद को प्राप्त करने की उनकी यह यात्रा अर्हत् पद प्राप्त करने वाले दूसरे साधकों से बहुत भिन्न नहीं होती। केवल अन्तर यह होता है, जहाँ अर्हत् पद को प्राप्त सामान्य साधक उसे प्राप्त कर लोक-पीड़ा के निवारण के लिए प्रयत्नशील नहीं होता, वहाँ बुद्ध अपने पूर्व जन्मों की साधना के वैशिष्ट्य के कारण जिस सत्य को उद्घाटित करता है उसे अपने तक सीमित न रखकर जन-जन को उसका उपदेश देता है। जिससे संसार के लोग अपनी दुःख-विमुक्ति के लिए प्रयत्नशील हो सकते हैं। जन्म सम्बन्धी कुछ विशेषताओं को छोड़कर धर्म चक्र का प्रवर्तन ही एक ऐसी विशेषता है जो बुद्ध को एक सामान्य अर्हत् से भिन्न करती है। पाल त्रिपिटक के अनुसार सामान्य अर्हत् की अपेक्षा बुद्ध में निम्न विलक्षणताएँ पाई जाती हैं—

### (आ) बुद्ध के जन्म सम्बन्धी विलक्षणताएँ

दीघनिकाय के महापदान सुत्त में बुद्ध के जन्म के सम्बन्ध में निम्न अलौकिकताओं का वर्णन हमें मिलता है।<sup>१</sup>—

१. दीघनिकाय भाग २, महापदानसुत्त (१.३.१७), पृ० ११-१४

१. बोधिसत्व तुषित देवलोक से च्युत हो स्मृतिमान जाग्रत होकर माता के उदर में प्रवेश करते हैं ।
२. बोधिसत्व जब तुषित देवलोक से च्युत होकर माता के गर्भ में प्रवेश करते हैं तब ममस्त लोक में विपुल प्रकाश तथा लोकधातु (ब्रह्माण्ड) में कम्पन होता है ।
३. बोधिसत्व के माता की कुक्षि में प्रवेश करने के पश्चात् सदैव चार देवपुत्र चारों दिशाओं में माता की रक्षा के लिए रहते हैं, ताकि उनकी माता को कोई मनुष्य या अमनुष्य कष्ट न दे सके ।
४. बोधिसत्व जब माता की कुक्षि में प्रवेश करते हैं, तब से उनकी माता शीलवती होती है, वह हिंसा, चोरी, दुराचार, मिथ्याभाषण तथा मादक वस्तुओं के सेवन से विरत रहती है ।
५. बोधिसत्व की माता का चित्त पुरुष की ओर आकृष्ट नहीं होता । कामवासना के लिए उनकी माता पुरुष के राग से जीती नहीं जा सकती ।
६. जब से बोधिसत्व माता के गर्भ में प्रवेश करते हैं, तब से माता को सभी प्रकार सुखोपभोग उपलब्ध रहते हैं ।
७. बोधिसत्व के माता के गर्भ में प्रवेश करने के पश्चात् उनकी माता को कोई व्याधि नहीं होती तथा बोधिसत्व की माता उनको अपने उदर में स्पष्ट देखती है ।
८. बोधिसत्व की माता उनके जन्म के सात दिन बाद मरकर तुषित देवलोक में उत्पन्न होती है ।
९. बोधिसत्व की माता बोधिसत्व को पूरे दस माह कुक्षि में रखकर प्रसव करती है । वह दस माह पूर्ण होने के पहले प्रसव नहीं करती है ।
१०. बोधिसत्व की माता बोधिसत्व को खड़े-खड़े प्रसव करती है ।
११. बोधिसत्व माता की कुक्षि से निकलकर पृथ्वी पर गिरने भी नहीं पाते कि चार देवपुत्र उन्हें लेकर माता के सम्मुख रहते हैं ।
१२. बोधिसत्व जब माता की कुक्षि से निकलते हैं तब बिल्कुल कफ, रुधिर आदि मलों से अलिप्त ही निकलते हैं ।
१३. बोधिसत्व जब माता की कुक्षि से बाहर आते हैं, तो आकाश से शीत और उष्ण जल को दो धारायें बहती हैं, उनसे बोधिसत्व और उनकी माता का प्रक्षालन होता है ।

११० : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

१४. बोधिसत्व जब माता की कुक्षि से उत्पन्न होते हैं तब वे पैरों पर खड़े होकर उत्तर की ओर मुँह करके सात कदम चलते हैं, श्वेत छत्र के नीचे सभी दिशाओं को देखते हैं और घोषित करते हैं कि इस लोक में मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं अग्र हूँ, मैं ज्येष्ठ हूँ। यह मेरा अन्तिम जन्म है फिर जन्म नहीं होगा।
१५. बोधिसत्व जब माता की कुक्षि से निकलते हैं तब सम्पूर्ण लोक में प्रकाश होता है तथा कुछ समय के लिए संसार की बुराइयाँ दूर हो जाती हैं।

### (इ) बुद्ध के शरीर के ३२ लक्षण

दीघनिकाय के महापदानसुत्त में बुद्ध के शरीर को निम्न ३२ लक्षणों से युक्त बताया गया है<sup>१</sup>—

१. वे सुप्रतिष्ठितपाद होते हैं।
२. उनके पादतल में सर्वाकार परिपूर्ण चक्र होते हैं।
३. उनको एड़ियाँ ऊँची होती हैं।
४. उनकी उँगलियाँ लम्बी होती हैं।
५. उनके हाथ-पैर मृदु तथा कोमल होते हैं।
६. उनके हाथ और पैर को उँगलियों के बीच छेद नहीं होते।
७. उनके पावों के टखने शंकु के समान वतुलाकार होते हैं।
८. उनकी जाँघें हिरनी के जाँघों के समान होती हैं।
९. उनके हाथ इतने लम्बे होते हैं कि वे बिना झुके अपनी हथेलियों से अपने घुटनों का स्पर्श कर सकते हैं।
१०. उनकी जननेन्द्रिय चमड़े से ढकी हुई होती है।
११. उनके शरीर का वर्ण स्वर्ण के समान होता है।
१२. उनके शरीर पर धूल नहीं जमतो है।
१३. उनके प्रत्येक रोम-कूप में एक ही बाल होता है।
१४. उनके बाल अंजन के समान नीली कान्ति युक्त तथा कुंडलित (घुंघ-राले) होते हैं।
१५. वे लम्बे अकुटिल शरीर वाले होते हैं।
१६. उनके शरीर के सात भाग ठोस होते हैं।
१७. उनका शरीर सिंह-पूर्वाद्धं काय अर्थात् उनकी छाती उठी हुई होती है।

१. दीघनिकाय भाग २, महापदानसुत्त (१-४-२०), पृ० १५-१६।

- १८ उनके दोनों कन्धों के ऊपर का भाग ठोस होता है ।
१९. उनका शरीर वर्तुलाकार हाता है अर्थात् पालथी मारकर बैठने पर उनके शरीर की लम्बाई-चौड़ाई बराबर होती है ।
२०. उनके दोनों कन्धे समान परिमाण के होते हैं ।
२१. उनकी शिराएँ (नाड़ियाँ) सुन्दर होती हैं ।
२२. उनकी ठोड़ी सिंह के समान होती है ।
२३. उनके मुख में ४४ दाँत होते हैं ।
२४. उनके दाँत सम होते हैं ।
२५. उनकी दंतपंक्ति छेद रहित होती है ।
२६. उनकी दंतपंक्ति शुभ्र होती है ।
२७. उनकी जिह्वा लम्बी होती है ।
२८. उनका स्वर मधुर होता है ।
२९. उनकी आँखें अलसी के पुष्प के समान नीली होती हैं ।
३०. उनकी पलकें गाय के समान होती हैं ।
३१. उनकी भौहों की रोम-राजी अत्यन्त कोमल और शुभ्र होती हैं ।
- ३२ उनका शिर (मस्तक) उष्णोष्णकार अर्थात् बीचमें से कुछ ऊँचा होता है ।

### (ई) धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए ब्रह्मा द्वारा प्रार्थना करना

यह मान्यता है कि “अर्हत्” सम्यक् सम्बुद्ध होने के बाद बुद्ध के मन में प्रथम यह विचार आता है कि लोक मेरे उपदेश को ग्रहण नहीं कर पायेगा । उसी समय महाब्रह्मा आकर धर्मोपदेश देने की प्रार्थना करता है कि भगवान् धर्म का उपदेश करें क्योंकि धर्म को जानने वाले हैं ।”<sup>१</sup>

### (उ) बुद्ध का सशरीर देवलोक गमन

पालि त्रिपिटक में एक उल्लेख यह मिलता है कि भगवान् बुद्ध ने अपनी माता को धर्मोपदेश देने के लिए एक वर्षावास तुषित लोक में व्यतीत किया ।<sup>२</sup>

दीघनिकाय के महापदानसुत्त में यह भी उल्लेख है कि भगवान् बुद्ध

१. दीघनिकाय भाग २, महापदानसुत्त (१.६.६२-६४) पृ० ३६
२. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ११८

एक बार शद्धावास देवलोक में गये । जहाँ पूर्व ६ बुद्धों तथा उनके काल में जिन व्यक्तियों ने पन्नज्या धारण कर साधना की थी, उनमें से अनेक लोग इस देवलोक में देवता के रूप में जन्मे थे, उन सभी ने आकर बुद्ध को अपना परिचय दिया और बताया कि वे किस बुद्ध के शासन काल में प्रव्रजित होकर इस देवलोक में जन्मे हैं ।<sup>१</sup>

### (ऊ) प्रातिहार्य

अवदान के प्रातिहार्य सूत्र में यह कथा वर्णित है,<sup>२</sup> कि पूरण-कश्यप आदि छः तीर्थिकों ने राजगृह में एकत्र होकर विचार किया कि श्रमण गौतम के लोक में उपस्थिति के कारण हम लोगों का मान-सम्मान दिन पर दिन कम होता जा रहा है जबकि हम लोग ऋद्धिमान एवं ज्ञानवान हैं, श्रमण गौतम के ऋद्धि-प्रातिहार्य (चमत्कार) जानने हेतु उन तीर्थिकों ने श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित् प्रार्थना की, कि आप श्रमण गौतम से चमत्कार दिखाने को कहें । राजा ने श्रमण गौतम से चमत्कार दिखाने का आग्रह किया । बुद्ध ने कहा कि मेरा तो विचार है कि मनुष्य को अपने गुण छिपाने चाहिए और अवगुणों को प्रकट करना चाहिए । पुनः राजा ने कहा कि आप दूसरों के संशय एवं भ्रम को दूर करने हेतु प्रातिहार्य दिखावें । तदनन्तर श्रावस्ती के जेतवन में एक मण्डप बनाया गया । सभी तीर्थिकों, श्रावकों ने देखा कि भगवान् के शरीर से निसृत स्वर्णिम रश्मियों से समस्त लोक आभासित हो गया । ब्रह्मा आदि देवता भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा कर दाहिनी ओर बैठ गये और शक्रादि देवता बाईं ओर बैठ गये । नन्द, उपनन्द और नाग राजाओं ने भगवान् के बैठने के लिए शकट-चक्र के परिमाण के बराबर सहस्र पंखुड़ियों वाला स्वर्ण-कमल निर्मित किया । भगवान् उस पर विराजमान हो गये । एक पद्म के ऊपर दूसरे पद्म पर भी भगवान् बैठे दिखाई पड़ने लगे । इस प्रकार भगवान् ने अनेक बुद्ध-पिण्डी निर्मित की जिसमें कुछ बुद्ध शय्यासीन , कुछ खड़े हैं, कुछ चमत्कार दिखाते हैं और कुछ प्रश्न पूछते दिखाई दिये । इस कथा के अनुसार ज्ञात होता है कि बुद्ध प्रातिहार्य द्वारा अनेक बुद्धों की सृष्टि करते थे ।

१. दीघनिकाय भाग २, महापदान सुत्त (१६.७२-७४), पृ० ३९-४३

२. अवदान उद्धृत-बौद्ध धर्म दर्शन, (आचार्य नरेन्द्र देव), पृ० ११८

## ५. बुद्धत्व की अवधारणा : हीनयान से महायान को यात्रा

बुद्धत्व की अवधारणा का चरम विकास हमें महायान परम्परा में दिखाई देता है। बौद्ध धर्म के लोकोपकारी विकसित रूप को महायान कहते हैं; किन्तु इसके मूल बीज प्रारंभिक बौद्ध धर्म में भी उपलब्ध हैं। महायान का ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है जिसके मूल बीज को प्रारंभिक बौद्ध धर्म में खोजा न जा सके। उदाहरणार्थ माध्यमिकों का शून्यवाद प्रारंभिक बौद्ध धर्म के अनित्य, दुःख और अनात्म का ही विकसित तात्त्विक रूप है। महायान में विश्व के कल्याण को जो कल्पना विशेष रूप से दृष्टिगत होती है वह भगवान् बुद्ध के प्रथम उपदेश में निहित है—

“चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं ।”<sup>१</sup>

महायान में कर्षणा की भावना ने जो चरम विकास प्राप्त किया, वह भी प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के चार ब्रह्म विहारों—मैत्री, कर्षणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ का ही विकसित रूप है। महायान दर्शन का केन्द्र बिन्दु बोधिसत्व की अवधारणा है, वह भी पालि निकाय में यत्र-तत्र पाई जाती है। पालि निकाय के कई सूत्रों में बुद्ध के ये वाक्य मिलते हैं— “बुद्ध होने के पूर्व मैं बोधिसत्व हो था।” बोधिसत्व का अर्थ होता है बोधि के लिए प्रयत्नशील प्राणी। भगवान् अपने पूर्व जन्मों में, जब वे बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए साधना कर रहे थे, बोधिसत्व ही थे। जातकों में जो बुद्ध के पूर्व जन्मों की अनेक कहानियाँ उपलब्ध हैं वास्तव में वे बोधिसत्व की ही कहानियाँ हैं। इस प्रकार पालि साहित्य में बोधिसत्व की अवधारणा भी स्पष्ट रूप से उपलब्ध है, फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि महायान में इसे एक निश्चित एवं व्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में विकसित किया गया है।<sup>२</sup> बोधिसत्व के रूप में बुद्ध के परम कारुणिक स्वरूप का विकास निश्चय ही महायान की देन है।

बुद्धत्व की अवधारणा की हीनयान से महायान की ओर जो यात्रा हुई वह विभिन्न चरणों में सम्पन्न हुई है उसमें संक्रमण कालीन बौद्ध सम्प्रदाय सर्वास्तिवाद और महासांघिकों का भी अपना योगदान है। अतः

१. (अ) महावग्ग (१।१०।३२), पृ० २३

(ब) दीघनिकाय भाग २, महापदानसुत्त (१।६।६५), पृ० ३७।

२. बौद्ध धर्म और अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ६०४ (भरतसिंह उपाध्याय)

महायान में बुद्ध की अवधारणा की चर्चा के पूर्व इन दोनों की बुद्ध संबंधी अवधारणा पर विचार करेंगे।

### (क) सर्वास्तिवाद में बुद्ध

सर्वास्तिवाद हीनयान सम्प्रदाय का ही एक रूप है, इसमें बुद्ध को जरायुज माना गया है। सर्वास्तिवाद के ग्रन्थ दिव्यावदान में बुद्ध के रूप काय और धर्मकाय ऐसे दो भेदों का उल्लेख है। उसमें बुद्ध के रूपकाय को अनित्य माना गया है, यद्यपि उसे मृगमयी देव-प्रतिमा के समान पूजनीय भी बताया गया है। यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ पालि त्रिपिटक<sup>१</sup> में स्वयं बुद्ध वचन के द्वारा जिस रूपकाय को "किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन" कहकर महत्त्वहीन कहा गया था और धर्म शासन या धर्मकाय को महत्त्वपूर्ण बताया गया था, वहाँ सर्वास्तिवादी बुद्ध के इस रूपकाय को अनित्य मानते हुए भी पूजनीय मानते थे। अभिधर्मकोश में, जो सर्वास्तिवादी विचारों का एक प्रमुख ग्रन्थ है, बुद्ध की एक प्रमुख विशेषता उनकी सर्वज्ञता है। उनके अनुसार प्रत्येक बुद्ध श्रावक, (अर्हत्) विलिप्त-सम्मोह से मुक्त होते हुए भी अक्लिष्ट सम्मोह से पूर्णतया मुक्त नहीं होते हैं, अतः वे सर्वज्ञ नहीं होते हैं। सर्वज्ञ तो केवल बुद्ध ही होते हैं। इस प्रकार सर्वास्तिवादी बुद्ध की सर्वज्ञता का प्रतिपादन करते हैं। जबकि पालि त्रिपिटक में इस सर्वज्ञता को कोई महत्त्व नहीं दिया गया, वे यह मानते हैं कि इस असाधारण ज्ञान के द्वारा बुद्ध ही सब जीवों के कल्याण को जान सकते हैं और जगत् के दुःख को दूर कर सकते हैं। सर्वास्तिवादो बुद्ध के रूपकाय को विपाकज मानते थे अर्थात् वह शाक्य मुनि के पूर्व कर्म के विपाक के रूप में उपलब्ध हुई थी इसी विपाकज काय के कारण शाक्य मुनि को रोग, क्षति आदि उत्पन्न हुए थे। सर्वास्तिवाद में बुद्ध के शरीर को अनेक लक्षणों और अनुव्यंजनों से तथा रश्मि प्रभा से युक्त बताया गया है। इस मत में बुद्ध अद्भुत शक्तिशाली और विलक्षण पुष्प हैं, जिनका देह तो भौतिक किन्तु चित्त सर्वज्ञ है।

### (ख) महासांघिक मत में बुद्ध

महासांघिक महायान का ही पूर्व रूप है। महासांघिक मत में बुद्ध एवं बोधिसत्व को औपपादुक माना गया है। इस प्रकार उनका मत हीनया-

नियों और सर्वास्तित्वादियों से भिन्न है क्योंकि वे दोनों बुद्ध को जरायुज मानते थे। इस मत में वे प्राणी औपपादुक कहे जाते हैं, जिनकी इंद्रियाँ अविकल और पूर्ण होती हैं। जिनके शरीर शुक्ल-शोणित आदि उपादानों से रहित होते हैं, सर्व अंग-प्रत्यंग से पूर्ण होते हैं। देव, नारक और अन्तरा-भव ऐसे ही औपपादुक प्राणी हैं। महासांघिक मत में बुद्ध की लोकोत्तरता पर बल दिया गया है क्योंकि वे अनाश्रव और अमर हैं। महासांघिक बुद्ध के रूपकाय को विपाकज नहीं मानते अपितु निर्माणकाय मानते हैं। उनके मत में बुद्ध का रूपकाय अनन्त और अनाश्रव है। बुद्ध के रूप की अनन्तता तीन प्रकार की मानी गई है—आकार, संख्या और हेतु कृत।

बुद्ध छोटे-बड़े आकारों को धारण कर सकते हैं। वे यथेष्ट संख्या में शरीर निर्माण कर सकते हैं। इनके अनुसार लोक में दृश्य काय, उनकी वास्तविक काय न होकर निर्माणकाय है। वास्तविक-काय तो अमर और अनन्त है और इस प्रकार बुद्ध की आयु भी अनन्त है। महासांघिक भी बुद्ध को सर्वज्ञता को स्वीकार करते हैं तथा यह मानते हैं कि बुद्ध नित्य समाधिस्थ हैं और उनका चित्त एक ही क्षण में सब कुछ जान सकता है।

महासांघिक मत में बुद्ध की रूपकाय पूर्व पुण्यों का परिणाम, अनन्त विशुद्ध, अनन्त प्रभामय तथा आधिष्ठानिक ऋद्धि के द्वारा यथेष्ट स्थान पर यथेष्ट-रूप धारण करने में समर्थ मानी गई है। हमें यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि महासांघिकों को यही रूपकाय महायानियों की सम्भोगकाय बन गयी है।

### (ग) महायान में बुद्ध

महायान के अनुसार बुद्ध अपने पूर्व जीवन में बोधिसत्त्व के रूप में १० पारमिताओं को पूर्ण करने के बाद बुद्धत्व को प्राप्त करते हैं। इन पारमिताओं की साधना में पूर्णता की प्राप्ति एक जन्म में न होकर अनेक सहस्र कल्पों में होती है। जातक अट्ठकथा से ज्ञात होता है गौतमबुद्ध ने भी ५५० बार विविध योनियों में जन्म लेकर इन पारमिताओं की साधना की और अन्त में इनमें पूर्णता प्राप्त की। महायान साहित्य में पालि त्रिपिटक को अपेक्षा भी बुद्ध को एक विलक्षण व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार बुद्ध लोकोत्तर व्यक्तित्व से युक्त हैं। वे श्वेत गज के रूप में माता की कुक्षि में प्रवेश करते हैं किन्तु जरायुजों की



तरह गर्भ में उनका विकास नहीं होता। वे पूर्णेन्द्रिय ही माता के गर्भ में प्रवेश करके दक्षिण कुक्षि से उत्पन्न हो जाते हैं। महायान में उनके शरीर को औपपादुक कहा गया है। वे मात्र लोकानुवर्तन के लिए ही मानव रूप में दिखाई देते हैं। महायान को एक शाखा वैतुल्यकों का तो यहाँ तक कहना है कि तुषित लोक से महामाया के गर्भ में एक निर्माण-काय का अवतरण होता है।<sup>१</sup> बुद्ध के जन्म से लेकर उनके बाद का जीवन महायान में लोकोत्तर ही माना गया है। महायान को यह मान्यता है कि बुद्ध की साधना तो अपने पूर्व बोधिसत्व के जीवनो में ही पूर्ण हो चुकी होती है। यहाँ तो वे मात्र लोकानुवर्तन के लिए ही साधना करते हैं और संसार के प्राणियों की दुःख विमुक्ति के लिए धर्म चक्र का प्रवर्तन करते हैं।<sup>२</sup>

## ६. महायान में त्रिकायवाद की अवधारणा का विकास

हीनयान और महायान सम्प्रदाय के प्रारम्भिक ग्रन्थों में हमें बुद्ध के रूपकाय और धर्मकाय—इन दो कायों की चर्चा उपलब्ध होती है।<sup>३</sup> रूपकाय का तात्पर्य प्रारम्भ में, भगवान् बुद्ध के भौतिक शरीर से था; इसी प्रकार उनका धर्मकाय उनके उपदेशों का सूचक था।<sup>४</sup> क्रमशः बुद्ध के रूपकाय अर्थात् भौतिक देह का सामान्य लोगों की भौतिक देह की अपेक्षा विशिष्ट माना जाने लगा। सामान्यतया बुद्ध के इस रूपकाय को अनित्य एवं विनाशशील माना गया था, किन्तु धीरे-धीरे उसमें भी अलौकिकताओं का प्रवेश होता गया। यह माना जाने लगा कि यह रूपकाय न केवल महापुरुषों के लक्षणों से युक्त है अपितु उसे एक विशिष्ट प्रकार की संर-

१. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३५७ (डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय)

२. वही, पृ० ३५७

३. (अ) विसुद्धिमगो, सद्धम्मसंगहो तुलनीय दत्त, महायान, पृ० १०१-२

(ब) श्रोणकोटि कर्ण की उक्ति है—“दृष्टोमयोपाध्यायानुभावेन स भगवान् धर्मकायेन, नोतु रूपकायेन”—दिव्यावदान, पृ० ११

(स) स्थविर की उक्ति भी ऐसी ही है—“यदहं वर्षशतपरिनिवृत्ते भगवति प्रव्रजितः, तद्धर्मकायो मया तस्य दृष्टाः। त्रैलोक्यनाथस्य काञ्चनाद्रि-निभस्तस्य न दृष्टो रूपकायो मे”—दिव्यावदान, पृ० २२५

उद्धृत—बौद्ध धर्म का इतिहास, पृ० ३४१-३४४

४. ‘अलं वक्कलि किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन। यो खो वक्कलि धम्मं पस्सति सोमं पस्सति। यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति। संयुत्तिकाय, वक्कलिसुत्त (२२.८६.१४), पृ० ३४१

चना माना गया। उनका काय बल विपुल माना गया। महासांघिकों ने बुद्ध के रूपकाय को अनन्त और अनाश्रव माना तथा यह भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि बुद्ध में अनेक शरीरों के निर्माण की सामर्थ्य होती है।<sup>१</sup> आगे चलकर यह कहा गया कि लोक में दृश्य उनकी काय वास्तविक न होकर निर्माणकाय है। कालान्तर के ग्रन्थों में बुद्ध के रूपकाय को और उनकी आयु को अनन्त माना गया। इस प्रकार रूपकाय की अवधारणा से ही निर्माणकाय की अवधारणा का विकास हुआ। त्रिकायवाद के सिद्धान्त में धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय ऐसे तीन काय माने गये। बुद्ध को रूपकाय ही महायान में दो रूपों में विभाजित हो गई— सम्भोगकाय और निर्माणकाय। मात्र यही दो नहीं अपितु रूपकाय के अर्थ और स्वरूप के सम्बन्ध में भी हीनयान और महायान में एक अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

सर्वास्तिवादी बुद्ध के शरीर को जरायुज रूप में उत्पन्न तथा अस्थि, मांस आदि से युक्त मानते थे। सर्वास्तिवादियों के अनुसार यद्यपि चरम-भक्तिक बोधिसत्त्व उत्पत्ति वशित्व को प्राप्त होते हैं अतः वे औपपादुक शरीर भी धारण कर सकते हैं जैसे कि देवता और नारद।<sup>२</sup> किन्तु फिर भी वे जरायुज उत्पत्ति को ही पसन्द करते हैं, क्योंकि प्रथम तो उनकी इस जरायुज उत्पत्ति से अन्य मनुष्यों का उत्साह बढ़ता है और वे विश्वास कर सकते हैं कि हम भी बुद्धत्व को प्राप्त कर सकते हैं। यदि बुद्ध की उत्पत्ति जरायुज न होकर औपपादुक हो तो सामान्य व्यक्ति उन्हें मायावो या देव या पिशाच के रूप में ही देखेंगे और उनके प्रति उनमें श्रद्धा का आविर्भाव नहीं होगा। जरायुज उत्पत्ति का एक दूसरा कारण यह भी है, ताकि उनके निर्वाण के अनन्तर मनुष्य उनकी शरीर धातु का अवस्थापन कर सकें एवं पूजा कर सकें। यदि बुद्ध की उत्पत्ति औपपादुक होती तो औपपादुक शक्तियों के समान उनका शरीर भी मृत्यु के पश्चात् निर्विशेष लुप्त हो जाता।

सर्वास्तिवादियों की इस अवधारणा के विपरीत महासांघिक बुद्ध-शरीर को सर्वथा लोकोत्तर, औपपादुक और अधिष्ठान समृद्धि-सम्पन्न

१. उद्धृत—बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३४८

२. अभिधर्मकोश भाग ३, पृ० २७-२८; उद्धृत—बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३४९-३५०

मानते हैं।<sup>१</sup> महासांघिक की रूपकाय वस्तुतः महायानियों के सम्भोगकाय के समान अनन्त और अमर है। महासांघिकों का कहना है<sup>२</sup> कि भगवान् का रूपकाय पूर्व पुण्यों का परिणाम अत्यन्त विशुद्ध, अनन्त प्रभामय और यथेष्ट स्थान पर यथेष्ट रूप धारण करने की सामर्थ्य है। इस प्रकार सर्वास्तिवादियों में जो रूपकाय को अवधारणा है वह महासांघिकों में अत्यन्त विलक्षण बन गई। इसी से आगे चलकर महायान सम्प्रदाय में सम्भोगकाय का विकास हुआ।

बुद्ध का धर्मकाय प्रारम्भ में उनका उपदिष्ट धर्म ही था किन्तु आगे चलकर उसमें शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति-ज्ञान और विमुक्ति-दर्शन इन पाँच स्कन्धों का समावेश किया गया। बुद्ध को धर्मकाय का महायान सम्प्रदाय में धर्म के रूप में पुनः विवेचन हुआ और यह धर्मकाय ही आगे चलकर परमार्थ या स्वाभाविककाय मान लिया गया। सद्धर्मपुण्डरीक और स्वर्णप्रभाससूत्र में हमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं<sup>३</sup> जिनके अनुसार यह मान लिया गया है कि बुद्ध की आयु अपरिमित है और उन्होंने अभी भी परिनिर्वाण में प्रवेश नहीं किया है अपितु वे नाना रूपों में प्रकट होकर लोकहित के लिए उपदेश करते रहते हैं। बुद्ध का केवल धर्मकाय ही वास्तविक काय है और लोक समक्ष उनका शरीर निर्माणकाय है किन्तु यह निर्माणकाय मानव देह से बिल्कुल भिन्न है उनके शरीर से अर्चा के लिए सरसों भर भी धातु प्राप्त नहीं हो सकती है अतः उनका शरीर पूर्णतया अभौतिक है और उनके संकल्प से निर्मित है।

मैत्रेयनाथ ने 'अभिसमयालंकारालोक' में चार कार्यों का विवेचन किया है<sup>४</sup>—प्रथम स्वाभाविक काय को पारमार्थिक बताया है। बुद्ध ने स्वयं के काय को धर्मकाय कहा है। बुद्ध बोधिसत्त्वों को अपने सम्भोग के द्वारा उपदेश देते हैं तथा श्रावकों को उपदेश देने के लिए वे अपने निर्माणकाय का उपयोग करते हैं। वैसे बाधिसत्त्वों को समस्त क्रियायें निर्माणकाय के द्वारा ही सम्पन्न होती हैं। निर्माणकाय को धर्मकाय के ही सदृश माना गया है।

१. अभिधर्मकोश भाग ३, पृ० २७-२८; उद्धृत बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० ३४९
२. उद्धृत बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३५०
३. वही, पृ० ३५१
४. वही, पृ० ३५२

महायानसूत्रालंकार<sup>१</sup> में भी बुद्धकाय की त्रिविध व्याख्या की गयी है—स्वाभाविककाय, साम्भोगिककाय और नैर्माणिककाय। स्वाभाविककाय आश्रय परावृत्ति के लक्षण से युक्त होता है। साम्भोगिककाय स्वार्थ और नैर्माणिककाय परार्थ लक्षण से युक्त होते हैं। स्वाभाविककाय सभी बुद्धों में समान होती है। साम्भोगिककाय के द्वारा बुद्ध धर्म का उपदेश देते हैं तथा निर्माणकाय के द्वारा दूसरों की सेवा करते हैं। इन्हीं तीनों कायों से समन्वित होने के कारण तथागत नित्यकाय कहलाते हैं।

### ७. बुद्धत्व की अवधारणा में अलौकिकता का प्रवेश

हीनयान और महायान में बुद्धत्व की अवधारणा के उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध को उनके समकालीन व्यक्ति एक मरणशील मनुष्य ही मानते थे। यद्यपि उस युग में भी बुद्ध के अनुयायियों ने उन्हें बोधि-सम्पन्न महापुरुष मान लिया था, फिर भी दैहिक स्तर पर वे उनके लिए भी सामान्य मानवों से भिन्न नहीं थे। वे उन्हें जन्म, शैशव, जरा-मरण से युक्त एक मनुष्य के रूप में ही देखते थे। उनकी दृष्टि में भी बुद्ध एक ऐसे व्यक्ति थे जिसने माँ को कुक्षि से जन्म लेकर शैशव एवं यौवन की स्थितियों का अनुभव करते हुए अन्त में प्रव्रजित हो अपनी साधना के द्वारा बुद्धत्व को प्राप्त किया, वे ज्ञान और प्रज्ञा के क्षेत्र में अलौकिक होते हुए भी शारीरिक धर्मों की दृष्टि से अन्य मनुष्यों के समान ही माने जाते थे। किन्तु धीरे-धीरे बुद्ध के व्यक्तित्व में अलौकिकता का प्रवेश होता गया। सर्वप्रथम यह माना गया कि अपने अन्तिम जन्म में उन्हें महापुरुषों के ३२ लक्षणों से युक्त एवं साधना के योग्य एक विशिष्ट शरीर प्राप्त हुआ था। इस प्रकार उन्हें मनुष्यों में भी एक विशिष्ट मनुष्य के रूप में मान्य कर लिया गया था। किन्तु क्रमशः उनके व्यक्तित्व में अन्य अलौकिकताओं को प्रवेश मिलता गया और वे एक सामान्य मानव से बिल्कुल भिन्न एक अलौकिक व्यक्ति माने जाने लगे।

दीघनिकाय में “बुद्ध” को एक सर्वश्रेष्ठ मानव के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसमें स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि वे अर्थात् सम्यक् ज्ञान सम्पन्न, विद्या और आचरण से युक्त सद्गति को प्राप्त करने वाले लोकज्ञाता, श्रेष्ठ, मनुष्यों के धर्मनायक, देवता और मनुष्यों के शास्ता

१. उद्धृत—बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३३३-५४।

ज्ञान सम्पन्न तथा भगवान् थे।<sup>१</sup> इससे स्पष्ट होता है कि बुद्ध विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न श्रेष्ठ मानव एवं धर्म प्रवर्तक थे। यद्यपि उसके महापदान सुत्त में बुद्ध को ३२ लक्षणों से युक्त कहा गया है किन्तु ये लक्षण मात्र उनके शरीर की विशिष्टताओं के ही परिचायक हैं, उन्हें अलौकिक नहीं बनाते हैं। इस ग्रन्थ में बुद्ध की अलौकिकता की चर्चा मात्र उनकी गर्भाव-क्रान्ति एवं जन्म को लेकर ही है। इस प्रकार यहाँ बुद्ध को एक मरणशील व्यक्ति से अधिक नहीं माना गया। बुद्ध ने मृत्यु से पूर्व आनन्द से कहा है कि मैंने धर्म एवं विनय का जो उपदेश दिया है मृत्यु के बाद वही तुम्हारा मार्ग दर्शक होगा।<sup>२</sup>

पुनः मज्झिमनिकाय एवं संयुत्तनिकाय में भगवान् बुद्ध अपने को उसी प्रकार धर्म का पुत्र कहते हैं जिस प्रकार ब्राह्मण अपने को ब्रह्मा का पुत्र कहते हैं।<sup>३</sup> किन्तु इसके साथ ही वे अपने को प्राणियों के दुःखों को दूर करने वाला अवश्य मानते हैं।<sup>४</sup> संयुत्तनिकाय में वे कहते हैं कि जो जीव मुझ कल्याण मित्र को शरण में आ जाते हैं वह जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार वे दुःखों से त्राण देने वाले और लोक-उद्धारक हैं।

बुद्ध एक ओर लोक उद्धारक बने तो दूसरी ओर धर्म-पुत्र कहे जाने लगे। धर्म की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए बुद्ध का धर्म के साथ तादात्म्य

१. “भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्भसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा”।

—दीघनिकाय, भाग १, अम्बट्ठसुत्त (३।७।२६), पृ० ८७।

२. “यो, वो, आनन्द, मया धम्मो च विनयो च देसितो पञ्चत्तो, सो वो मम-च्चयेन सत्था”।

—दीघनिकाय भाग २, महापरिनिब्बानसुत्त (३।२३।७१), पृ० ११८।

३. “ब्रह्ममनो पुत्ता ओरसा मुखतो जाता ब्रह्मजा ब्रह्मनिम्मिता ब्रह्मदायादा।”

—मज्झिमनिकाय भाग २, ३४।१), पृ० ३१०।

तुलनीय—“भगवतो पुत्तो ओरसो मुखतो जातो धम्मजो धम्मनिम्मतो धम्म-दायादो।”

—मज्झिमनिकाय भाग ३ (११.२५), पृ० ९२।

—संयुत्तनिकाय भाग २ (१६।१।११), पृ० १८५।

४. मज्झिमनिकाय २६।५।२०, पृ० २२।

स्थापित किया गया। यद्यपि प्रारम्भ में उन्हें धर्म-पुत्र और धर्म-दायाद कहा गया<sup>१</sup> किन्तु कालान्तर में उनका धर्म के साथ तादात्म्य मान लिया गया। संयुक्तनिकाय में भगवान् बुद्ध ने स्वयं वक्कलि से कहा था कि मेरे भौतिक शरीर को देखने से कोई लाभ नहीं है वस्तुतः जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है और जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है।<sup>२</sup> यहाँ बुद्ध का धर्म से तादात्म्य दिखाया गया है। यही बात मिलिन्दप्रश्न (पञ्चो) में भी कही गयी है, उसमें नागसेन कहते हैं धर्म भगवान् के द्वारा देशित है जो धर्म को देखता है वही भगवान् को देखता है। बुद्ध का धर्म से यह तादात्म्य ही महायान के त्रिकायवाद में “धर्मकाय” का आधार बना है और यह धर्मकाय ही बुद्ध का स्वाभाविककाय मान लिया गया।

यद्यपि बुद्ध को प्रज्ञावान् माना गया था किन्तु आगे चलकर उनकी इस प्रज्ञा को सर्वज्ञता में बदल दिया गया। मज्झिमनिकाय में बुद्ध स्वयं सर्वज्ञता की अवधारणा का खंडन करते हैं और अपने आप को सर्वज्ञ नहीं कहते हैं किन्तु आगे चलकर उन्हें सर्वज्ञ कहा जाने लगा।

इस प्रकार बुद्ध के साथ धीरे-धीरे अलौकिकता जुड़ती ही गई। सर्वप्रथम उन्हें ३२ लक्षणों से युक्त एक विशिष्ट पुरुष माना गया उनके जन्म और कर्म दोनों ही दिव्य बनाये गये। बुद्ध के जन्म के साथ अनेक अलौकिकताओं को जोड़ा गया जैसे—जब बुद्ध का जन्म होता है तो सुख-दायक पवन बहने लगता है, लोक में शान्ति हो जाती है। मात्र यह ही नहीं, यह भी माना गया कि बुद्ध जन्म लेते ही पृथ्वी पर सात कदम चलते हैं वहाँ देवता कमल की रचना कर देते हैं आदि आदि। अंगुत्तरनिकाय में द्रोण ब्राह्मण भगवान् बुद्ध के पैरों में चक्र के चिह्न को देखकर उनसे पूछता है कि आप देव, गन्धर्व, यक्ष या एक मरण धर्मा जीव हैं? बुद्ध इसके प्रति उत्तर में कहते हैं कि एक देव, गन्धर्व, यक्ष एवं मरण धर्मा जीव नहीं हूँ क्योंकि यह सब आस्रवों से युक्त होने के कारण बध्य होते हैं जबकि बुद्ध आश्रवों से रहित होने के कारण अबध्य होते हैं।<sup>३</sup>

१. दीघनिकाय भाग ३, अग्गजसुत्त (४।२।८), पृ० ६६।

२. “अलं वक्कलि, किं ते इमिना पूतिकायेन दिट्ठेन? यो सो, वक्कलि, धम्मं पस्सति सोमं पस्सति, यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति।”

— संयुक्तनिकाय भाग २, वक्कलिसुत्त (२२।८६।९४), पृ० ३४।

३. “येसं खो अहं, ब्राह्मण, आसवानं अप्पहीनत्ता गन्धब्बो भवेय्यं.....८ यक्खो भवेय्यं.....मनुस्सो भवेय्यं, ते मे आसवा पहीना उच्छिन्न-मूला

जैसा कि हमने पूर्व में देखा कि पालि साहित्य में उनके सशरीरतुषित देव लोक जाने का भी उल्लेख मिलता है जो कि उनकी अलौकिकता का परिचायक है। यद्यपि बौद्ध परम्परा में यह भी माना गया है कि जिस प्रकार पंक से उत्पन्न कमल पंक और जल से निर्लिप्त रहता है उसी प्रकार बुद्ध सांसारिक वासनाओं से निर्लिप्त रहते हैं।<sup>१</sup> न केवल उनकी दैहिक शक्ति विशिष्ट होती है बल्कि उनकी आध्यात्मिक शक्ति भी विशिष्ट होती है।

## ८. हीनयान और महायान में बुद्ध की अवधारणा का अन्तर

हीनयान में व्यक्ति का चरम-लक्ष्य अर्हत्-पद की प्राप्ति करना माना गया है जबकि महायान के अन्तर्गत व्यक्ति का चरम लक्ष्य बुद्धत्व को प्राप्त करना होता है। हीनयान और महायान के बुद्धत्व के आदर्शों में महत्त्वपूर्ण अन्तर पाया जाता है। अष्ट-साहस्रिका प्रज्ञापारमिता में कहा गया है<sup>२</sup> कि हीनयानियों के उद्देश्य हैं—आत्मा का दमन करना, शम उपलब्ध करना तथा अन्त में निर्वाण लाभ करना, जबकि महायानियों का उद्देश्य है—बुद्धत्व प्राप्त करना। अर्हत् अपने क्लेशों से मुक्ति पाकर अपने को कृतकृत्य समझने लगता है, उसे इस बात की कुछ भी चिन्ता नहीं होती कि संसार के कोटि-कोटि प्राणी क्लेशों से कष्ट भोग रहे हैं जबकि महायान में बोधिसत्व का उद्देश्य होता है संसार के प्राणियों को क्लेशों से मुक्त करना। वह यह मानता है कि संसार में असंख्य प्राणी कष्ट भोग रहे हैं तो मेरे लिए निर्वाण का क्या लाभ? वह तो संसार के सभी प्राणियों के निर्वाण लाभ के बाद ही स्वयं का निर्वाण चाहता है। लंकावतार सूत्र<sup>३</sup> में इसी तरह का एक आख्यान मिलता है। इस

तालावत्थुकता अनभावङ्कता आयति अनुप्पादधम्मा । सेय्यथापि, ब्राह्मण, उप्पलं वा पदुमं वा पुं डरीकं वा उदके जातं उदके सबड्ढं उदका अच्चुगम्म तिट्ठति अनुपलित्तं उदकेन; एवमेव खो अहं, ब्राह्मण, लोके जातो लोके संवड्ढो लोकं अभिभुय्य विहरामि अनुपलित्तो लोकेन । बुद्धो ति मं, ब्राह्मण, धारेही ति ।”

—अंगुत्तरनिकाय भाग २, दोणसुत्तं (४।४।६), पृ० ४१३।

१. अंगुत्तर निकाय भाग २, चतुक्कनिपात, चक्कवग, पृ० ३८।

२. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता (एकादश परिवर्त्य)—उद्धृत बौद्ध दर्शन, पृ० १४६ (पं० बलदेव उपाध्याय)

३. लंकावतार सूत्र ६६/६।

प्रकार बोधिसत्व का हृदय करुणा से ओतप्रोत होता है। उसका कथन होता है कि जब संसार के सभी प्राणियों को दुःख एवं भय समान होते हैं तो मुझमें क्या विशेषता है कि दूसरों की रक्षा न कर स्वयं अपनी ही रक्षा करूँ।<sup>१</sup> बोधिसत्व का हृदय तो करुणा से इतना अधीर रहता है, वे कहते हैं कि जब तक संसार के सभी प्राणी दुःख से निवृत्त नहीं हो जाते तब तक मैं मुक्ति नहीं चाहता। आचार्य शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार में इस स्थिति का बड़े सुन्दर ढंग से चित्रण किया है—“सौगतमार्ग के अनुष्ठान से जिस पुण्य का मैंने अर्जन किया है उसके फलस्वरूप मेरी यही कामना है कि प्रत्येक प्राणी के दुःख शान्त हो जायें। मुक्त पुरुषों के हृदय में जो आनन्द का समुद्र हिलोरे मारने लगता है, वही मेरे जीवन को सुखी बनाने के लिए पर्याप्त है, रसहीन सूखे मोक्ष को लेकर मुझे क्या करना ?”<sup>२</sup>

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हीनयानियों का अन्तिम लक्ष्य स्वविमुक्ति की भावना होता है जबकि महायानियों का उद्देश्य विस्तीर्ण एवं परार्थ की भावना से ओतप्रोत होता है। यद्यपि जहाँ तक “बुद्ध” का प्रश्न है दोनों ही यह मानते हैं कि बुद्ध स्व-दुःख विमुक्ति के साथ लोक की दुःख-विमुक्ति के हेतु प्रयत्नशील होते हैं। हीनयान के अनुसार बुद्ध अपने जीवन पर्यन्त अपने उपदेशों के माध्यम से लोकमंगल करते हुए अन्त में निर्वाण में प्रवेश कर जाते हैं उनसे परिनिर्वाण के पश्चात् मात्र उनका “धर्म” ही लोक का मार्गदर्शक होता है, जबकि महायान के अनुसार वे कोटिबन्ध तक अपनी त्रिकायों द्वारा लोक की दुःख विमुक्ति के लिये प्रयत्नशील रहते हैं और निर्वाण में प्रवेश नहीं करते हैं।

हीनयान में बुद्धत्व की प्राप्ति ने लिये छः पारमिताओं को पूरा करना होता है जबकि महायान में दस पारमिताओं को पूरा करना होता है।

१. “यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम् ।  
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम् ॥” —शिक्षासमुच्चय, पृ० १ ।
२. “एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभं ।  
तेन स्यां सर्वसत्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ॥” —बोधिचर्यावतार ३/६ ।  
“मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः ।  
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किं ॥”

—वही, ८/१०८ ।



हीनयान में ध्यान साधना की प्रधानता होती है जबकि महायान में महाकरुणा की साधना का प्राधान्य होता है। बोधिसत्व का लक्ष्य केवल अपना बुद्धत्व प्राप्त न कर सहस्रों प्राणियों को बुद्धत्व प्राप्त कराना होता है इसीलिए महायान में असंख्य बुद्धों और बोधिसत्वों की कल्पना की गई है। बोधिचित्त उत्पाद के लिए महायान में दस भूमियों—मुदिता, विमला, प्रभाकरी, अचिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघ को पार करना होता है जबकि हीनयान में चार भूमियों—स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् का ही उल्लेख है।

हीनयान और महायान के बुद्धत्व की अवधारणा में पारस्परिक भेद का मुख्य कारण त्रिकायवाद का सिद्धान्त है। हीनयान सम्प्रदाय में स्थविरवादियों ने त्रिकाय के विषय में कुछ स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। महायानियों ने त्रिकायवाद के अन्तर्गत बुद्ध के तीनों कायों—निर्माण-काय, सम्भोगकाय और धर्मकाय को आध्यात्मिक रीति से विवेचना की है। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। बुद्धों की निम्न विशेषताएँ हैं। यथा—

### दसबल<sup>१</sup>

१. तथागत स्थान को स्थान के रूप में, अस्थान को अस्थान के रूप में जानते हैं अर्थात् उन्हें प्रत्येक परिस्थिति में क्या उचित है और क्या अनुचित है, इसका विवेक होता है।

२. तथागत अतीत, अनागत और वर्तमान में किए गये सत्त्वों के कर्मों के विपाक-स्थान और विपाक-हेतु को जानते हैं।

३. तथागत सर्वत्रगामिनी प्रतिपदा को जानते हैं अर्थात् उन्हें निर्माण-मार्ग का यथार्थ ज्ञान होता है।

४. तथागत समस्त लोक या ब्रह्माण्ड को यथार्थ रूप से जानते हैं।

५. तथागत विविध स्वभाव वाले सत्त्वों अर्थात् प्राणियों को यथार्थ रूप से जानते हैं।

६. तथागत सभी प्राणियों की इन्द्रियों की सामर्थ्य और असामर्थ्य को जानते हैं।

७. तथागत ध्यान, विमोक्ष, समाधि और समापत्ति के बाधक (मलों) और सहयोगी कारकों को यथार्थ रूप से जानते हैं।

१. मज्झिमनिकाय भाग १, महासीहनादसुत्त (१२।२), पृ० ९८-१०१

८. तथागत अनेक प्रकार के पूर्व निवासों अर्थात् पूर्वजन्मों का स्मरण कर सकते हैं अर्थात् उन्हें अनेक पूर्व जन्मों का ज्ञान होता है ।

९. तथागत अपने विशुद्ध एवं दिव्य चक्षु से कौन प्राणी मरकर कहाँ उत्पन्न होगा और कहाँ से मरकर यहाँ उत्पन्न हुआ है, इसे जानते हैं ।

१०. तथागत आस्रवों का क्षय हो जाने के कारण चित्त की विमुक्ति और प्रज्ञा की विमुक्ति को इसी जन्म में प्राप्त कर लोक में विचरण करते हैं ।

### चार वैशार<sup>१</sup>

१. तथागत सभी तथ्यों के ज्ञाता होते हैं अतः उन्हें प्राशिनकों से कोई भय नहीं होता, दूसरे शब्दों में उनकी प्रज्ञा विशाल होती है ।

२. तथागत धीणास्रव (निर्मल चरित्र) होते हैं, उन्हें इस बात का कोई भय नहीं होता कि उनके निर्मल चरित्र पर कोई आक्षेप आ सके ।

३. तथागत को कोई विघ्न या बाधा नहीं रहती । अतः उन्हें दूसरों से किसी प्रकार का कोई भय भी नहीं रहता है ।

४. तथागत को अपने द्वारा उपदिष्ट धर्ममार्ग के सम्बन्ध में ऐसा कोई संशय या विचार नहीं होता कि यह सम्यक् प्रकार से दुःख क्षय की ओर नहीं ले जाता है ।

अपने इन्हीं दसबलों और चार वैशारद्यों के कारण तथागत परिषद् में सिंहनाद करते हैं और धर्म चक्र का प्रवर्तन करते हैं । अपने बत्तीस महा पुरुष लक्षण, अस्सी अनुव्यंजन, अष्टादश आवेणिक धर्म<sup>२</sup> यद्यपि हीनयान में उपलब्ध हैं तथापि महायान में इनका विशद् विवरण मिलता है । महायान में बुद्धत्व के लिए प्रज्ञापारमिता की प्राप्ति को आवश्यक माना गया है । जहाँ महायान में "प्रत्येक बुद्ध", "श्रावक" और "अर्हत्" को समान एवं "बुद्ध" से निम्न माना गया है, वहाँ हीनयान में "अर्हत्-पद" को सर्वोच्च एवं गौरवपूर्ण कहा गया है, स्वयं भगवान् बुद्ध भी "अर्हत्" कहे गये हैं ।

महायान स्वहित को छोड़कर परार्थ की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देता है । महायान में बुद्धों की पूजा अथवा उपासना पर विशेष बल दिया जाता है जबकि हीनयान में ध्यान आदि साधनाओं पर जोर दिया जाता है ।

१. मज्झिमनिकाय, महासीहनादसुत्त भाग १ (१२/३), पृ० १०१-१०२

२. उद्धृत-बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३४५ ।

हीनयान का साधक निर्वाण-प्राप्ति से सन्तुष्ट हो जाता है जबकि महायान का साधक सर्वज्ञता, अनुत्तर ज्ञान या "सम्बोधि" जिसे "तथता" भी कहते हैं, उसके लिए प्रयत्नशील रहता है। हीनयान का परमार्थ महायान के लिए संवृति-सत्य है। महायान का परमार्थ तत्त्व या परिनिष्पन्न सत्य तो केवल धर्मशून्यता है। महायान में धीरे-धीरे मन्त्रों और धारणाओं का प्रभुत्व बढ़ता गया जबकि हीनयान इनसे मुक्त रहा। हीनयान शील और समाधि प्रधान है जबकि महायान कर्षणा और प्रज्ञा से ओतप्रोत है।

असंग ने अपने महायानाभिधर्मसङ्गीतिशास्त्र<sup>१</sup> में महायान की सात विशेषताओं का वर्णन किया है। आधुनिक विद्वानों ने भी इसी आधार पर हीनयान और महायान के भेद को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।<sup>२</sup>

### १. व्यापकता

हीनयान का दृष्टिकोण सीमित है, जबकि महायान का दृष्टिकोण व्यापक है।

### २. प्राणिमात्र के लिए कर्षणा

हीनयान का लक्ष्य व्यक्ति का निर्वाण मात्र है, जबकि महायान सभी प्राणियों के निर्वाण के लिए प्रयत्नशील है। उसके अनुसार अर्हत् का पद, निर्वाण और तज्जन्य मुख तो मार का प्रलोभन मात्र है।

### ३. पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य

हीनयान केवल पुद्गलनैरात्म्य में विश्वास करता है। उसके अनुसार आत्मा मात्र की कोई चीज नहीं है। किन्तु महायान पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य दोनों में विश्वास करता है। उसके अनुसार आत्मा और धर्म कुछ भी नहीं है।

### ४. अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति

बोधिसत्व प्राणियों के निर्वाण के लिए प्रयत्न करते समय कभी भी थकावट और निराशा का अनुभव नहीं करता, भले ही उसे इस लक्ष्य की

१. आउटलाइन्स आफ महायान बुद्धिज्म, पृ० ६२-६५

२. उद्धृत—भारतीय दर्शन, पृ० १७९-१८० ( डॉ० नन्द किशोर देवराज)

३. अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, ११; उद्धृत-इण्डियन फिलासफी भाग १, पृ० ६०१

प्राप्ति में अनन्त काल लग जायें। जब कि हीनयान में अर्हत् आने ही निर्वाण तक सोमित रहता है।

#### ५. उपाय-कोशल

बोधिसत्त्व का लक्ष्य प्राणिमात्र को निर्वाण के शाश्वत आनन्द की अनुभूति कराना है। इस लक्ष्य को प्राप्त के लिए वह असंख्य उपायों का प्रयोग करता है। वह प्रत्येक व्यक्ति के निर्वाण के लिए उसी उपाय को काम में लाता है जो उसकी परिस्थिति और बौद्धिक क्षमता के सबसे अधिक अनुकूल होता है। अर्हत् ऐसा कोई उपाय नहीं करते हैं।

#### ६. उच्चतर आध्यात्मिक उपलब्धि

हीनयान में साधक को सर्वोच्च उपलब्धि अर्हत् का पद है। किन्तु महायान में साधक बुद्धत्व को प्राप्त करता है। बुद्ध को समस्त आध्यात्मिक शक्तियाँ उसे उपलब्ध हो जाती हैं।

#### ७. बृहत्तर क्रिया

बुद्धत्व की अवस्था प्राप्त करने पर बोधिसत्त्व ब्रह्माण्ड की दसों दिशाओं में प्रत्येक स्थल पर अपने को प्रकट कर सकता है। वह प्राणियों की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर उन्हें निर्वाण का अमृत पद प्राप्त कराता है। जबकि हीनयान में ऐसा कोई दावा नहीं किया जाता है।

#### बुद्धत्व के सम्बन्ध में हीनयान तथा महायान का अन्तर

प्रोफेसर बी० एल० सुजुकी ने हीनयान और महायान का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है।<sup>१</sup>

#### क. बुद्धत्व को व्याख्या

हीनयान में बुद्ध एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, किन्तु महायान में वे एक तात्त्विक और आध्यात्मिक सत्ता हैं। संसार में अब तक असंख्य बुद्ध हो चुके हैं और असंख्य होंगे। शाक्य मुनि बुद्ध उन्हीं में से एक हैं। परमतत्त्व धर्मकाय है, वही प्राणियों के उद्धार के लिए बुद्ध के रूप में अवतार लेता है और अवतार के पूर्व तुषित लोक में विहार करता है। धर्मकाय के इन रूपों को क्रमशः निर्माणकाय और सम्भोगकाय कहते हैं।

#### ख. बुद्धत्व की प्राप्ति

महायान में प्रत्येक व्यक्ति बुद्धत्व की प्राप्ति का अधिकारी है क्योंकि

१. उद्धृत भारतीय दर्शन, पृ० १८०-१८१ (डा० नन्द किशोर देवराज)

सभी में बुद्धत्व सहजरूप से विद्यमान है और सभी में बोधि-प्राप्ति की उत्कण्ठा है। किन्तु हीनयान के अनुसार बुद्धत्व सबमें नहीं है। अष्टांग-मार्ग की साधना कर लोग इसे अर्जित कर सकते हैं।

ग. सामान्य व्यक्ति की स्थिति

हीनयान में गृहस्थ और भिक्षु में काफी अन्तर है किन्तु महायान में यह अन्तर काफी कम हो गया है।

घ. निर्वाण के अर्थ में भेद

हीनयान के अनुसार निर्वाण शान्ति या पूर्ण विराम की अवस्था है। यह एक गुण है जिसकी अष्टांग मार्ग द्वारा प्राप्ति होती है। महायान के अनुसार संसार और निर्वाण में कुछ भी अन्तर नहीं है।

ङ. कर्म तथा परिवर्त का सिद्धांत

हीनयान में प्रत्येक व्यक्ति को अपने शुभ-अशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ेगा। उससे कोई बचा नहीं रह सकता, किन्तु महायान में बुद्ध कृपा करके दुःख-सन्तप्त व्यक्ति को अपने शुभ कर्मों का फल प्रदान कर दुःख से मुक्त कर सकते हैं।

संक्षेप में हीनयान का बुद्ध कल्याण मार्ग का उपदेष्टा है जबकि महायान का बुद्ध परम कारुणिक है वह अपना पुण्य सम्भार दूसरों को देकर उन्हें दुःख से त्राण देता है।

## ९. बुद्धत्व का अधिकारी कौन ?

(अ) निदान कथा के अनुसार बुद्धत्व के लक्षण

निदानकथा के अनुसार आठ लक्षणों से युक्त को ही बुद्धत्व प्राप्त हो सकता है—मनुष्ययोनि, पुरुषर्लिंगी, हेतु (बुद्ध बीज), शास्ता का दर्शन, प्रव्रजित होना (प्रव्रज्या), गुण-सम्प्राप्ति, अधिकार तथा छन्दता।

### १. मनुष्य योनि

बौद्ध धर्म में बुद्धत्व प्राप्ति के लिए मनुष्ययोनि में जन्म लेना आवश्यक बताया गया है, पशु, पक्षी, देवता आदि कोई भी इनका अधिकारी

१. मनुस्सत्तं लिगसम्पत्ति हेतु सत्थारदस्सनं ।

पब्बज्जा गुणसम्पत्ति, अधिकारी च छन्दता ॥—निदानकथा ३४ ।

—उद्धृत निदानकथा—भूमिका, पृ० ३८ (हरिदाससंस्कृत ग्रन्थमाला)

नहीं बताया गया है। जैन धर्म में भी तीर्थंकरत्व को प्राप्त करने के लिए मनुष्य जन्म ग्रहण आवश्यक माना गया है। जैन और बौद्ध दोनों ही मानते हैं कि केवल मनुष्य ही तीर्थंकर अथवा बुद्धत्व पद का अधिकारी हो सकता है। जहाँ तक हिन्दू धर्म का प्रश्न है इसमें भी मोक्ष की प्राप्ति के लिए मनुष्य जन्म आवश्यक माना गया है किन्तु भगवान् के अवतार ग्रहण करने के लिए किसी भी योनि का बन्धन नहीं। वे मनुष्य, पशु, अर्ध-मनुष्य, अर्ध-पशु अथवा देव किसी रूप में भी अवतरित हो सकते हैं।

## २. पुरुष-लिंगी

बौद्ध धर्म में बुद्धत्व को प्राप्त करने के लिए मनुष्य जन्म के साथ-साथ पुरुषलिंग अर्थात् पुरुष के रूप में जन्म ग्रहण करना आवश्यक माना गया है। बौद्ध धर्म के अनुसार नपुंसक या स्त्रियाँ बुद्धत्व की अधिकारी नहीं। इस सम्बन्ध में दिग्म्बर जैन सम्प्रदाय और बौद्ध दोनों समान मत रखते हैं। जैनों के दिग्म्बर सम्प्रदाय के अनुसार केवल पुरुष ही तीर्थंकर पद का अधिकारी हो सकता है। श्वेताम्बर परम्परा न केवल स्त्रियों और नपुंसकों को मुक्ति का अधिकारी मानती है अपितु यह भी मानती है कि स्त्री तीर्थंकर पद की अधिकारी हो सकती है। उनके अनुसार १९ वें तीर्थंकर मल्लि स्त्री थे। इनका विस्तृत विवरण ज्ञाताधर्मकथा में मिलता है।

## ३. हेतु (बुद्ध-बीज)

हेतु से यहाँ अभिप्राय बुद्ध-बीज से है, क्योंकि मनुष्य योनि में उत्पन्न होने से ही सभी लोग बुद्ध नहीं हो सकते। केवल बुद्ध-जीव से युक्त पुरुष ही बुद्ध हो सकता है। तपस्वी सुमेध के बारे में निदानकथा में कहा गया है कि वे बुद्ध-बीज से ग्रहीत होने के कारण ही बुद्ध हुए।<sup>१</sup> बुद्ध-बीज की इस अवधारणा को जैनों के तीर्थंकर के नामकर्म से तुलनीय माना जा सकता है। जैनों के अनुसार जिस व्यक्ति ने तीर्थंकर-नामकर्म का उपाजन किया हो वही व्यक्ति तीर्थंकर हो सकता है।

## ४. शास्ता का दर्शन

बौद्ध धर्म के अनुसार बुद्धत्व प्राप्त करने वाले व्यक्ति के लिए शास्ता अर्थात् बुद्ध का दर्शन होना आवश्यक माना गया है। जैन परम्परा में इस

१. "सुमेघताप सो किर बुद्धबीजं बुद्धकुरो।"—निदानकथा ४०।

उद्धृत—निदानकथा—भूमिका, पृ० ३९ (हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला)

प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है जिसमें तीर्थङ्कर नामकर्म उपार्जन के लिए किसी अन्य तीर्थङ्कर का दर्शन आवश्यक हो। यद्यपि तीर्थङ्कर नामकर्म उपार्जन के लिए जिन २० बोलों का विधान किया गया है, उनमें अरिहन्त की भक्ति को आवश्यक माना गया है। हिन्दू परम्परा में इस प्रकार की कोई अवधारणा हमें ज्ञात नहीं है।

## ५. प्रव्रजित होना

बौद्ध धर्म में बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए संन्यासी या प्रव्रजित होना आवश्यक माना गया है। संन्यासी या गृहत्यागी होकर ही बुद्धत्व को प्राप्त किया जा सकता है। जैन परम्परा में तीर्थङ्कर के लिए दीक्षा या संन्यास लेना आवश्यक है। तीर्थङ्करों के पंच कल्याणकों में एक कल्याणक दीक्षा-कल्याणक है। सभी तीर्थङ्कर, तीर्थङ्कर के रूप में जन्म लेने के पूर्व एवं अपने अन्तिम जीवन में संन्यास ग्रहण करते हैं। जहाँ तक हिन्दू परम्परा का प्रश्न है, वहाँ अवतार के लिए संन्यासी होना आवश्यक नहीं है। राम-कृष्ण आदि यावज्जीवन गृहस्थ रहे। कुछ ऐसे अवतार भी हुए हैं जिन्होंने यावज्जीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, जैसे परशुराम, वामन, नारद आदि। हिन्दू-परम्परा के अनुसार अवतार संन्यासी भी हो सकता है और गृहस्थ भी।

## ६. गुणसम्प्राप्ति

गुणसम्प्राप्ति से अभिप्राय पाँच अभिज्ञा तथा आठ समापत्ति से है।<sup>१</sup>

डॉ० महेश तिवारी ने निदानकथा के पारिभाषिक शब्द विवरण अध्याय में अभिज्ञा तथा अट्टसमापत्ति की विशद चर्चा की है।

**अभिज्ञा (अभिञ्जा)**—समाधिर्जनित विशेष प्रज्ञा का नाम अभिञ्जा है। रूप-समाधि में पंचम ज्ञान की पूर्णतः परिपक्वता होने पर कुछ मानसिक शक्तियों का उदय होता है। इसमें चित्त के अत्यधिक सूक्ष्म एवं एकाग्र होने पर आध्यात्मिक ज्ञानविशेष की उपलब्धि होती है। यह पाँच प्रकार की कही जाती है। यथा—

“इद्विधिं दिब्बसोत्तं, परिचित्तविजाननं।

पुब्बोनेवासानुस्सति, दिब्बचक्खू ति पञ्चधा॥”

एक से अनेक होना, अनेक से पुनः एक होना, जल में चलना, पृथ्वी में जल की भाँति गोता लगाना, आकाश में उड़ना आदि आश्चर्यजनक

१. उद्धृत—निदानकथा (हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला), पृ० २३७-२३९।

कार्य इद्विविध कहलाते हैं, इसी को इद्वि भी कहते हैं। दिव्यश्रोत्र से उसे एक ऐसी श्रवण शक्ति की प्राप्ति होती है, जिसके सहारे दिव्य तथा मानुषिक समस्त प्रकार के निकट एवं दूरवर्ती शब्दों को सुन लेता है। परचित्तविज्ञानशक्ति के माध्यम से अन्य मनुष्यों के चित्त को जाना जा सकता है। पुब्बेनिवासानुस्सति के सहारे वह अपने अनेक पूर्व जन्मों का पूर्ण विवरण जान लेता है। इसी प्रकार दिव्य चक्षु से वह विभिन्न सत्त्वों में कर्मानुसार हीन या प्रणीत गति तथा योनि में उत्पन्न होते एवं मृत्यु को प्राप्त होते देखता है।<sup>१</sup>

### समापत्ति

समाधि विषयक आठ प्रकार की उपलब्धियों को अट्ठ-समापत्ति कहते हैं। चित्त का विभिन्न विषयों से हटकर एक विषय पर एकाग्र होना ही समाधि की अवस्था कहलाती है। इसे कुशल चित्त की एकाग्रता या चित्त चैतसिकों का किसी एक आलम्बन पर आधान भी कहा गया है—“कुशल चित्तेकगता समाधि। एकारम्मणे चित्तचेतसिकानं समं सम्मा च आधानं ठपनं ति वुत्तं।”<sup>२</sup> पटिसम्भिदामग्ग में इसे एकाग्रता, अविक्षेप, अनिञ्जन सम्यक् एषणा आदि अर्थों में बतलाया गया है।<sup>३</sup>

समाधि दो प्रकार की होती है—रूपसमाधि तथा अरूपसमाधि। रूपसमाधि में आलम्बन का विषय रूप होता है। परन्तु अरूपसमाधि में रूपरहित विषय होता है।

रूपसमाधि की चार अवस्थायें—प्रथम ध्यान, द्वितीय ध्यान, तृतीय ध्यान तथा चतुर्थ ध्यान होती हैं। प्रथम ध्यान में पाँचों ध्यानांग—वितर्क<sup>४</sup> विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता बने रहते हैं। द्वितीय ध्यान में वितर्क एवं विचार अनुपस्थित हो जाते हैं—केवल तीन ध्यानांग रह जाते हैं। तृतीय ध्यान में प्रीतिध्यानांग भी हट जाता है। केवल सुख एवं एकाग्रता के साथ इस ध्यान की प्राप्ति होती है। चतुर्थ ध्यान में सुख के स्थान पर उपेक्षा आ जाती है तथा उपेक्षा एवं एकाग्रता नामक दो ध्यानांगों से युक्त इस ध्यान की उपलब्धि होती है। रूप-समाधि में इन चारों ध्यानों

१. अभिघम्मत्थसङ्गहो १६६-६७, उद्धृत—निदानकथा (डॉ० महेश तिवारी) पृ० २३९।

२. विसुद्धिमग्ग-५७, उद्धृत वही, पृ० २३७।

३. पटिसम्भिदामग्ग-५५, उद्धृत वही, पृ० २३७।



का आलम्बन एक रहता है, केवल ध्यानांगों का ही समतिक्रमण होता है। अभिधर्म के अनुसार पाँच रूपावचर ध्यान कहे गये हैं।

अरूप-समाधि की भी चार अवस्थायें होती हैं, जिन्हे चार अरूपावचर ध्यान कहा जाता है—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आर्किञ्चन्यायतन एवं नेवसंज्ञानासंज्ञायतन। ध्यान की इन चारों अवस्थाओं में उपेक्षा तथा एकाग्रता नामक दो ध्यानांग रहते हैं। इस कारण अरूपावचर के सभी ध्यान पंचम ध्यान कहे जाते हैं। यहाँ प्रत्येक ध्यान का आलम्बन भिन्न-भिन्न रहता है। प्रथम ध्यान में अनन्त आकाश विषय रहता है। द्वितीय ध्यान का लाभ अनन्त-विज्ञान पर होता है। आर्किचन्य ही तृतीय ध्यान का आलम्बन है तथा इसी विषय को शान्त रूप में मनन करते हुए चतुर्थ ध्यान का लाभ होता है।

अस्तु चार रूप-ध्यान तथा चार अरूप-ध्यान को अट्ठ-समापत्ति कहते हैं।

## ७. अधिकार

अधिकार शब्द से तात्पर्य शक्ति या बल है। यह माना गया है कि बुद्ध वही व्यक्ति हो सकता है जिसमें अपार शक्ति या बल हो। जैन परंपरा में भी तीर्थंकर को अपार शक्ति से युक्त माना गया है। यद्यपि यहाँ शक्ति आन्तरिक या चैतसिक शक्ति का ही परिचायक है, फिर भी दोनों परम्पराएँ यह स्वीकार करती हैं कि बुद्ध या तीर्थंकर अपने शरीर की शक्ति से अनन्त बली होते हैं। हिन्दू-परम्परा में भी अवतार को, चूँकि वह ईश्वर का ही रूप है, इसलिए अनन्त शक्ति से सम्पन्न माना जाता है।

## ८. छन्दता

बुद्धत्व प्राप्ति की साधना में लगे व्यक्ति की उसके साधनों के प्रति प्रबल इच्छा, उत्साह, अनवरत प्रयत्न आदि को छन्दता की संज्ञा दी गई है। छन्दता का अर्थ इच्छा स्वातन्त्र्य भी कर सकते हैं। जैन और बौद्ध दोनों परंपरायें यह मानती हैं कि तीर्थंकर और बुद्ध नियति के दास नहीं होते। उनमें स्वतंत्र संकल्प शक्ति होती है। यद्यपि जैनपरम्परा में आयुष्य कर्म के सम्बन्ध में तीर्थंकर को भी परिवर्तन करने में अक्षम माना गया है।

उपरोक्त आठ मूलभूत धर्म बुद्धत्व प्राप्ति के आवश्यक अंग हैं। बौद्ध

ग्रन्थों के अनुसार सुमेध तपस्वी ने इन सभी धर्मों का पालन कर बुद्धत्व प्राप्त किया था—

“सुमेधतापसो पन इमे अट्ठ धम्मो समोधानेत्वा बुद्धभावाय अभिनी-  
हारं कत्वा निपज्जि ।”

संयुत्तनिकाय अट्ठकथा<sup>१</sup> में कहा गया है कि बोधिसत्त्व को आठ धर्मों के अतिरिक्त चार बुद्ध-भूमियों तथा छः अध्याशयों को प्राप्त करना भी आवश्यक है ।

## १. चार भूमियाँ

“उस्साह, उम्मग्ग, अवत्थान तथा हितचरिया” को क्रमशः वीर्य, प्रज्ञा, अधिष्ठान तथा मैत्री भावना भी कह सकते हैं ।

**छः अध्याशय**

नेक्खम्मज्झासय	(निष्क्रम अध्याशय)
पविवेकज्झासय	(प्रविवेक अध्याशय)
अलोभज्झासय	(अलोभ अध्याशय)
अदोसज्झासय	(अद्वेष अध्याशय)
अमोहज्झासय	(अमोह अध्याशय)
निस्सरणज्झासय	(निःसरण अध्याशय)

जातक में बुद्धत्व प्राप्ति के लिए बोधिसत्त्व के लिए तीन चर्याओं (जातत्थ, लोकत्थ, भूतत्थ) तथा स्त्री, पुत्र, राज्य, अंग, जीवन-परित्याग विषयक पाँच महात्याग भी आवश्यक बताये गये हैं ।<sup>२</sup>

इस प्रकार बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए उपरोक्त गुणों का होना आवश्यक बताया गया है ।

## १०. अर्हत्त्व एवं बुद्धत्व की प्राप्ति के उपाय

बौद्ध परम्परा में अर्हत्त्व एवं बुद्धत्व को प्राप्त करने के लिए साधक को कुछ अवस्थाओं या सोपानों से गुजरना पड़ता है । आध्यात्मिक विकास की इन अवस्थाओं को बौद्ध धर्म में भूमियाँ कहा गया है । इन भूमियों की मान्यता को लेकर बौद्ध धर्म के सम्प्रदायों में मत वैभिन्न्य है ।

१. संयुत्तनिकाय अट्ठकथा १-५०, उद्धृत—निदानकथा, भूमिका पृ० ३९ ।

२. जातक सं० ५५२, उद्धृत—निदानकथा ( डा० महेश तिवारी )—भूमिका, पृ० ४० ।

श्रावकयान अथवा हीनयान सम्प्रदाय जिसका चरम लक्ष्य अर्हत् पद अथवा व्यक्तिगत निर्वाण लाभ करना है, आध्यात्मिक विकास की चार भूमियों को मानता है, जबकि महायान सम्प्रदाय, जिसका चरम लक्ष्य बुद्धत्व को प्राप्त कर लोकमंगल के लिए कार्य करना है, आध्यात्मिक विकास की दस भूमियों को मानता है। अब हम यहाँ पर दोनों सम्प्रदायों के विचारों को देखने का प्रयास करेंगे।

### ( अ ) अर्हत्-पद प्राप्त करने के चार-चरण

प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में भी जैन धर्म के समान संसारी प्राणियों की दो श्रेणियाँ कही गई हैं, १—पृथक्जन या मिथ्यादृष्टि, २—आर्य या सम्यक्दृष्टि। प्राणी के आध्यात्मिक अविकास के काल को पृथक्जन की अवस्था कहा जाता है और विकास के काल को आर्य कहा जाता है। विकास के काल का शुभारम्भ तभी होता है जब प्राणी या साधक सम्यक्-दृष्टि के द्वारा निर्वाण के मार्ग की ओर उन्मुख हो जाता है। फिर भी यह सत्य है कि सभी पृथक्जन प्राणी एक समान नहीं होते। कुछ पृथक्जन प्राणी ऐसे भी होते हैं कि जिनका आचरण कुछ सम्यक् प्रकार का होता है अर्थात् वे सम्यक्दृष्टि या यथार्थदृष्टि के सन्निकट होते हैं। अतः पृथक्जन भूमि को अन्धपृथक्जन और कल्याणपृथक्जन इन दो भागों में विभक्त किया है। अन्धपृथक्जन मिथ्यात्व की तीव्रता के कारण निर्वाण मार्ग की ओर उन्मुख ही नहीं होता है, परन्तु कल्याणपृथक्जन निर्वाण मार्ग की ओर अभिमुख तो होता है परन्तु उसे अभी प्राप्त नहीं होता है। मज्झिमनिकाय में इस अवस्था या भूमि को धर्मानुसारी या श्रद्धानुसारी भूमि कहा गया है। हीनयान सम्प्रदाय के अनुसार सम्यक्दृष्टि से युक्त निर्वाण मार्ग के साधक को अर्हत् पद प्राप्त करने के लिए चार अवस्थाओं या भूमियों को पार करना होता है<sup>२</sup>—

- १—स्रोतापन्न भूमि
- २—सकृदागामी भूमि
- ३—अनागामी भूमि
- ४—अर्हत् भूमि

### १. स्रोतापन्न भूमि

‘स्रोतापन्न’ का शाब्दिक अर्थ है धारा में पड़ने वाला, अर्थात् जब

१. मज्झिमनिकाय, प्रथम भाग ६. १. ३. पृ० ४५
२. उद्धृत—बौद्ध दर्शन, पृ० १४० ( पं० बलदेव उपाध्याय )

साधक निर्वाण मार्ग के प्रवाह में प्रवाहित होने लगता है तब वह स्रोतापन्न कहलाता है। बौद्ध विचारधारा के अनुसार इस अवस्था में साधक निम्न तीन संयोजनों अर्थात् बन्धनों का क्षय कर देता है<sup>१</sup>—

१—सत्काय दृष्टि—देहात्म बुद्धि अर्थात् नश्वर शरीर को आत्मा मानकर उसके प्रति ममत्व रखना।

२—विचिकित्सा—सन्देहात्मकता।

३—शीलव्रत परामर्श—व्रत-उपवास आदि बाह्य कर्मकाण्डों के प्रति रुचि रखना।

इस प्रकार साधक दार्शनिक मिथ्यादृष्टि और कर्मकाण्डीय शीलव्रत परामर्श का त्याग कर तथा सब प्रकार की सन्देहात्मक अवस्थाओं को पार कर स्रोतापन्न भूमि में अवस्थित हो जाता है। दार्शनिक एवं कर्मकाण्डीय मिथ्यादृष्टिकोणों एवं सन्देहात्मकता की स्थिति के नष्ट हो जाने के कारण इस स्रोतापन्न भूमि से पतन की ओर जाने की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है और साधक निर्वाणाभिमुख हो आध्यात्मिक दिशा में प्रगति करता है। स्रोतापन्न साधक निम्न चार अंगों से युक्त होता है<sup>२</sup>—

१—बुद्धानुस्मृति—साधक बुद्ध में निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।

२—धर्मानुस्मृति—साधक धर्म में निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।

३—संघानुस्मृति—साधक संघ में निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।

४—साधक शील और समाधि से युक्त होता है।

अर्थात् साधक के हृदयपटल में बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति अटूट श्रद्धा होती है। इस स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त साधक का आचार और विचार विशुद्ध होता है और वह अधिक से अधिक सात जन्मों में निर्वाण लाभ प्राप्त कर लेता है।<sup>३</sup>

## २. सकृदागामी भूमि

इस भूमि में साधक का मुख्य लक्ष्य आस्रवों (राग-द्वेष एवं मोह) का क्षय करना होता है, क्योंकि स्रोतापन्न की अवस्था में साधक काम-

१. दीघनिकाय, पृ० ५७-५८ (उद्धृत—बौद्ध दर्शन पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० २४१)

२. दीघनिकाय, पृ० २८८, उद्धृत—वही, पृ० २४१।

३. उद्धृत—बौद्ध दर्शन, पृ० २४१।

राग ( इन्द्रियलिप्सा ) और प्रतिघ ( दूसरे के अनिष्ट की भावना ) अशुभ प्रवृत्तियों के क्षय का प्रयत्न अवश्य करता है परन्तु उसमें राग-द्वेष एवं मोह रूपी आस्रव शेष रह जाते हैं । इनके क्षय करने का प्रयत्न ही सक्रुदागामी भूमि है । आस्रवों के विनष्ट होते ही साधक अनागामी भूमि में प्रविष्ट हो जाता है ।

### ३. अनागामी भूमि

साधक पूर्व की दोनों भूमियों के अन्तर्गत सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत परामर्श, काम-राग और प्रतिघ-इन पाँचों संयोजनों को नष्ट कर देता है तब वह अनागामी भूमि को प्राप्त कर लेता है । इस अवस्था को प्राप्त कर लेने के पश्चात् यदि साधक आगे साधनात्म विकास नहीं करता है तो वह मरणोपरान्त ( मानवदेह का त्यागकरके ) ब्रह्म लोक में जन्म लेकर शेष पाँच संयोजनों को नष्ट करके अन्त में उसी स्थान से सीधे निर्वाण को प्राप्त करता है ।

### ४. अर्हत्-भूमि या अर्हतावस्था

जब साधक सत्कयदृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत-परामर्श, कामराग, प्रतिघ, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या-इन दसों बन्धनों को नष्ट कर लेता है तो अर्हत् भूमि में प्रविष्ट होता है अर्थात् अर्हत् अवस्था को प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार सम्पूर्ण संयोजनों के समाप्त होने पर वह कृत कार्य हो जाता है अर्थात् उसे अपने लिए करने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता, तथापि वह संघ की सेवा के लिए क्रियाएँ करता है ।

### (ब) बुद्धत्व की प्राप्ति के दस चरण (दस भूमियाँ)

संक्रमण काल की दस भूमियाँ-हीनयान से महायान की ओर संक्रमण-काल में लिखे गये ग्रन्थ महावस्तु में निम्न १० भूमियों का विवेचन किया गया है ।

१. दुरारोहा, २. बद्धमाना, ३. पुष्पमण्डिता, ४. रुचिरा,
५. चित्तविस्तरा, ६. रूपवती, ७. दुर्जया, ८. जन्मनिदेश, ९. यौवराज्य,
१०. अभिषेक ।<sup>१</sup>

महायान की दस भूमियों से यह भिन्न है, यद्यपि महायान की निम्नोक्त दस भूमियों का सिद्धान्त इसी मूलभूत धारणा पर आधारित

है। महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थ “दसभूमिशास्त्र” में बुद्धत्व को प्राप्त करने की निम्न दस अवस्थाएँ (भूमियाँ) बतलाई गई हैं—

१-प्रमुदिता, २-विमला, ३-प्रभाकरी, ४-अचिष्मती, ५-सुदुर्जया, ६-अभिमुक्ति, ७-दूरंगमा, ८-अचला, ९-साधुमती, १०-धर्ममेधा।

असंग के महायानसूत्रालंकार और लंकावतार में ११ भूमियों का उल्लेख मिलता है। महायानसूत्रालंकार और लंकावतार में अधिमुक्ति चर्याभूमि को प्रथम भूमि की संज्ञा दी गई है उसके बाद प्रमुदिता भूमि अन्तिम धर्ममेधा या बुद्ध भूमि तक को परिगणना से ११ भूमियों की संख्या पूर्ण की गई है। इसी प्रकार लंकावतारसूत्र में धर्ममेधा और तथागत ( बुद्ध ) भूमियों को अलग-अलग माना गया है।

### अधिमुक्तचर्याभूमि

असंग का कथन है कि अधिमुक्तचर्याभूमि में साधक को पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य का यथार्थ ज्ञान होता है और यह अवस्था विशुद्धि की अवस्था कही जाती है। बौद्ध धर्म में इसे बोधिप्रणिधिचित्त की अवस्था भी कहा जाता है। इसी भूमि में बोधिसत्त्व दान-पारमिता का अभ्यास करता है। यह बुद्धत्व की दिशा में साधना का पूर्व चरण है। इसके आगे निम्न दस भूमियाँ मानी गई हैं—

### १. प्रमुदिता

इसमें शील की शिक्षा होती है। अर्थात् यह शील विशुद्धि के प्रयास की अवस्था है। बोधिसत्त्व इस भूमि में लोकमंगल की साधना करता है और यह अवस्था बोधिप्रस्थानचित्त की अवस्था कही जा सकती है। बोधिप्रणिधिचित्त में मार्ग का बोध होता है तो बोधिप्रस्थानचित्त में मार्ग में गमन की प्रक्रिया का। इस भूमि में साधक शील-पारमिता का अभ्यास करता है और अपने शील को विशुद्ध कर सूक्ष्म से सूक्ष्म अपराध करने से विरत रहता है। इस प्रकार पूर्ण शील विशुद्धि की अवस्था प्राप्त कर अग्रिम विमला भूमि में प्रविष्ट हो जाता है।

### २. विमला

इस अवस्था में साधक अनैतिक आचरण से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। इसमें विकार पूर्णरूपेण विनष्ट हो जाते हैं, इसी कारण इसको विमला कहते हैं। यह अवस्था आचरण के पूर्ण शुद्धि की अवस्था कहलाती है और

१. उद्धृत-बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३६०-३६२

१२८ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

इसी भूमि में बोधिसत्त्व शान्ति-पारमिता का अभ्यास करता है। यह अधि-चित्त शिक्षा है। इस भूमि का लक्षण ध्यान की प्राप्ति है। इससे अच्युत समाधि का लाभ होता है।

### ३. प्रभाकरी

इस भूमि में साधक समाधि के द्वारा अनेकानेक धर्मों का साक्षात्कार कर लोकहित के लिए बोधि-पक्षीय धर्मों की परिणामना करता है अर्थात् वह बुद्ध का ज्ञानरूपी प्रकाश लोक में फैलाता है इसी कारण इस भूमि को प्रभाकरी कहा गया है।

### ४. अचिष्मती

इस भूमि में साधक क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का विनाश करता है और वीर्य-पारमिता का अभ्यास करता है।

### ५. सुदुर्जया

इस भूमि में साधक दूसरों के धार्मिक विचारों को पुष्ट करता है और स्वचित्त की रक्षा के लिए दुःख पर विजय प्राप्त करता है। यह कार्य अति दुष्कर है इसी से इस भूमि को "दुर्जया" कहा गया है। इस भूमि में प्रती-त्यसमुत्पाद के साक्षात्कार के कारण भवापत्ति (ऊर्ध्वलोकों में उत्पत्ति को आकांक्षा) विषयक संव्लेशों से रक्षा हो जाती है। इस भूमि में बोधिसत्त्व ध्यान-पारमिता का अभ्यास करता है।

### ६. अभिमुखी

इस भूमि में बोधिसत्त्व या साधक प्रज्ञा-पारमिता के आश्रय से संसार और निर्वाण—दोनों के प्रति अभिमुख रहता है। उसमें यथार्थ प्रज्ञा का उदय होता है और उसके लिए संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं रहता। अब संसार उसके लिए बन्धक नहीं रहता। इसमें साधक निर्वाण की दिशा में अभिमुख होता है इसी से इस अवस्था को अभिमुखी भूमि कहा जाता है। चौथी और पाँचवीं भूमि में वह प्रज्ञा का अभ्यास करता है किन्तु इस भूमि में प्रज्ञा की पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

### ७. दूरंगमा

बोधिसत्त्व इस भूमि में शाश्वतवाद और उच्छेदवाद अर्थात् एकांतिक मार्ग से बहुत दूर चला जाता है और बोधिसत्त्व की साधना पूर्ण कर निर्वाण लाभ के योग्य हो जाता है। इस भूमि में बोधिसत्त्व संसार के

अन्य प्राणियों को निर्वाण मार्ग की ओर अभिमुख करता है और इस अवस्था में स्वयं सभी पारमिताओं का पालन करता है एवं विशेषरूप से उपाय कौशल्य-पारमिता का अभ्यास करता है।

## ८. अचला

इस भूमि में संकल्पशून्यता एवं विषयरहित अनिमित्त-विहारी समाधि की उपलब्धि होती है इसलिए यह भूमि अचल कही गई है, विषयों के न रहने से चित्त संकल्प शून्य हो जाता है और संकल्प शून्य होने से चित्त अविचल हो जाता है क्योंकि चित्त की चंचलता के कारण विचार एवं विषय ही होते हैं जबकि इस अवस्था में उनका पूर्णरूपेण अभाव रहता है। चित्त के संकल्पशून्य होने से इस अवस्था में तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है।

## ९. साधुमती

इस भूमि में बोधिसत्त्व के हृदय में संसार के सभी प्राणियों के प्रति दयाभाव एवं शुभ भावनाओं का उदय होता है और वह प्राणियों के बोधि-बीज को परिपुष्ट करता है। समाधि की विशुद्धता एवं प्रतिसंविन्मति (विश्लेषणात्मक अनुभव करने वाली बुद्धि) इस भूमि की प्रधानता है। बोधिसत्त्व को इस अवस्था में दूसरे प्राणियों के मनोगत या आन्तरिक भावों को जानने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

## १०. धर्ममेधा

जिस प्रकार अनन्त आकाश को मेघ व्याप्त कर लेता है उसी प्रकार इस भूमि में धर्माकाश को समाधि व्याप्त कर लेती है। इस भूमि में बोधिसत्त्व दिव्य भव्य शरीर प्राप्त कर कमल पर विराजमान दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुतः यह बुद्धत्व की पूर्ण प्राप्ति की अवस्था है। यहाँ बोधि-सत्त्व बुद्ध बन जाता है।

## बुद्धत्व की प्राप्ति का मूलभूत आधार—बोधिचित्त का उत्पाद

मानव जन्म के द्वारा ही बुद्धत्व की प्राप्ति हो सकती है परन्तु बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए बोधिचित्त का उत्पाद अनिवार्य है। परन्तु ऐसा देखने में आता है कि अधिकांशतः मनुष्य की बुद्धि शुभ कर्मों में प्रवृत्त न होकर अशुभ कर्मों में लिप्त होती है। क्योंकि सभी कालों में पुण्य को दुर्बल



और पाप को प्रबल माना गया है। इसी कारण मानव पापों में फस जाता है। हाँ केवल भगवान् बुद्ध ही जब करुणाशील हो एक घड़ी के लिए लोगों को शुभ कर्मों की ओर प्रेरित करते हैं तभी बोधिचित्त का उत्पाद होता है। जिस प्रकार बादलों से घिरे आकाश-मंडल में कुछ भी दृश्य नहीं होता, परन्तु ज्योंही क्षणमात्र के लिए विद्युत् प्रकाशयान होती है तो उससे हमें वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार इस अन्धकारयुक्त जगत् में केवल बुद्ध की प्रेरणा से ही मनुष्य शुभ कर्मों की ओर प्रेरित होता है।<sup>१</sup> मानव मन में इसी शुभ प्रवृत्ति के उदय को हम बोधिचित्त उत्पाद कहते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि फिर बोधिचित्त किसे कहते हैं? मानव मन में दूसरों के उद्धार के लिए जो भाव उठते हैं वही बोधिचित्त है। जब चित्त को समाहित कर अपने को सम्यक् सम्बोधि में लीन कर लेता है तो उस स्थिति को बोधिचित्त कहते हैं। इसी बोधिचित्त के कारुणिक भाव के द्वारा वह बुद्धत्व को प्राप्त होता है। इसी बोधिचित्त के उदय से वह मानव बुद्ध-पुत्र कहलाने लगता है। बोधिचित्त वह रस है जिसके रसास्वादन से वह बुद्धत्व एवं बुद्ध के कारुणिक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।<sup>२</sup> इसी बोधिचित्त के कारण वह अपने पूर्व संचित पापों को ज्ञान के प्रकाश से उसी प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार प्रकाश की एक किरण गुफा के युगों के अन्धकार को दूर कर देती है। इसे उस वृक्ष के समान माना गया है जो सदा फलते रहने पर भी कभी क्षीण नहीं होता है।<sup>३</sup>

१. रात्रौ यथा मेघघनांधकारे विद्युत् क्षणं दर्शयति प्रकाशं ।  
बुद्धानुभावेन तथा कदाचित् लोकस्य पुण्येषु मतिः क्षणं स्यात् ॥  
तस्माच्छुभं दुर्बलमेव नित्यं बलं तु पापस्य महत्सुषोरं ।  
तज्जीयते न्येन शुभेन केन संबोधिचित्तं यदि नाम न स्यात् ॥

—बोधिचर्यावतार, १/५-६

२. अशुचिप्रतिमामिमां गृहीत्वा जिनरत्नप्रतिमां करोत्यनर्घां ।  
रसजातमतीव वेधनीयं सुदृढं गृह्णत बोधिचित्तसंज्ञं ॥

—वही, १/१०

३. कदलीव फलं विहाय याति क्षयमन्यत् कुशलं हि सर्वमेव सततं फलति क्षयं  
न याति प्रसवत्येव तु बोधिचित्तवृक्षः ।

—वही, १/१२

शान्तिदेव के अनुसार बोधिचित्त के उत्पाद के लिए बुद्ध, सद्धर्म तथा बोधिसत्व की आराधना आवश्यक है।<sup>१</sup> बोधिचित्त ही सब पापों को समूल नष्ट करने का एक आधार है। यह उस कल्पवृक्ष के समान है जो मनोवांछित फल देने में सक्षम होता है। आर्यगण्डव्यूहसूत्र में भगवान् अजित ने कहा है कि बोधिचित्त ही सब बुद्ध धर्मों का बीज है।

“बोधिचित्तं हि कुलपुत्र बीजभूतं सर्वबुद्धधर्माणाम् ।”

अतः हम कह सकते हैं कि महायान सम्प्रदाय में बुद्धत्व की प्राप्ति का मूलाधार बोधिचित्त है। क्योंकि बोधिचित्त का उदय होते ही प्राणी के अन्दर करुणाभाव की अनुभूति होने लगती है। यही करुणाभाव बुद्धत्व प्राप्ति का आवश्यक तत्त्व है, इस तरह बोधिचित्त का उत्पाद ही बोधि-सत्व होने अथवा बुद्धत्व को प्राप्त करने का मूलाधार है।

### अर्हत्, प्रत्येक-बुद्ध और बुद्ध के आदर्श

बौद्ध धर्म में साधक जीवन के तीन आदर्श होते हैं—अर्हत्, प्रत्येक-बुद्ध और सम्यक्-सम्बुद्ध या बुद्ध। यहाँ हम अलग-अलग तीनों आदर्शों के बारे में विचार करेंगे। बौद्ध धर्म में पूर्वापेक्षया परपद श्रेष्ठ माना गया है। इन तीनों ही आदर्शों का मुख्य ध्येय दुःख से निवृत्त होकर निर्वाण लाभ प्राप्त करना रहा है।

#### (क) अर्हत्

वे साधक जिनके हृदय में अपनी दुःख-विमुक्ति के लिए स्वयं ज्ञान या बोधि का उदय नहीं होता है बल्कि बुद्धादि शास्ताओं के उपदेशों से ज्ञान प्राप्त होता है। वे बुद्ध के उपदेशों से प्रेरित होकर साधना करते हैं और तृष्णा का उच्छेदकर दुःख-विमुक्त हो अर्हत् पद प्राप्त करते हैं और अन्त में निर्वाण प्राप्त करते हैं। अर्हत् पद के साधक का लक्ष्य स्वयं की मुक्ति प्राप्त करना होता है, दूसरे प्राणियों के दुःख दूर करने के लिए वह कोई भी प्रयत्न नहीं करता है और न ही लोक-कल्याण के लिए उपदेश ही देता है। अर्हत् अवस्था को प्राप्त करने के बाद भी साधक

१. अपुण्यवानस्मि महादरिद्रः पूजार्थमन्यन्मम नास्तिकिञ्चित् ।

अतो ममार्थाय परार्थचित्ता गृह्णन्तु नाथा इदमात्मशक्त्या ॥

संघ में ही रहता है और संघीय अनुशासन में रहकर साधना करते हुए अन्त में निर्वाण प्राप्त करता है ।

### ( ख ) प्रत्येक-बुद्ध

प्रत्येक-बुद्ध को मौन बुद्ध की संज्ञा भी दी जा सकती है क्योंकि चुल्ल-निन्देश में कहा गया है कि ऐसे बुद्ध अनाचर्यक भाव से प्रत्येक सम्बोधि को प्राप्त करने के बाद भी धर्मोपदेश नहीं करते हैं ।<sup>१</sup> वे स्वयं मुक्त होते हैं पर जनसमूह की मुक्ति के लिए धर्मशासन की स्थापना नहीं करते हैं तथा त्रिमुक्ति सुख में रहकर एकान्त विहार करते हैं ।

वे पुरुष जो अपना ही कल्याण करते हैं दूसरों के कल्याण के लिए प्रयत्न नहीं करते प्रत्येक-बुद्ध कहलाते हैं । प्रत्येक-बुद्ध और अर्हत् में अन्तर यह होता है कि अर्हत् बुद्धादि शास्ता के उपदेश से सम्यक् दृष्टि को प्राप्त करता है, वहाँ प्रत्येक-बुद्ध स्वयं ही सम्यक् दृष्टि या बोध को प्राप्त करते हैं । प्रत्येक-बुद्ध का आदर्श अर्हत् के आदर्श से श्रेष्ठ होता है क्योंकि प्रत्येक-बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद की साधना के द्वारा स्वयं बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है । वह अपना दुःख स्वयं दूर कर लेता है परन्तु वह दूसरों के दुःख दूर करने का प्रयत्न नहीं करता है । अतः उसका आदर्श अर्हत् के आदर्श से श्रेष्ठ होते हुए भी बुद्ध के आदर्श से भिन्न होता है ।

### ( ग ) सम्यक्-सम्बुद्ध या बुद्ध

अर्हत् और प्रत्येक-बुद्ध की अपेक्षा बुद्ध या सम्यक्-सम्बुद्ध का आदर्श श्रेष्ठ होता है क्योंकि वे अनुत्तर सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त कर विश्व कल्याण की भावना रखते हैं । गोपीनाथ कविराज का कहना है कि (मात्र) बलेशावरण तथा ज्ञेयावरण के निवृत्त होने से बुद्धत्व लाभ नहीं होता है । श्रावक (अर्हत्) और प्रत्येक-बुद्ध का भी पूरा द्वैतभाव समाप्त नहीं होता है । केवल सम्यक्-सम्बुद्ध ही द्वैतभाव से निवृत्त होता है । क्योंकि बुद्ध में अपने और पराये का भाव नहीं होता है । वे अनन्त ज्ञान और करुणा के भण्डार हैं । सम्यक्-सम्बुद्ध या बोधिसत्व का लक्ष्य स्व-दुःख की निवृत्ति न होकर परार्थ भावना या निरन्तर जीव सेवा करना

१. "एवं सो पच्चेक-सम्बुद्धो एको अनुत्तरं पच्चेक-सम्बोधि अभिसम्बुद्धो ति एको ।"—खुद्दकनिकाय भाग ४ (२), चुल्लनिन्देश, (३.८.१), पृ० २४६

२. बौद्ध धर्म दर्शन-भूमिका, पृ० २४

है, उसकी इस लोकानुकम्पा की भावना का उल्लेख हमें पालिनिकाय से लेकर परवर्ती महायान साहित्य तक सभी में मिलता है।<sup>१</sup>

### (घ) तुलना

उपर्युक्त तीनों आदर्शों में एक अन्तर स्थापित किया गया है। यदि हम लोकमंगल की दृष्टि से देखें, जहाँ बुद्ध और बोधिसत्व का लक्ष्य अपनी दुःख-विमुक्ति के साथ ही साथ संसार के प्राणियों की दुःख-विमुक्ति भी है वहाँ अर्हत् और प्रत्येक-बुद्ध मात्र अपनी दुःख-विमुक्ति का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि उपरोक्त दृष्टिकोण के आधार पर अर्हत् और प्रत्येक-बुद्ध दोनों ही समान प्रतीत होते हैं किन्तु इन दोनों में एक महत्व-पूर्ण अन्तर भी रहा है। अर्हत् पथ का साधक बुद्ध के उपदेशों से प्रेरित होकर स्व-दुःख विमुक्ति और निर्वाण लाभ को प्राप्त करता है जब कि प्रत्येक-बुद्ध स्वयं ही अपनी साधना द्वारा बोधि को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार जो बुद्ध के उपदेश से बोधि को प्राप्त होता है वह अर्हत् कहलाता है और जो स्वयं ही बोधि को प्राप्त होते हैं, वे प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं। पुनः अर्हत् संघ के अनुशासनों में रहकर ही साधना करता है, और बोधि लाभ प्राप्त करता है तथा अर्हत् अवस्था प्राप्त करने के बाद भी संघ जीवन में रहता है जबकि प्रत्येक-बुद्ध का संघ-व्यवस्था एवं संघीय जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। वह एकाकी ही साधना करता है और स्वयं बोधि लाभ प्राप्त करके भी एकाकी जीवन जीता है।

जैनपरम्परा में भी इन तीनों के समान स्वयं-सम्बुद्ध, प्रत्येक-बुद्ध और बुद्ध-बोधित ऐसे तीन स्तर माने गये हैं, जिसका तुलनात्मक विवेचन हम अगले अध्यायों में करेंगे।

### बुद्धों के प्रकार—अतीतबुद्ध, वर्तमानबुद्ध और अनागत या भावीबुद्ध

बौद्ध साहित्य में २४ बुद्धों की अवधारणा को बुद्धवंश में अतीत बुद्ध कहा गया है।<sup>२</sup> बुद्धवंश में पूर्ववर्ती २४ बुद्धों की जीवनी पौराणिक ढंग से

१. (अ) महावग्ग, (१.१०.३२), पृ० २३

(ब) सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० १९; उद्धृत-मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद पृ० २८

२. महायान, पृष्ठ १९

उल्लिखित की गई है।<sup>१</sup> भगवान् बुद्ध को इन २४ बुद्धों के साथ सम्बद्ध करने के लिए यह धारणा अपनाई गई कि पूर्वजन्म में शाक्यमुनि बुद्ध ने इन पूर्ववर्ती बुद्धों की सेवा की थी। शाक्यमुनि बुद्ध को २५ वें बुद्ध के रूप में निरूपित किया गया। इस प्रकार बुद्धवंश के अनुसार २४ बुद्ध तो अतीतबुद्ध कहलाये और शाक्यमुनि गौतम वर्तमान बुद्ध हुए।

इस प्रकार अतीत और वर्तमान बुद्ध की अवधारणा से भी बौद्ध आचार्य सन्तुष्ट न हुए और उन्होंने अनागतवंश अर्थात् भावी बुद्ध की कल्पना कर मैत्रेय बुद्ध को २६वें बुद्ध के रूप में प्रतिपादित किया।<sup>२</sup> अनागतवंश में मैत्रेय सहित १० भावी बुद्धों के नाम हैं जिनके बारे में यह कहा गया है कि ये सभी गौतम बुद्ध से मिले थे और गौतम बुद्ध ने उनके भावी बुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी।<sup>३</sup> ये दस बुद्ध निम्न हैं—

मैत्रेय, उत्तम, राम, प्रसेनजित्कौशल, अभिधू, दीर्घसोणी, संकस्य, सुभ (शुभ), तोदेय्य और नालागिरिपल्लेय्य।

क्रमिक अध्ययन से प्रतीत होता है कि बुद्धवंश में अतीत बुद्धों की कल्पना के कारण ही भावी बुद्धों की कल्पना भी आई होगी। फलस्वरूप ऐतिहासिक बुद्ध शाक्य मुनि वर्तमान बुद्ध और मैत्रेय आदि भावी बुद्ध माने गये।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि पहले अतीत, वर्तमान और अनागत बुद्धों की अवधारणा का विकास हुआ होगा, फिर अतीत बुद्धों की संख्या का प्रश्न आया, पालि त्रिपिटक में वह शाक्य मुनि को मिलाकर सात मानी गई, फिर लंकावतार में चौबीस बुद्धों की अवधारणा आई। भावी बुद्धों की कल्पना के साथ यह संख्या स्थिर न रह सकी। अन्त में महायान साहित्य में अनन्त बुद्धों की अवधारणा को स्वीकार कर लिया गया।

१. बुद्धवंश (देवनागरी संस्करण भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित)

२. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५८५

३. मत्तेय्यो उत्तमो रामो, पसेनदिकोसलोभिभू।

दीघसोणि च संकच्चो, सुभो तोदेय्यब्राह्मणो।

नालागिरिपल्लेय्यो, बोधिसत्ता इमे दस।

अनुक्कमेन सम्बोधि, पापुणिससन्ति नागते ॥

—पालि-प्रापर नेम्स, भाग २, पृ० २९५.

### (क) धर्मताबुद्ध, निष्यंदबुद्ध और निर्माणबुद्ध

लंकावतारसूत्र में हमें त्रिकाय की अवधारणा के स्थान पर त्रिबुद्धों की अवधारणा मिलती है; उसमें निम्न तीन प्रकार के बुद्धों का उल्लेख प्राप्त होता है—धर्मताबुद्ध, निष्यंदबुद्ध और निर्माणबुद्ध ।

लंकावतार की यह त्रिबुद्धों की कल्पना और त्रिकाय की अवधारणा परस्पर सम्बन्धित ही हैं। धर्मताबुद्ध धर्मकाय हैं, निष्यंदबुद्ध सम्भोगकाय हैं और निर्माणबुद्ध निर्माणकाय हैं। जिस प्रकार धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय बुद्धत्व की तीन स्थितियाँ हैं उसी प्रकार धर्मताबुद्ध निष्यंदबुद्ध और निर्माणबुद्ध बुद्धत्व के त्रिप्रकार हैं।<sup>१</sup>

त्रिकायवाद की अवधारणा और त्रिशुद्धों की अवधारणा में हमें तत्त्वतः कोई विशेष अन्तर नजर नहीं आता है। डॉ० कपिलदेव पाण्डेय की मान्यता है कि बौद्ध धर्म में “जिन त्रिकायों (धर्मकाय, संभोगकाय और निर्माणकाय) का अधिक प्रचार रहा है, वे प्रारम्भ में बुद्ध के विशिष्ट रूपों से ही सम्बद्ध रहे हैं इन कार्यों को ही पूर्ववर्ती साहित्य में क्रमशः धर्मताबुद्ध, निष्यन्दबुद्ध और निर्माणबुद्ध कहा जाता था।”<sup>२</sup> लंकावतार-सूत्र का सन्दर्भ देते हुए उन्होंने इस बात को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि धर्मताबुद्ध से निष्यन्दबुद्ध और निष्यन्दबुद्ध से निर्माणबुद्ध उत्पन्न हुए। इस प्रकार इन तीनों में परस्पर कार्य-कारण भाव भी है। धर्मताबुद्ध ही वास्तविक बुद्ध हैं और अन्य बुद्ध उनके निर्मित रूप हैं। बुद्ध के इन तीनों रूपों की चर्चा के आधार पर हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार विष्णु के अवतार होते हैं उसी प्रकार धर्मताबुद्ध, निष्यन्दबुद्ध और निर्माणबुद्ध होते हैं।

### (ख) पंच तथागत या पंच ध्यानीबुद्ध

पंच तथागत या पंचध्यानी बुद्धों का उल्लेख “लंकावतारसूत्र” और “सद्धर्मपुण्डरीक” में स्फुट रूप से मिलता है। “लंकावतारसूत्र” में “पंचनिर्मिता बुद्ध” का मात्र उल्लेख है।<sup>३</sup> “सद्धर्मपुण्डरीक” में पंचबुद्धों

१. उद्धृत—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० २९

२. वही, पृ० २९

३. वही, पृ० २९

४. वही, पृ० ४२

में परिगणित अमिताय या अमिताभ सद्धर्म की स्थापना के निमित्त भविष्य में उत्पन्न होने वाले कहे गये हैं ।<sup>१</sup>

बौद्ध तन्त्र और वज्रयानी सिद्धों में इस अवधारणा का प्रचार अधिक हुआ है। प्रारम्भिक तन्त्र ग्रन्थ तथागतगुह्यक में पंच-ध्यानी बुद्धों के उपास्य एवं अवतारी रूपों का बृहद् विवरण मिलता है। “गृहसमाज” के अनुसार बुद्ध के रश्मिमेध व्यूह नाम की समाधि से पाँच रश्मियाँ निसृत हुईं।<sup>२</sup> इन्हीं पंच रश्मियों से पाँच बुद्धों के उद्भव का आभास होता है। “अद्वयवज्र” के अनुसार बुद्ध के ध्यान करने से वैरोचन, रत्नसंभव, अमिताभ, अमोघसिद्धि, अक्षोभ्य पंच ध्यानी बुद्ध पंच स्कन्धों के प्रतीक रूप आविर्भूत होते हैं।<sup>३</sup> तथागत गुह्यसमाज के अनुसार तथागत विभिन्न ज्ञानों के आविर्भाव के कारण पाँच बुद्धों का रूप धारण करते हैं।<sup>४</sup> बौद्ध धर्म में आगे चलकर इन बुद्धों की स्त्री शक्तियों का भी उदय होता है।<sup>५</sup>

### (ग) मानुषी बुद्ध

परवर्ती बौद्ध धर्म में निर्माण बुद्धों की संख्या अनन्त मानी गई है किन्तु प्रारम्भ में सात मानुषी बुद्ध ही निर्माणकाय कहे जाते थे। वे ही समय-समय पर धर्म की प्रतिष्ठा के लिए जन्म लेते हैं।<sup>६</sup> पालि त्रिपिटक में अनेक स्थानों पर सात बुद्धों का उल्लेख है। इसके बाद में २४ बुद्धों की कल्पना की गई।<sup>७</sup> महायान में ३२ बुद्धों की एक सूची भी मिलती है उसमें अन्तिम सात बुद्धों को मानुषी बुद्ध कहा गया है।<sup>८</sup> बुद्धचर्या में सात “मानुषी बुद्धों” में से विपश्ची, शिखो, विश्वभू, क्रकुछन्द, कोनागमन, कस्सप के नामों का उल्लेख मिलता है।<sup>९</sup> लंकावतारसूत्र में भी कश्यप, क्रकुछन्द और कनक मुनि इन तीन का उल्लेख मिलता है।<sup>१०</sup> इससे हमें मानुषी बुद्धों की

१. उद्धृत—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद (डॉ० कपिलदेव पाण्डेय) पृ० ४२

२. वही, पृ० ४२

३. वही, पृ० ४२

४. वही, पृ० ४२

५. वही, पृ० ४२

६. वही, पृ० ३०

७. वही, पृ० ३०

८. वही, पृ० ३०

९. वही, पृ० ३०

१०. वही, पृ० ३०

संख्या के विकास क्रम की एक झलक देखने को मिलती है। इस भद्र कल्प में सात मानुषी बुद्धों को कल्पना की गई है जिसमें छः पूर्व के तथा सातवें शाक्य मुनि गौतम को लिया गया है। इस प्रकार सात मानुषी बुद्धों में विपश्चेन, सिखी, विश्वभू, कश्यप, क्रकुछन्द, कनक मुनि (कोणागमन) एवं शाक्य सिद्ध गौतम विख्यात हैं। कहा जाता है कि इन्हीं सात मानुषी बुद्धों द्वारा बोधिसत्व अपना कार्य सम्पादन करते हैं। आगे चलकर बौद्ध तन्त्र ग्रन्थों में मानुषी बुद्धों से बुद्ध शक्तियों और बोधिसत्वों के निर्माण की बात कही गई है, इनमें यशोधरा और आनन्द ही ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं।

### बुद्धों की संख्या

जिस प्रकार हिन्दू एवं जैन परम्परा में क्रमशः अवतारों एवं तीर्थ-ङ्करों की संख्या में वृद्धि होती रही है उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में बुद्धों की संख्या में वृद्धि होती रही है। सर्वप्रथम दीघनिकाय में गौतम बुद्ध के पूर्व छः बुद्धों का उल्लेख है<sup>१</sup> और गौतम बुद्ध को सातवाँ बुद्ध कहा गया है—

१. विपस्सी
२. सिखी
३. वेस्सभू
४. क्रकुसन्ध
५. कोणागमन
६. कस्सप (काश्यप)
७. शाक्य पुत्र गौतम

दीघनिकाय में महाराज वैश्रवण को भिक्षुओं की रक्षा एवम् उनके कष्ट दूर करने के लिए इन्हीं सात बुद्धों से प्रार्थना करते हुए दिखाया गया है।

विनयपिटक, संयुत्तनिकाय, जातक और थेरीगाथा<sup>२</sup> में इन्हीं सात बुद्धों का उल्लेख मिलता है। इन सात बुद्धों को मानुषी बुद्ध भी कहा जाता है क्योंकि यही समय-समय पर धर्म की प्रतिष्ठा के लिए आते हैं।<sup>३</sup>

१. दीघनिकाय, महापदानसुत्त (१.२.५), पृ० ४
२. पालि प्रापर नेम्स, भाग २, पृ० २९५
३. बौद्ध धर्म दर्शन (आचार्य नरेन्द्रदेव) पृ० १२१, १२२



आगे चलकर जातक निदानकथा में भगवान् दीपंकर से गौतम बुद्ध तक पच्चीस बुद्धों का विवरण मिलता है। इसके पूर्व बुद्धवंश में गौतमबुद्ध सहित पच्चीस बुद्धों के नाम प्राप्त होते हैं। भगवान् दीपंकर से बुद्धों की परम्परा का शुभारम्भ होने के कारण उन्हें आदि बुद्ध से अभिहित किया गया है। जिस कल्प में भगवान् दीपंकर दस बल प्राप्त कर बुद्ध हुए थे, उसी कल्प में अन्य तीन बुद्ध—तण्हंकर, मेघंकर तथा सरणकर भी उत्पन्न हुए थे। परन्तु उन तीनों बुद्धों ने बोधिसत्त्व के बुद्ध बनने के बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की थी।<sup>१</sup> जबकि अन्य बुद्धों ने बोधिसत्त्व के भविष्य में बुद्ध होने के बारे में कहा था। अतः इन तीन बुद्धों के नाम निदानकथा में सिद्धार्थ गौतम के पूर्व चौबीस बुद्धों की अवधारणा में जोड़े नहीं जाते हैं। दीपंकर के कल्प में उत्पन्न हुए इन तीन बुद्धों को जोड़ने से बुद्धों की संख्या २७ हो जाती है।<sup>२</sup> सिद्धार्थ गौतम के पूर्व हुए २४ बुद्धों का विवरण इस प्रकार है—

१. दीपंकर	१३. प्रियदर्शी
२. कौण्डिन्य	१४. अर्थदर्शी
३. मंगल	१५. धर्मदर्शी
४. सुमन	१६. सिद्धार्थ
५. रेवत	१७. तिष्य
६. शोभित	१८. पुष्य
७. अनोमदर्शी	१९. विपश्यी
८. पद्म	२०. शिखी
९. नारद	२१. वेस्सभू
१०. पद्मोत्तर	२२. ककुसन्ध
११. सुमेध	२३. कोणागमन
१२. सुजात	२४. काश्यप

बुद्धों की संख्या को लेकर बौद्ध साहित्य में विभिन्न मत देखे जाते हैं। सर्वप्रथम शाक्य मुनि गौतम ही बुद्ध माने गये—फिर अतीत बुद्धों की

१. “यस्मिं पन कप्पे दीपंकरदसबलो उदपादि, तस्मिं अञ्जे पितयो बुद्धा अहेसुं ।  
तेसं सन्निका बोधिसत्तस्य व्याकरणं नत्थि । तस्मा ते इध दस्सिता ।”

—निदानकथा, पृ० १०८

२. वही, पृ० १०८

कल्पना आई। पालि साहित्य में हमें सात अतीत बुद्धों का उल्लेख मिलता है। फिर या तो जैनों की २४ तीर्थंकरों की कल्पना के आधार पर या फिर स्वतन्त्ररूप से २४ अतीत बुद्धों की कल्पना बौद्ध धर्म में आई।

लंकावतारसूत्र में आठ कल्प एवं दो प्रकार के बुद्ध पुत्रों की चर्चा के प्रसंग में २४ बुद्धों का उल्लेख हुआ है।<sup>१</sup> इससे विदित होता है कि या तो बौद्ध साहित्य में २४ बुद्धों की कोई परम्परा रही होगी या फिर उसे अन्य परंपरा से लिया गया होगा। लंकावतारसूत्र के प्रारम्भिक अध्याय १-२ में लंका में अतीत बुद्धों के निवास की चर्चा भी मिलती है।<sup>२</sup> किन्तु यहाँ पर उनकी स्पष्ट संख्या का उल्लेख नहीं है। पुनः छठे अध्याय में अतीत वर्तमान, अनागत असंख्य बुद्धों की चर्चा की गई,<sup>३</sup> तथा एक अन्य स्थल पर इनकी संख्या ३६ कही गई है।<sup>४</sup> डॉ० महेश तिवारी ने अपनी पुस्तक निदानकथा<sup>५</sup> में कहा है कि परवर्ती ग्रन्थ ललितविस्तर में बुद्धों की संख्या ५४ और महावस्तु में सौ से अधिक पाई जाती है।

### (१) दीपंकर बुद्ध

बौद्ध परम्परा में दीपंकर को प्रथम बुद्ध माना गया है। इनके पिता का नाम सुदेव और माता का नाम सुमेधा तथा जन्मस्थान रम्यवती नगर माना गया है।<sup>६</sup>

उन्होंने प्रथम, द्वितीय और तृतीय अभिसमय (सम्मेलन) में क्रमशः १ अरब, १० खरब मनुष्यों और देवलोक में ९ खरब देवताओं को बोध कराया।

इनके प्रधान शिष्य सुमंगल और तिष्य तथा परिचारक सागत थे, इनकी प्रधान शिष्याएँ नन्दा एवं सुनन्दा थीं। इन्होंने पीपल वृक्ष के

१. "स्कन्धभेदाश्चतुर्विंशद्रूपं चाष्टविधं भवेत् ।

बुद्धा भवेच्चतुर्विंशद्विधाश्च जिनोरसाः ॥

—लंकावतारसूत्र १०/३१६

२. वही, पृ० ५

३. वही, पृ० १९८

४. वही, पृ० २५६

५. निदान कथा पृ० ७२

६. नगरं रम्यवती नाम, सुदेवो नाम खत्तियो ।

सुमेधा नाम जनिका, दीपंकरस्य सत्थुनो ॥

—बुद्ध वंस अट्ठकथा पृ० १९६

१५० : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

नीचे बोधिलाभ प्राप्त किया था। इनके शरीर की ऊंचाई ८० हाथ तथा आयु १ लाख वर्ष मानी जाती है।

इस प्रकार भगवान् दीपंकर ने सद्धर्म का उपदेश देकर जन समूह को संसार सागर से पार उतारा और अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।

## (२) भगवान् कौण्डिन्य

बौद्ध परम्परा में भगवान् दीपंकर के बाद अनन्त तेज, अमित यश एवं अनुपम कौण्डिन्य नामक बुद्ध हुए।<sup>१</sup> इनके पिता का नाम सुनन्द और माता का नाम सुजाता तथा जन्मस्थान रम्यवती नगर माना गया है।

इन्होंने भी अपने तीन धर्म सम्मेलनों में क्रमशः १० खरब, १० अरब एवं ९० करोड़ भिक्षुओं को धर्म का उपदेश दिया था।

बोधिसत्व विजितावी चक्रवर्ती ने शास्ता कौण्डिन्य एवं उनके संघ को भोजन कराया, तत्पश्चात् शास्ता ने भविष्य में उनके बुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी।

इनके प्रधान शिष्य भद्र और सुभद्र तथा परिचारक अनुसुद्ध थे। इनकी प्रधान शिष्यायें तिष्या और उपतिष्या थीं। इनको शाल वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊंचाई ८८ हाथ और आयु १ लाख वर्ष मानी जाती है।

## (३) भगवान् मंगल

बौद्ध परम्परा के अनुसार भगवान् कौण्डिन्य के बाद अन्धकार को नष्ट कर धर्म को धारण करने वाले तीसरे बुद्ध के रूप में मङ्गल का जन्म हुआ।<sup>२</sup> इनके पिता का नाम उत्तर एवं माता का नाम उत्तरा देवी तथा जन्मस्थान उत्तर नगर माना गया है।

इनके प्रधान शिष्य सुदेव और धर्मसेन तथा परिचालक पालित थे, इनकी प्रधान शिष्यायें सोवली और अशोका थीं।

१. दीपंकरस्स अपरेत्त, कोण्डञ्जो नाम नायको।

अनन्ततेजो अमितयसो, अप्पमेय्यो दुरासदो ॥

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० २०४

२. “कोण्डञ्जस्स अपरेत्त, मंगलो नाम नायको।

तमं लोके निहन्त्वा, धम्मोक्कमभिघारयि ॥”

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० २१८

इन्होंने भी धर्मोपदेश देने के लिए तीन गोष्ठियां की, जिनमें क्रमशः १० खरब, १० अरब एवं ९० करोड़ भिक्षुओं ने उपदेश लाभ प्राप्त किया ।

बोधिसत्व सुरुचि नामक ब्राह्मण ने शास्ता मंगल एवं संघ को “गवपान” नामक दान दिया था, तदुपरान्त शास्ता ने भविष्य में उनके बुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी ।

भगवान् मंगल ने नाग वृक्ष के नीचे ज्ञान (बोध) प्राप्त किया । इनके शरीर की ऊंचाई ८८ हाथ एवं आयु ९० हजार वर्ष कही जाती है ।

### (४) भगवान् सुमन

भगवान् मंगल के निर्वाण प्राप्त होने के बाद सुमन नामक शास्ता का जन्म क्षेमनगर में हुआ ।<sup>१</sup> इनके पिता का नाम सुदत्त और माता का नाम सिरिया था ।

इन्होंने अपने तीन धर्म सम्मेलनों में क्रमशः १० अरब, ९ खरब और ८ अरब भिक्षुओं को उपदेश दिया था ।

महासत्व अतुल नागराज ने भगवान् सुमन एवं उनके संघ को भोजन, वस्त्रादि प्रदान किये थे तब शास्ता ने भविष्य में उनके बुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी ।

इनके शिष्य शरण एवं भावितात्मा और परिचारक उदेन थे, इनकी प्रधान शिष्यायें सोणा और उपसोणा थीं ।

इन्होंने भी नाग वृक्ष के नीचे बोधि प्राप्त की थी । इनके शरीर की ऊँचाई ९० हाथ एवं इनकी आयु ९० हजार वर्ष मानी गयी है ।

### (५) भगवान् रेवत

भगवान् सुमन के निर्वाणोपरान्त बौद्ध परम्परा में पाँचवें बुद्ध रेवत माने गए हैं । वे अनुपम, अद्वितीय, अतुल तथा उत्तम जिन थे ।<sup>२</sup> इनके पिता

१. “मंगलस्स अपरेन, सुमनो नाम नायको ।  
सब्बधम्महेहि असमो, सब्बसत्तानमुत्तमो ॥”

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० २३२

२. “सुमनस्स अपरेन, रेवतो नाम नायको ।  
अनुपमो असदिसो, अतुलो उत्तमो जिनो ॥”

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० २४१

१५२ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

का नाम विपुल एवं माता का नाम विपुला तथा जन्म स्थान धान्यवती नगर बताया गया है ।

इन्होंने भी अपने तीन धर्म सम्मेलनों में उपदेश दिया था, प्रथम सम्मेलन की गणना उपलब्ध नहीं है; द्वितीय एवं तृतीय में उनके अनुयायियों की संख्या १० खरब बतायी जाती है ।

अतिदेव ब्राह्मण ने भगवान् रेवत एवं संघ का आतिथ्य सत्कार किया था, तब शास्ता ने भविष्य में उनके बुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी ।

इनके दो प्रधान शिष्य वरुण तथा ब्रह्मदेव और परिचारक सम्भव थे, इनकी प्रधान शिष्याएँ भद्रा और सुभद्रा थीं ।

इन्होंने नाग वृक्ष के नीचे बोधि लाभ प्राप्त किया था । इनके शरीर की ऊँचाई ८० हाथ एवं इनकी आयु ६० हजार वर्ष मानी जाती है ।

## (६) भगवान् शोभित

बौद्ध परम्परा में भगवान् रेवत के बाद छठवें बुद्ध भगवान् शोभित माने गए हैं, वे शान्त, अतुलनीय एवं पुरुषों में अद्वितीय माने गए हैं ।<sup>१</sup> इनके पिता का नाम सुधर्म एवं माता का नाम सुधर्मा तथा जन्म स्थान सुधर्म कहा गया है ।

भगवान् ने तीन बार धर्मचक्र का प्रवर्तन किया, उसमें सम्मिलित होने वाले भिक्षुओं की संख्या क्रमशः एक अरब, नब्बे करोड़ एवं अस्सी करोड़ थी ।

इनके प्रधान शिष्य असम एवं सुनेत्र और परिचारक अनोम थे, इनकी प्रधान शिष्याएँ नकुला एवं सुजाता थीं ।

बोधिसत्त्व अजित ब्राह्मण ने भगवान् को भोजन प्रदान किया, तदुपरान्त शास्ता ने भविष्य में उनके बुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी ।

भगवान् शोभित ने नाग वृक्ष के नीचे बोधिलाभ प्राप्त किया था । इनके शरीर की ऊँचाई ५८ हाथ और आयु ९० हजार वर्ष कही गई है ।

१. "रेवतस्स अपरेन, सोभितो नाम नायको ।

समाहितो सन्तचित्तो, असमो अप्पटिपुगलो ॥"

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० २५० ।

### (७) भगवान् अनोमदर्शी

बौद्ध परम्परा में भगवान् शोभित के बाद सातवें बुद्ध भगवान् अनोम-दर्शी माने गए हैं। ये अपार यशस्वी, तेजस्वी तथा दुर्जेय थे।<sup>१</sup> इनका जन्म चन्द्रवती नगर के राजा यशवान के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम यशोधरा था। इनके तीन धर्म सम्मेलनों में उपस्थित होने वाले भिक्षुओं की संख्या क्रमशः ८ लाख, ७ लाख और ६ लाख थी।

उस समय के यक्षों के स्वामी ने भगवान् अनोमदर्शी एवं उनके समस्त भिक्षुओं को भोजन प्रदान किया था तब शास्ता ने यक्षों के स्वामी को कहा कि आप भी भविष्य में बुद्ध होंगे।

भगवान् अनोमदर्शी के दो प्रधान शिष्य निसभ एवं अनोभ तथा परि-चारक वरुण थे। इनकी दो प्रधान शिष्याएँ सुन्दरी एवं सुमना थीं। इन्होंने अर्जुन वृक्ष के नीचे बोधि लाभ प्राप्त किया था। इनके शरीर की ऊँचाई ५८ हाथ और आयु १ लाख वर्ष मानी गई है।

### (८) भगवान् पद्म

भगवान् अनोमदर्शी के पश्चात् नरश्रेष्ठ पद्म नामक बुद्ध हुए, जो अनुपम एवं अद्वितीय थे।<sup>२</sup> इनके पिता का नाम असम एवं माता का नाम असमा और जन्म स्थान चम्पक नगर माना गया है।

भगवान् पद्म ने तीन धर्म सम्मेलनों में धर्मोपदेश दिया, जिनमें सम्मिलित होने वाले भिक्षुओं की संख्या क्रमशः १० खरब, ३ लाख तथा २ लाख थी।

भगवान् के तीसरे धर्म सम्मेलन को देखकर एक सिंह ने जीवन के प्रति मोह का त्याग कर दिया। उसने अपनी क्षुधा की तृप्ति के लिए शिकार का त्याग कर शास्ता एवं संघ के प्रति श्रद्धा का प्रतिपादन किया।

१. "सोभितस्स अपरेण, सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो।

अनोमदस्सी अमितयसो, तेजस्सी दुरतिककमो ॥"

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० २५७।

२. "अनोमदस्सिस्स अपरेण, सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो।

पदुमो नाम नामेण, असमो अप्पटिपुग्गलो ॥"

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० २६५।

१५४ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

शास्ता ने मन में विचार कर कहा कि यह सिंह भविष्य में अवश्य ही बुद्ध होगा ।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य साल तथा उपसाल और परिचारक; वरुण थे तथा रामा और सुरामा दो प्रधान शिष्याएँ थीं । इनको सोण वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था । इनके शरीर की ऊँचाई ५८ हाथ और आयु १ लाख वर्ष कही गई है ।

## (९) भगवान् नारद

भगवान् पद्म के बाद अनुपम एवं अद्वितीय नारद नामक बुद्ध हुए ।<sup>१</sup> भगवान् नारद का जन्म धान्यवती नगर के राजा सुदेव के यहाँ हुआ था और इनकी माता का नाम अनोमा था ।

भगवान् नारद ने भी तीन धर्मोपदेश दिये थे । उन तीनों धर्म सम्मेलनों में एकत्रित होने वाले भिक्षुओं की संख्या क्रमशः १० खरब, ९ अरब तथा ८ खरब थी ।

उस समय के बोधिसत्व ऋषि ने शास्ता एवं उनके संघ को आहार प्रदान किया था तब शास्ता ने भविष्य में उनके बुद्ध होने की भविष्यवाणी की थी ।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य भद्रशाल एवं जितमित्र थे और परिचारक वशिष्ठ थे । इनकी दो प्रधान शिष्याएँ उत्तरा एवं फाल्गुणी थीं । इनको महासोण वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था । इनके शरीर की ऊँचाई ८८ हाथ और इनकी आयु ९० हजार वर्ष थी ।

## (१०) भगवान् पद्मोत्तर

भगवान् नारद के बाद पुरुषों में श्रेष्ठ एवं समुद्र के समान शान्त पद्मोत्तर नामक बुद्ध हुए ।<sup>२</sup>

१. "पद्मस्स अपरेन सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो ।  
नारद नाम नामेन, असमो अप्पटिपुगलो ॥"

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० २७२.

२. "नारदस्स अपरेन सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो ।  
पद्मुत्तरो नाम जिनो अक्खोभो सागरूपमो ॥"

वही—पृ० २८२.

भगवान् पद्मोत्तर का जन्म हंसवती नगर के क्षत्रिय राजा आनन्द के यहाँ हुआ था और इनकी माता का नाम सुजाता था ।

भगवान् पद्मोत्तर ने तीन धर्म सम्मेलनों में धर्मोपदेश दिया, जिनमें सम्मिलित होने वाले भिक्षुओं की संख्या क्रमशः १० खरब, ९ खरब तथा ८ खरब थी । तत्कालीन बोधिसत्व जटिल ने शास्ता पद्मोत्तर एवं उनके संघ को तीन चीवर ( अन्तरवासक, उत्तरासंग और संघाटी ) प्रदान किये । तदुपरान्त शास्ता ने उनसे कहा कि आप भविष्य में बुद्ध होंगे ।

भगवान् पद्मोत्तर के दो प्रधान शिष्य देवल एवं सुजात थे और परिचारक सुमन थे । इनकी दो प्रधान शिष्याएँ अमिता और असमा थीं । इनके शरीर की ऊँचाई ८८ हाथ थी और इनकी आयु १ लाख वर्ष थी । भगवान् के शरीर से विलक्षण आभा प्रस्फुटित होकर चारों दिशाओं को १२ योजन तक प्रकाशित करती थी ।

### (११) भगवान् सुमेध

भगवान् पद्मोत्तर के बाद उग्र-तेजस्वी, नर-श्लेष्ठ मुनि सुमेध नामक बुद्ध हुए ।<sup>१</sup>

भगवान् सुमेध का जन्म सुदर्शन नगर में हुआ था । इनके पिता का नाम सुदत्त एवं माता का नाम सुदर्शना था ।

भगवान् सुमेध ने अपने तीन शिष्य सम्मेलनों में धर्मोपदेश दिया था । इनके शिष्य सम्मेलनों में एकत्रित होने वाले भिक्षुओं की संख्या क्रमशः १ अरब, ९० करोड़ तथा ८० करोड़ थी । उस समय के बोधिसत्व उत्तर ने शास्ता सुमेध एवं संघ को भोजन प्रदान किया था । तदुपरान्त शास्ता ने कहा कि आप भविष्य में बुद्ध होंगे ।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य शरण एवं सर्वकाम थे और उपचारक सागर थे । इनकी प्रधान शिष्याएँ रामा एवं सुरामा थीं । इनको कदम्ब वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था । इनके शरीर की ऊँचाई ८८ हाथ और इनको आयु ९० हजार वर्ष थी ।

१. "पद्मुत्तरस्स अवरंन, सुमेवो नाम नायको ।

दुरासदो उग्गतेजा, सब्बओकुत्तमो मुनि ॥"

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० २९२



## (१२) भगवान् सुजात

भगवान् सुमेध के पश्चात् मण्डकल्प में सुजात नाम के लोक नायक बुद्ध हुए। वे सिंह के समान मजबूत जबड़ों वाले, वृषभ के समान दृढ़ स्कन्ध वाले, अप्रमेय एवं दुराक्रमणीय थे।<sup>१</sup>

भगवान् सुजात का जन्म सुमंगल नगर के राजा उग्रत के यहाँ हुआ था तथा इनकी माता का नाम प्रभावती था।

भगवान् ने अपने तीन शिष्य सम्मेलनों में धर्मोपदेश दिया था, जिनमें क्रमशः ६० हजार, ५० हजार एवं ४० हजार भिक्षु सम्मिलित हुए थे।

उस समय के बोधिसत्व चक्रवर्ती राजा ने शास्ता सुजात एवं उनके संघ को सात रत्न एवं ४ महाद्वीप तथा भोजन दान दिया था। तदुपरान्त शास्ता ने कहा कि आप भविष्य में बुद्ध होंगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य सुदर्शन एवं देव थे तथा नारद उपचारक थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ नागा और नागसमाला थीं। इनको महावेणु वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ५० हाथ और इनकी आयु ९० हजार वर्ष थी।

## (१३) भगवान् प्रियदर्शी

भगवान् सुजात के पश्चात् लोकनायक प्रियदर्शी नामक बुद्ध हुए, वे स्वयंभू, दुराक्रमणीय, अनुपम और महायशस्वी थे।<sup>२</sup> भगवान् सुजात के बाद १८ सौ कल्प बीतने पर एक ही कल्प में तीन बुद्ध—प्रियदर्शी, अर्थदर्शी और धर्मदर्शी हुए। भगवान् प्रियदर्शी का जन्म अनोम नगर के राजा सुदिन्न के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम चन्द्रा था।

भगवान् ने अपने तीन धर्म सम्मेलनों में सम्मिलित होने वाले भिक्षुओं को धर्मोपदेश दिया, जिनकी संख्या १० खरब, ९० करोड़ तथा ८० करोड़ थी।

१. "तत्थेव मण्डकप्पमिद्दं, सुजातो नाम नायको।

सीहहनसभक्कसन्धो, अप्पमेय्यो दुरासदो ॥"

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० २९९

२. "सजातस्स अपरेण, सयम्भू लोक नायको।

दुरासदो असमसमो, पियदस्सी महायसो ॥"

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० ३११

उस समय तीनों वेदों के पारंगत बोधिसत्व काश्यप ने शास्ता का धर्मोपदेश सुना, जिससे प्रभावित होकर काश्यप ने एक संघाराम (विहार) बनवाया और स्वयं त्रिरत्नों की शरण में आश्रय ग्रहण किया। तत्पश्चात् शास्ता ने कहा कि १८ सौ कल्पों के व्यतीत होने के बाद आप 'बुद्ध' होंगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य पालित और सर्वदर्शी थे और परिचारक शोभित थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ सुजाता एवं धर्मदित्रा थीं। इनको प्रियंगु वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ८० हाथ तथा इनकी आयु ९० हजार वर्ष थी।

### (१४) भगवान् अर्थदर्शी

भगवान् प्रियदर्शी के बाद मनुष्यों में श्रेष्ठ अर्थदर्शी हुए, जिन्होंने उस मण्डकल्प में घोर अन्धकार को विनष्ट कर सम्बोधि (बुद्धत्व) पद को प्राप्त किया।<sup>१</sup>

भगवान् अर्थदर्शी का जन्म शोभित नगर के राजा सागर के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम सुदर्शना था।

भगवान् ने तीन धर्म सम्मेलनों में धर्मोपदेश दिया, जिनमें एकत्रित होने वाले भिक्षुओं की संख्या क्रमशः ९८ लाख, ८८ लाख एवं ८८ लाख थी।

उस समय बोधिसत्व सुसीम नाम के ऋद्धिसम्पन्न तपस्वी ने देवलोक से मंदार पुष्प लाकर शास्ता अर्थदर्शी की पूजा-अर्चना की। तदुपरान्त शास्ता ने कहा कि आप भविष्य में 'बुद्ध' होंगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य शान्त एवं उपशान्त थे तथा परिचारक अभय थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ धर्मा एवं सुधर्मा थीं। इनको चम्पक वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ८० हाथ और आयु एक लाख वर्ष थी।

### (१५) भगवान् धर्मदर्शी

भगवान् अर्थदर्शी के पश्चात् उसी कल्प में धर्मदर्शी नामक शास्ता

१. "तत्थेव मण्डकप्पमिह, अत्यदस्सी महायसो।  
महातमं निहन्त्वान, पत्तो सम्बोधिमुत्तमं ॥"

—बुद्धवंसअट्ठकथा, पृ० ३१६-

१५८ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

हुए, वे अन्धकार को विनष्ट कर देवताओं सहित लोक में प्रकाशित हुए।<sup>१</sup> भगवान् धर्मदर्शी का जन्म शरण नगर के राजा शरण के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम सुनन्दा था। भगवान् धर्मदर्शी ने तीन धर्म सम्मेलनों में भिक्षुओं को धर्मोपदेश दिया। इन तीन सम्मेलनों में सम्मिलित होने वाले भिक्षुओं की संख्या क्रमशः एक अरब, ७० करोड़, ८० करोड़ थी।

उस समय के बोधिसत्व देवताओं के राजा शक्र ने गन्ध, पुष्प एवं वाद्यों से शास्ता धर्मदर्शी की पूजा अर्चना की। तदुपरान्त शास्ता ने कहा कि आप भविष्य में 'बुद्ध' होंगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य पद्म तथा स्पर्शदेव थे तथा परिचारक सुनेत्र थे। इनकी प्रधान शिष्यायें क्षेमा तथा सर्वनामा थीं। इनको रक्कुरबक वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ८० हाथ और इनकी आयु एक लाख वर्ष थी।

### (१६) भगवान् सिद्धत्थ

जिस प्रकार सूर्य के निकलने से अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार भगवान् धर्मदर्शी के बाद संसार में दुःखरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सिद्धत्थ नामक बुद्ध उत्पन्न हुए।<sup>२</sup> भगवान् सिद्धत्थ का जन्म वैभार नगर के राजा जयसेन के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम सुस्पर्शा था। भगवान् सिद्धत्थ ने भी तीन धर्म सम्मेलनों में भिक्षुओं को धर्मोपदेश दिया। उन सम्मेलनों में एकत्रित होने वाले भिक्षुओं की संख्या क्रमशः १० अरब, ९ खरब तथा ८ खरब थी।

उस समय के बोधिसत्व मंगल नामक तपस्वी ने तथागत सिद्धत्थ को जम्बुफल प्रदान किये। तत्पश्चात् तथागत ने कहा कि आप ९४ कल्प बीतने के बाद बुद्ध होंगे।

भगवान् के संघ में दो प्रधान शिष्य सम्बहुल तथा सुमित्र थे तथा परिचारक रेवत थे। इनकी प्रधान शिष्यायें सीवली तथा सुरामा थीं।

१. "तथेव मण्डकप्पम्हि, धम्मदस्सी महायसो ।  
तमन्वकारं विघमित्वा, अतिरोचति सदेवके ॥"

—बुद्धवंसअट्ठकथा, पृ० ३२२

२. "धम्मदस्सिस्स अपरेण, सिद्धत्थो लोक नायको ।  
निहन्तिवा तमं सब्बं, सुरियो बभुगतो यथा"

—बुद्धवंसअट्ठकथा, पृ० ३२७

इनको कर्णिकार वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ६० हाथ तथा इनकी आयु १ लाख वर्ष थी।

### (१७) भगवान् तिष्य

भगवान् सिद्धत्थ के बाद अनन्त शील-सम्पन्न, अमित यश वाले, अनुपम, अद्वितीय तिष्य नामक बुद्ध हुए। भगवान् तिष्य का जन्म क्षेम नगर के जनसन्ध नामक क्षत्रिय के यहाँ हुआ था इनकी माता का नाम पद्मा था।

उस समय के बोधिसत्व महाऐश्वर्यसम्पन्न सुजात नामक क्षत्रिय ने मन्दार, पद्म तथा पारिजात पुष्पों से चारों परिषदों के बीच शास्ता की पूजा की तथा आकाश में फूलों की चाँदनी लगवा दी। तदुपरान्त शास्ता ने कहा कि आप इस कल्प से ९२ कल्प बीतने पर 'बुद्ध' होंगे।

भगवान् तिष्य ने भी तीन धर्मसम्मेलनों में भिक्षुओं को धर्मोपदेश दिया। उन सम्मेलनों में एकत्रित होने वाले भिक्षुओं की संख्या क्रमशः १ अरब, ९० करोड़ तथा ८० करोड़ थी।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य ब्रह्मादेव और उदय थे और परिचारक सम्भव थे। इनको प्रधान शिष्यायें फुस्स और सुदत्ता थीं। इनको असम वृक्ष के नीचे बोधिलाभ प्राप्त हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ६० हाथ एवं इनकी आयु १ लाख वर्ष थी।

### (१८) भगवान् पुष्य

भगवान् तिष्य के पश्चात् अनुपम, अलौकिक, अद्वितीय लोकनायक पुष्य नामक बुद्ध हुए।<sup>१</sup>

भगवान् पुष्य का जन्म काशी नगरी के राजा जयसेन के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम सिरिमा था।

१. "सिद्धत्थस्स अपरेण, असमो अप्पटिपुग्गलो।

अनन्ततेजो अमितयसो, तिस्सो लोकग्गनायको ॥"

—बुद्धवंस अट्ठकथा; पृ० ३३४

२. "तत्थेव मण्हकप्पम्हि, आहु सत्था अनुत्तरो।

अनुपमो असमसमो, फुस्सो लोकग्गनायको ॥"

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० ३४०

१६० : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

भगवान् पुष्य ने भी तीन धर्मसम्मेलनों में धर्मोपदेश दिया। उन तीन धर्मसम्मेलनों में एकत्र होने वाले भिक्षुओं की संख्या क्रमशः ६० लाख, ५० लाख तथा ३२ लाख थी।

उस समय के बोधिसत्व क्षत्रिय राजा विजितावी ने विशाल राज्य का परित्याग कर, त्रिपिटकों का अध्ययन किया एवं शील पारमिताओं को पूरा कर श्रमण धर्म में प्रव्रजित हो गए। तत्पश्चात् शास्ता ने कहा कि आप भविष्य में बुद्ध होंगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य सुरक्षित एवं धर्मसेन थे और परिचारक सभिय थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ चाला एवं उपचाला थीं। इनको आमलक (आँवला) वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ५८ हाथ तथा उनकी आयु ९० हजार वर्ष थी।

### (१९) भगवान् विपश्यी

भगवान् पुष्य के पश्चात् मनुष्यों में श्रेष्ठ, चक्षुमान, लोकनायक, विपश्यी नामक बुद्ध हुए।<sup>१</sup>

भगवान् विपश्यी का जन्म बन्धुमती नगर के राजा बन्धुमान् के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम बन्धुमती था।

भगवान् विपश्यी ने भी तीन धर्मसम्मेलनों में धर्मोपदेश दिया। उन तीन धर्मसम्मेलनों में सम्मिलित होने वाले भिक्षुओं की संख्या क्रमशः ६८ लाख, १ लाख तथा ८० हजार थी।

उस समय के बोधिसत्व महाप्रतापी राजा नाग ने सात रत्नों से सुसज्जित सिंहासन शास्ता को भेंट किया। शास्ता ने कहा कि आप इस कल्प से ९१ कल्प के बाद बुद्ध होंगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य खण्ड तथा तिष्य थे और परिचारक अशोक थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ चन्द्रा तथा चन्द्रमित्रा थीं। इनको पाटलि वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके ८० हाथ ऊँचाई वाले शरीर की आभा सदैव सात योजन तक व्याप्त रहती थी और उनकी आयु ८० हजार वर्ष थी।

१. "फुस्सस्स अपरेन, सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो।

विपस्सी नाम नानेन, लोके उप्पज्जि चक्खुमा ॥"

—वही, पृ० ३४६

## (२०) भगवान् शिखी

भगवान् विपश्यो के बाद अनुपम, अद्वितीय, नरश्रेष्ठ शिखी नामक बुद्ध हुए ।<sup>१</sup>

भगवान् शिखी का जन्म अरुणवती नगर के राजा अरुण के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम प्रभावती था ।

भगवान् शिखी ने भी तीन धर्मसम्मेलनों में धर्मोपदेश दिया था, उन तीनों धर्मसम्मेलनों में सम्मिलित होने वाले भिक्षुओं की संख्या क्रमशः १ लाख, ८० हजार तथा ७० हजार थी ।

तत्कालीन बोधिसत्व राजा अरिन्दम ने शास्ता एवं संघ को चीवर, भोजन, हस्तिरत्न एवं अन्यान्य अमूल्य वस्तुएँ प्रदान कीं । शास्ता ने कहा कि आप इस कल्प से ३१ कल्प के बाद बुद्ध होंगे ।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य अभिभू एवं संभव थे और इनके परिचारक क्षेमंकर थे । इनकी प्रधान शिष्याएँ मखिला और पद्मा थीं । इनको पुण्डरीक वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था । इनके ३७ हाथ ऊँचाई वाले शरीर का प्रभाव ३ योजन तक प्रस्फुटित होता था तथा इनकी आयु ३७ हजार वर्ष थी ।

## (२१) भगवान् विश्वभू

भगवान् शिखी के पश्चात् उसी कल्प में अतुलनीय एवं लोक में अद्वितीय विश्वभू नामक बुद्ध हुए ।<sup>२</sup>

भगवान् विश्वभू का जन्म अनुपम नगर के राजा सुप्रतीत के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम यशवती था ।

भगवान् विश्वभू ने भी तीन धर्मसम्मेलनों में धर्मोपदेश दिया था, उन तीनों सम्मेलनों में सम्मिलित होने वाले भिक्षुओं की संख्या क्रमशः ८० लाख, ७० हजार तथा ६० हजार थी ।

१. "विपस्सिस्स अपरेन, सम्बुद्धो द्विपटुत्तमो ।  
सिखिक्ख्यो आसि जिनो, असमो अप्पटिपुगलो ॥"

—बुद्धवंस अट्टकथा, पृ० ३५५

२. "तत्थेव मण्डकप्पम्हि, असमो अप्पटिपुगलो ।  
वेस्समू नाम नामेन, लोके उप्पज्जि नायको ॥"

—वही, पृ० ३६२

१६२ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

तत्कालीन बोधिसत्व राजा सुदर्शन ने शास्ता एवं उनके संघ को चीवर एवं भोजन प्रदान किया था। शास्ता ने कहा कि आप इस कल्प से ३१ कल्प पूर्ण होने पर बुद्ध होंगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य सोण एवं उत्तर थे और इनके परिचारक उपशान्त थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ दामा तथा समाला थीं। इनको शाल वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ६० हाथ और आयु ६० हजार वर्ष थी।

### (२२) भगवान् ककुसन्ध

भगवान् विश्वभू के बाद पुरुषों में श्रेष्ठ एवं अप्रमेय ककुसन्ध नामक बुद्ध हुए।<sup>१</sup>

भगवान् ककुसन्ध का जन्म क्षेमनगर के अग्निदत्त नामक ब्राह्मण के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम विशाखा था।

भगवान् ककुसन्ध ने एक ही बार धर्मोपदेश दिया, उस धर्मसम्मेलन में एकत्र होने वाले भिक्षुओं की संख्या ४० हजार थी।

उस समय के बोधिसत्व राजा क्षेम ने शास्ता एवं उनके संघ को चीवर, पात्र और भोजन प्रदान किया। शास्ता ने कहा कि आप भविष्य में बुद्ध होंगे।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य विधुर एवं संजीव थे और इनके परिचारक बुद्धिज थे। इनकी प्रधान शिष्याएँ श्यामा एवं चम्पका थीं। महाशिरीष वृक्ष इनका बोधि वृक्ष था। इनके शरीर की लम्बाई ४० हाथ एवं आयु ४० हजार वर्ष थी।

### (२३) भगवान् कोणागमन

भगवान् ककुसन्ध के बाद नरश्रेष्ठ कोणागमन नामक बुद्ध हुए।<sup>२</sup>

१. “वेस्सभुस्स अपरेण, सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो ।  
ककुसन्धो नाम नामेण, अप्पमेय्यो दुरासदो ॥”

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० ३७०

२. “ककुसन्धस्स अपरेण, सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो ।  
कोणागमनो नाम जिनो, लोक्कजेट्ठो नरासभो ॥”

—वही, पृ० ३७६

भगवान् कोणागमन का जन्म शोभावती नगर में ब्राह्मण यज्ञदत्त के यहाँ हुआ था, इनकी माता का नाम उत्तरा था ।

भगवान् कोणागमन ने भी एक ही बार धर्मोपदेश दिया और उसमें सम्मिलित होने वाले भिक्षुओं की संख्या ३० हजार थी ।

उस समय के बोधिसत्व पर्वत नामक राजा ने शास्ता से धर्मोपदेश श्रवण कर प्रव्रज्या ग्रहण की । उन्होंने शास्ता एवं उनके संघ को भोजन, वस्त्र, कम्बल तथा स्वर्ण आदि प्रदान किया । तत्पश्चात् शास्ता ने कहा कि आप भविष्य में बुद्ध होंगे ।

भगवान् के दो प्रधान शिष्य भोयस एवं उत्तर थे और पारिचारक स्वस्तिज थे । इनकी दो प्रधान शिष्याएँ सुभद्रा तथा उत्तरा थीं । इनकी उदुम्बर वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था । इनके शरीर की ऊँचाई ३० हाथ तथा आयु ३० हजार वर्ष थी ।

### (२४) भगवान् काश्यप

भगवान् कोणागमन के बाद मनुष्यों में श्रेष्ठ, धर्मराज प्रभंकर 'काश्यप' नामक बुद्ध हुए ।<sup>१</sup>

भगवान् काश्यप का जन्म वाराणसी नगरी में ब्राह्मण ब्रह्मदत्त के यहाँ हुआ था । इनकी माता का नाम धनवती था ।

भगवान् काश्यप ने भी एक ही बार धर्मोपदेश दिया उसमें सम्मिलित होने वाले भिक्षुओं की संख्या २० हजार थी ।

उस समय वेदों के पारंगत ब्राह्मण ज्योतिपाल ने शास्ता से धर्मोपदेश श्रवण कर प्रव्रज्या ग्रहण की, त्रिपिटकों का अध्ययन किया तथा बुद्ध शासन में रहे । शास्ता ने कहा कि आप भविष्य में बुद्ध होंगे ।

भगवान् काश्यप के दो प्रधान शिष्य तिष्य और भारद्वाज थे एवं परिचारक सर्वमित्र थे । उनकी दो प्रधान शिष्याएँ अनुला और उखेला थीं । इनको न्यग्रोध वृक्ष के नीचे बोधिलाभ हुआ था । इनके शरीर की ऊँचाई २० हाथ तथा आयु २० हजार वर्ष थी ।

१. "कोणागमनस्स अपरेण, सम्बुद्धो द्विपदुत्तमो ।

कस्सपो नाम सो जिनो धम्मराजा पभङ्करो ॥"

—बुद्धवंस अट्ठकथा, पृ० ३८३



## १५. परिनिर्वाण के बाद बुद्ध की स्थिति

बौद्ध दर्शन में यह प्रश्न भी सदैव उठता रहा है कि जिन पंच स्कन्धों से व्यक्तित्व बनता है, अतः निर्वाण की अवस्था में उनका अत्यन्त निरोध होने पर क्या शेष रहता है ? तथागत ने उच्छेदवाद का स्पष्ट निरोध किया है, अतः यह माना जा सकता है कि कुछ शेष अवश्य रहता है । यद्यपि बुद्ध ने इस प्रश्न को कि “तथागत का परिनिर्वाण के बाद क्या होता है”- अव्याकृत कोटि में ही रखा था, किन्तु बौद्ध परम्परा में परिनिर्वाण के अनन्तर तथागत की अनिर्वचनीय सत्ता को स्वीकार कर लिया गया । सर्वास्तिवादी परम्परा यह मानती है कि बुद्ध का भौतिक (सम्भोग) काय तो नश्वर है किन्तु उनका धर्मरूपी शरीर अनश्वर है । महायान में बुद्ध को अपरिमित आयु वाला मानकर उनको पारमार्थिक सत्ता को उसी प्रकार अनिर्वचनीय मान लिया गया, जिस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म को अनिर्वचनीय माना गया था, साथ ही उनका तादात्म्य धर्मकाय या स्वभावकाय कर दिया और मानुषी बुद्ध को निर्माणकाय कहकर नश्वर कहा गया ।

## १६. बौद्ध धर्म में भक्ति का स्थान

बौद्ध धर्म में भक्ति का उदय भागवत् धर्म के प्रभाव से प्रतिफलित प्रतीत होता है । पाणिनि की अष्टाध्यायी में वासुदेव की भक्ति का उल्लेख देखने को मिलता है ।<sup>१</sup> उसका काल ई० पू० छठी शताब्दी माना गया है । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि छठी शताब्दी ई० पू० में वैष्णव धर्म का उदय हो चुका था ।<sup>२</sup> पालि निकाय के प्राचीन ग्रन्थों में “सद्धा” शब्द मिलता है, पालि निकाय के प्राचीनतम भाग का समय ई० पू० ५वीं शती माना गया है । पालि निकाय में सर्वप्रथम भक्ति शब्द का उल्लेख थेरीगाथा में मिलता है ।<sup>३</sup> थेरीगाथा का रचना काल विद्वानों ने ई० पू० तीसरी शताब्दी माना है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध साहित्य में “भक्ति” की अवधारणा का उदय भागवत् धर्म के उदय के समकालीन है । यहाँ यह प्रश्न उठना

१. पाणिनि अष्टाध्यायी ( ४,३,९८;४,३,९९;४,१,११४)

२. भागवत सम्प्रदाय, पृ० ९२

३. थेरीगाथा, गाथा ४१३

स्वाभाविक ही है कि अगर बौद्धों ने भागवतों की “भक्ति” की अवधारणा को अपनाया तो उनके देवताओं को क्यों नहीं अपनाया ? बौद्ध धर्म में बोधिसत्व की कल्पना उनकी अपनी कल्पना है। फिर भी इतना तो स्पष्ट होता ही है कि बोधिसत्व की अवधारणा एक प्रकार से अवतारवाद का बौद्धधर्मीय संस्करण ही है। इस संदर्भ में भी बौद्ध धर्म पर भागवत धर्म का प्रभाव देखा जा सकता है।<sup>१</sup>

श्री गोकुल दास डे ने अपनी पुस्तक ‘सिग्निफिकेंस एण्ड इम्पोर्टेंस आफ जातकाज’ के अन्तिम अध्याय में बौद्धों और भागवतों के सम्बन्ध को जातकों के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया है। वे कहते हैं—“पूर्ववर्ती बौद्ध धर्म जातकों के आधार पर भागवत धर्म से प्रभावित रहा है, क्यों कि भागवत धर्म का मूल आधार भक्तितत्त्व जातकों एवं महायान ग्रन्थों में सर्वत्र व्याप्त है। गृहस्थों के लिए स्वर्ग (सग) और संन्यासियों के लिए मोक्ष भी दोनों में सामान्य रूप से मान्य है।”<sup>२</sup> अतः यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म पर भागवत धर्म का प्रभाव पड़ा होगा।

### १७. बुद्ध और लोक कल्याण

निवृत्ति प्रधान बौद्ध-दर्शन में लोक कल्याण की उत्कृष्ट भावना के दर्शन होते हैं, जिसका चरमोत्कर्ष ‘बोधिचर्यावतार’ नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में परिलक्षित होता है। स्वयं भगवान् बुद्ध ने बोधि प्राप्त करने के बाद समाधि सुख का परित्याग कर लोकहितार्थ एवं लोक कल्याण के लिए कार्य करना ही श्रेयस्कर समझा और उन्होंने अपने भिक्षुओं को लोकहित का ही सन्देश दिया। वे कहते हैं—“चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सान” अर्थात् हे भिक्षुओं, “बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोक अनुकम्पा के लिए, देव और मनुष्यों के सुख और हित के लिए परिचारण करते रहो।”<sup>३</sup>

१. दी बोधिसत्व डाक्ट्रिन, पृ० ३२ : उद्धृत—मध्यकालीन साहित्य में अवतार-वाद, पृ० ५
२. सिग्निफिकेंस एण्ड इम्पोर्टेंस आफ जातकाज, पृ० १५६-१५९ : उद्धृत वही, पृ० ६
३. महावग्ग १/१०/३२, पृ० २३

बौद्ध-धर्म की महायान शाखा का साधक तो अपने निर्वाण सुख की भी उपेक्षा कर लोक कल्याण के आदर्श को श्रेष्ठ मानता है। वह कहता है कि दूसरे प्राणियों को दुःख मुक्त कराने में जो आनन्द मिलता है वही पर्याप्त है अपने लिए निर्वाण प्राप्त करना नोरस है, उससे हमें क्या लेना देना।<sup>१</sup>

लंकावतारसूत्र में बोधिसत्व यहाँ तक कहते हैं कि मैं तब तक परि-निर्वाण में प्रवेश नहीं करूँगा जब तक विश्व के सभी प्राणी निर्वाण प्राप्त न कर लें।<sup>२</sup> यहाँ पर साधक पर-दुःख-विमुक्ति से मिलने वाले आनन्द को स्व-निर्वाण के आनन्द से श्रेष्ठ समझकर अपने निर्वाण का त्याग कर देता है।

आचार्य शान्तिदेव ने अपने ग्रन्थ शिक्षा-समुच्चय और बोधिचर्यावतार में बुद्ध की ल'क-हितकारी दृष्टि का अनूठे ढंग से वर्णन किया है। बोधि-चर्यावतार में बोधिसत्व लोक सेवा की भावना से अनुप्राणित होकर कहते हैं—“मैं व्याधि दूर होने तक रोगियों के लिए औषधि बनूँगा, वैद्य बनूँगा और परिचारक भी बनूँगा, अन्न-पान की वर्षा से भूख और प्यास से होने वाली व्यथा मिटाऊँगा तथा दुर्भिक्षान्तर कल्पों में भोजन-पान बनूँगा, दारद्र प्राणियों के लिए अक्षय निधि बनूँगा और नाना प्रकार के उपकरणों से उनके सामने उपस्थित रहूँगा।”<sup>३</sup> आगे वह कहते हैं—“मैं अनाथों का नाथ, यात्रियों का साथवाह, पार जाने की इच्छा वालों के नाव, सेतु और बेड़ा बनूँगा। दीपक चाहने वालों के लिए दीपक, शय्या चाहने वालों के लिए शय्या, जिनके लिए दास की आवश्यकता है उनके लिये दास बनूँगा, इस प्रकार जगत के सभी प्राणियों की सेवा करूँगा।”<sup>४</sup> “जिस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि भौतिक वस्तुयें सम्पूर्ण आकाश ( विश्व मण्डल ) में बसे सभी प्राणियों के सुख का कारण होती हैं; उसी प्रकार आकाश के नीचे रहने वाले सभी प्राणियों का उपजीव्य बनकर तब तक रहना चाहता हूँ, जब तक सभी प्राणी मुक्ति प्राप्त न कर लें।”<sup>५</sup>

इस प्रकार व्यक्तिगत सुख की उपेक्षा कर दूसरे के दुःख को दूर करना ही बोधिसत्व का चरम लक्ष्य रहा है और वे कहते हैं कि—“अपने सुख

१. बोधिचर्यावतार, ८/१०८

२. लंकावतारसूत्र, ६६।६

३. बोधिचर्यावतार, ३/७-९

४. वही, ३/१७-८

५. वही, ३/२०-२१

को अलग रख और दूसरों के दुःख ( दूर करने ) में लग, दूसरों का सेवक बनकर इस काया में जो कुछ वस्तु देख, उससे दूसरों का हित कर ।”<sup>१</sup> फिर वह कहते हैं—‘दूसरे के दुःख से अपने मुख को बिना बदले बुद्धत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, फिर संसार में सुख है ही कहाँ ?’<sup>२</sup> यदि एक के दुःख उठाने से बहुतों का दुःख चला जाय तो अपने और पराये पर कृपा करके वह दुःख उठाना ही चाहिए ।<sup>३</sup>

बोधिचर्यावितार में निःस्वार्थ होकर कर्म करने की अवधारणा पर बल दिया गया है । जिस प्रकार कि शरीर के अवयव पैर में काँटा लगने पर हाथ उसको निकालकर दुःख दूर करता है जबकि हाथ को पैर का दुःख नहीं होता ।<sup>४</sup> उसी प्रकार सभी प्राणियों को दूसरों को दुःख से बचाने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि परोपकार करके हम अपने समाज रूपी शरीर की ही सन्तुष्टि करते हैं । “जिस प्रकार स्वयं को भोजन कराकर फल की आशा नहीं होती है उसी प्रकार परार्थ करके न गर्व हो सकती है, न विस्मय ।”<sup>५</sup> “इसलिए एकमात्र परोपकार की अभिलाषा से परोपकार करके भी न गर्व करना चाहिए और न विस्मय और न विपाक फल की इच्छा ही ।”<sup>६</sup>

बोधिसत्वकी लोककल्याणकारो अभिलाषा इतनी महान है कि उनके रोम-रोम से उच्चरित होता है कि संसार का कोई प्राणी दुःखी न हो, पापी न हो, रोगी न हो, हीन न हो, तिरस्कृत और दुष्ट चित्त न हो ।<sup>७</sup> जगत का जो दुःख है वह सब मैं भोगूँ और मेरे सब पुण्यों से जगत सुखी हो ।<sup>८</sup>

यही लोक मंगल का उत्कृष्ट रूप है जहाँ दूसरे के हित के लिए अपने हित का भी त्याग कर दिया जाता है ।

१. बोधिचर्यावितार, ८/१६१, १५९
२. वही, ८/१३२
३. वही, ८/१०५
४. वही, ८/९९
५. वही, ८/११६
६. वही, ८/१०९
७. वही, १०/४५
८. वही, १०/५६

## १८. बौद्ध धर्म में कृपा और पुरुषार्थ

जब हम कृपा और पुरुषार्थ के प्रत्ययों की बात करते हैं तो हमारी मूल समस्या यह होती है कि मनुष्य के दुःख और पीड़ाएँ उसके अपने प्रयत्नों से दूर होती हैं या किसी दैवी शक्ति की कृपा से ! सामान्यतया ईश्वरवादी दर्शनों में ईश्वरीय कृपा को ही दुःख विमुक्ति का एकमात्र आधार माना गया है, उनमें व्यक्ति के प्रयत्न या पुरुषार्थ का कोई स्थान हो सकता है तो मात्र इतना ही कि वह अपने को ईश्वरीय या दैवी कृपा प्राप्त करने का पात्र बना सके। इसके विपरीत अनीश्वरवादी धर्मों में विशेष रूप से बौद्ध और जैन धर्म में ईश्वरीय कृपा को अस्वीकार ही किया गया है। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में हम स्पष्ट रूप से पुरुषार्थवाद का ही समर्थन पाते हैं। यद्यपि बौद्ध धर्म में बुद्ध, धर्म और संघ की शरण ग्रहण करने का विधान है किन्तु यह विधान किसी कृपा को प्राप्त करने के लिए नहीं है बल्कि साधन के क्षेत्र में मनोबल से आगे बढ़ने के लिए है। महापरिनिब्बानसुत्त में बुद्ध स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हे आनन्द, तुम अपनी शरण ग्रहण करो, आत्म-दीप होकर के विचरण करो।<sup>१</sup> तथागत तो केवल मार्ग-दर्शन कराने वाले हैं, कार्य तो तुम्हें स्वयं करना होगा।<sup>२</sup> बुद्ध यहाँ कोई ऐसा स्पष्ट आश्वासन नहीं देते हैं कि तुम मेरी शरण ग्रहण करो, मैं अपनी कृपा से तुम्हारे सब दुःख दूर कर दूँगा। बौद्ध धर्म के अनुसार सत्त्वशुद्धि का जो परिपाक होना है वह अपने स्वयं के प्रयत्नों से ही होना है, उसमें दूसरा कोई सहायक नहीं हो सकता। किन्तु यदि हम इस अवधारणा को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर बौद्ध धर्म में बुद्ध की कृपा का क्या स्थान रहेगा ? प्रारम्भिक बौद्ध धर्म और जैन धर्म में भी बुद्ध और तीर्थंकर को परम कारुणिक कहा गया है, वे कृपा के अवतार हैं। तीर्थंकर समस्त लोक की पीड़ा को जानकर धर्म का उपदेश देते हैं, उसी प्रकार बुद्ध भी प्राणियों के दुःख को दूर करने के लिए धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते हैं।

बोधिलाभ करने के पश्चात् स्वयं बुद्ध के मन में भी यह विचार आया

१. "आनन्दा अत्तदीपा विहरण अत्तसरणा"

—दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, पृ० १११

२. "तुम्हे हि किच्चं आत्तपां अक्खातारा तथागता।"

—धम्मपद २०/४

था कि मैं समाधिलाभ प्राप्त करके आत्म विहरण करूँ। किन्तु लोक की पीड़ा को जानकर हो वे धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिए समुद्यत हुए। उन्होंने अपने भिक्षुओं को भी यह उपदेश दिया कि हे भिक्षुओं, बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोक की अनुकम्पा के लिए, देव और मनुष्य के सुख और हित के लिए परिचरण करो।<sup>१</sup>

किन्तु बुद्ध की यह कृपा साधक के लिए कृपा का वरदान लेकर आती है। क्या बुद्ध की कारुणिक दृष्टिमात्र से बिना पुरुषार्थ के दुःख विमुक्ति सम्भव है? यहाँ हम देखते हैं कि प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में यह कल्याण-भावना ईश्वरीय कृपा का प्रतीक नहीं कही जा सकती, उसमें सत्व-शुद्धि तो व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ का ही फल कही गई है। किन्तु धीरे-धीरे बौद्ध धर्म में बुद्ध की यह कृपा कृपा का यह रूप लेने लगती है। सर्वप्रथम तो बौद्ध धर्म में यह मान लिया गया है कि व्यक्ति अपने कुशल या पुण्य का दान दूसरे के हित के लिए कर सकता है और इससे वे लोग लाभान्वित भी होते हैं। बोधिचर्यावतार में हम देखते हैं कि बोधिसत्व अपने शुभ क्रियाओं (कृत्यों) को प्राणियों के हित के लिए प्रस्तुत कर देता है और यह कामना करता है कि मेरे पुण्य के बल पर यह प्राणी दुःखों से मुक्त हो जावे।<sup>२</sup> यदि बोधिसत्व या बुद्ध अपनी पुण्य परिणामना के द्वारा लोक मंगल कर सकते हैं तो हमें यह मानना होगा कि बौद्ध धर्म में किसी सीमा तक कृपा का प्रवेश हो गया है।

## १९. अनात्मवाद और बुद्धत्व को अवधारणा

बुद्धत्व की अवधारणा में सबसे महत्वपूर्ण असंगति बौद्ध धर्म का अनात्मवाद का सिद्धान्त कहा जाता है। बुद्ध ने तृष्णा के समग्र उच्छेद के लिए अनात्मवाद का उपदेश दिया। यह बात प्रथम दृष्टि में ठीक तो लगती है, किन्तु आलोचकों का कथन है कि यदि बौद्ध दर्शन ईश्वर एवं आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करता तो फिर उसमें बुद्धत्व और बोधिसत्व की अवधारणायें किस प्रकार से संगतिपूर्ण हो सकती हैं? जब तक किसी

१. “चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय, बहुजनमुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सान” —महावग्ग, (१/१०/३२), पृ० २३

२. “यत्किञ्चिज्जगतो दुःखं तत्सर्वं मयि पच्यतां।

बोधिसत्वशुभैः सर्वेजगत् सखितमस्तु च ॥”

नित्य आत्म सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता तब तक हम यह कैसे कह सकते हैं कि कोई व्यक्ति बोधिसत्व हो सकता है, बुद्धत्व को प्राप्त हो सकता है ? यदि आत्मा नहीं है तो फिर बोधिचित्त का उत्पाद कौन प्राप्त करेगा ? पुनः एक ओर बौद्ध दर्शन यह मानकर भी चलता है कि प्रत्येक सत्व बुद्ध-बीज है किन्तु यदि कोई नित्य अस्तित्व ही नहीं है तो फिर वह बुद्ध बीज कैसे होगा और कैसे वह बोधिसत्व होकर विभिन्न जन्मों में पारमिताओं को पार करता हुआ बुद्धत्व को प्राप्त करेगा ? महासांघिकों ने बुद्ध के रूपकाय को अमर और उनकी आयु को अनन्त माना है।<sup>१</sup> सद्धर्मपुण्डरीक<sup>२</sup> में भी यह कहा गया है कि बुद्ध की आयु अपरिमित है। यदि बुद्ध का रूपकाय अनन्त, अमर एवं अपरिमित है तो फिर क्षणिक-वाद की अवधारणा कैसे सुसंगत सिद्ध होगी ? पुनः जब यह मान लिया जाता है कि बुद्ध निर्माणकाय के द्वारा नाना रूपों में प्रकट होकर लोक हित के लिए उपदेश करते हैं, तो फिर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से ही उत्पन्न होता है कि किसी नित्य तत्व को माने बिना यह निर्माणकाय की रचना कौन करता है ! एक बार सामान्य व्यक्ति के सन्दर्भ में यह बात बोधगम्य हो सकती है कि वह क्षण-क्षण परिवर्तनशील है, किन्तु बुद्ध की परिवर्तनशीलता किस आधार पर सिद्ध होगी ? इस प्रकार हम देखते हैं कि अनात्मवादों और क्षणिकवादी दार्शनिक ढाँचे में बुद्धत्व और बोधिसत्व की अवधारणायें सुसंगत नहीं लगती हैं, यदि हम विशुद्धिमग्न की भाषा में कहें कि क्रिया तो है कर्ता नहीं, मार्ग तो है चलने वाला नहीं, तो फिर मार्ग का उपदेशक कैसे हो सकता है ? वह कौन-सा सत्व या चित्त है जो बुद्धत्व को प्राप्त करता है और परम कारुणिक होकर जन-जन के कल्याण के लिए युग-युग तक प्रयत्नशील बना रहता है ? महायानसूत्रालंकार में यह भी कहा गया है कि बुद्ध के तीनों काय आशय, आश्रय और कर्म से निर्विशेष हैं, अतः तीनों कायों में तीन प्रकार की नित्यता समझनी चाहिए जिसके कारण तथागत नित्य कहलाते हैं। स्वाभाविक-काय की स्वभाव से नित्य होने के कारण प्रकृति से नित्यता है साम्भौगिक-काय का धर्म सम्भोग के अविच्छेद के कारण असंसनतः (अच्युतितः) नित्यता है, नैर्माणिक की अन्तर्व्यय में पुनः-पुनः निर्मित द्रष्ट होने के

१. उद्धृत-बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३४९

२. सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० २०६-२०७ : द्रष्टव्य-बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ३५१।

कारण प्रबन्ध-नित्यता है।<sup>१</sup> प्रश्न यह होता है कि एकान्त रूप से क्षणिक-वादी दर्शन में बुद्ध के त्रिकायों की तीन नित्यतायें कैसे सम्भव हो सकती हैं? इनमें चाहे किसी भी रूप में नित्यता को स्वीकार किया जाये, निश्चित ही हमें क्षणिकवाद से पीछे हटना होगा। जब कोई आत्म-सत्ता ही नहीं है तो फिर बोधिसत्व कौन बनेगा और बुद्धत्व को कौन प्राप्त करेगा और कौन दस पारमिताओं की साधना करेगा? यदि वह चित्त जिसने बोधि को प्राप्त किया, जिसने विभिन्न पारमिताओं की साधना की और जो अन्त में बुद्धत्व को प्राप्त करता है, यदि किसी प्रकार के एकत्व से रहित है अर्थात् स्रोतापन्न होकर विभिन्न पारमिताओं की साधना करते हुए बुद्धत्व को प्राप्त करने वाला "वही" नहीं है तो फिर बुद्धत्व का सारा दर्शन चरमरा जायेगा।

मेरी दृष्टि में बौद्ध दर्शन की ओर से उपरोक्त असंगतियों का यदि कोई प्रत्युत्तर हो सकता है तो वह यही होगा कि इन सबकी संगतिपूर्ण विवेचना चित्त संतति या चित्त धारा के रूप में की जा सकती है। फिर भी इस चित्त धारा में भी कोई एक ऐसा योजक सूत्र अवश्य मानना होगा जिसके आधार पर वे चित्तक्षण एक दूसरे से पृथक् होकर भी पृथक् नहीं रहते हैं।

उपर्युक्त प्रश्नों को लेकर हमने बौद्ध धर्म और दर्शन के वरिष्ठ विद्वान् स्व० पं० जगन्नाथ जी उपाध्याय से चर्चा की थी, इस सम्बन्ध में उनके जो प्रत्युत्तर थे उन्हें हम अपने शब्दों में प्रस्तुत कर रहे हैं। उनका कहना था कि बुद्ध के सम्बन्ध में जो त्रिकायों की अवधारणा है उसका अर्थ यह नहीं है कि कोई नित्य आत्मसत्ता है, जो कार्यों को धारण करती है। वस्तुतः ये काय परार्थ के उपाय या साधन माने गये हैं। जिस चित्त धारा से बोधिचित्त का उत्पाद होता है। वह बोधिचित्त इन कार्यों के माध्यम से परार्थ करता है, इसलिए बुद्धत्व कोई एक व्यक्ति नहीं है, अपितु एक प्रक्रिया है। जब हम धर्मकाय की नित्यता मानते हैं, तो वह व्यक्ति की नित्यता नहीं, प्रक्रिया की नित्यता है। धर्म की नित्यता मार्ग नित्यता है। धर्मकाय नित्य है इसका तात्पर्य है कि धर्म या परिनिर्वाण के उपाय नित्य हैं। अतः इन कार्यों की अवधारणा को हमें न तो कोई नित्य आत्मा के रूप में समझना चाहिए और न ये किसी ऐसे तत्व के रूप में जो

१. सूत्रालंकार, पृ० ४५ ४६ : द्रष्टव्य-बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ०



शाश्वत है अपितु इन्हें परार्थ क्रियाकारित्व के उपायों के रूप में समझना चाहिए और यह परार्थ क्रियाकारित्व ही बुद्धत्व है। बुद्धत्व के नित्य होने का अर्थ इतना ही है कि परार्थ क्रिया सदैव-सदैव चलती रहती है। वह चित्त जिसने लोक मंगल का संकल्प ले रखा है, जब तक वह संकल्प पूर्ण नहीं होता है अपने इस संकल्प की क्रियान्विति के रूप में परार्थ क्रिया करता रहता है और वह संकल्प लेने वाला चित्त आपकी, हमारी या किसी की भी चित्त धारा की सन्तान हो सकता है। उसका यह संकल्प कि जब तक समस्त प्राणी निर्वाण लाभ न कर लें या दुःख से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक लोक मंगल के लिए प्रयत्नशील रहूँगा, अपनी चित्त-सन्तति-धारा को प्रवाह रूप से बनाए भी रखता है।

इस प्रकार अनात्मवादी बौद्ध दर्शन में बुद्धत्व की यही अवधारणा अधिक समीचीन और तर्कसंगत हो सकती है कि हम बुद्ध को व्यक्ति न मानें, अपितु परार्थ क्रियाकारित्व की एक प्रक्रिया मानें। बुद्ध नित्य व्यक्तित्व नहीं अपितु प्रक्रिया हैं और जो बुद्ध के तीन या चार काय माने गये हैं वे इस प्रक्रिया के उपाय या साधन हैं। धर्मकाय की नित्यता की जो बात कही जाती है वह भी स्थितिगत नित्यता नहीं अपितु प्रक्रियागत नित्यता है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह युगों-युगों तक चलता रहता है यद्यपि उसमें क्षण-क्षण परिवर्तनशीलता और नवीनता होती है, उसी प्रकार बुद्धत्व या बोधिमन्त्र भी एक चित्तधारा है, जो कार्यों अर्थात् उपायों के माध्यम से सदैव परार्थ में लगी रहती है।

पुनः बुद्ध न तो निर्वाण में स्थित हैं और न संसार में। महायान में बुद्ध के दो प्रमुख लक्षण प्रज्ञा और करुणा कहे गये हैं। प्रज्ञा के कारण वे संसार में प्रतिष्ठित नहीं हैं और करुणा के कारण निर्वाण में प्रतिष्ठित नहीं हैं, अर्थात् करुणा उन्हें निर्वाण में प्रतिष्ठित नहीं होने देती और प्रज्ञा उन्हें संसार में प्रतिष्ठित नहीं होने देती। अतः वे दोनों में अप्रतिष्ठित होकर कार्य करते हैं।

महायान में जो अनन्त बुद्धों की कल्पना है वह कल्पना भी प्रक्रिया की कल्पना है क्योंकि यदि प्रक्रिया को सतत चलना है तो हमें अनन्त बुद्धों की अवधारणा को स्वीकार करना होगा, क्योंकि प्रत्येक चित्त से बोधिचित्त का उत्पाद हो सकता है और ऐसी स्थिति में बुद्ध एक नहीं अनन्त हो सकते हैं। प्रक्रिया के रूप में एकत्व है, प्रक्रिया के घटकों के रूप में अनेकत्व है। बुद्ध अनेक रूपों में प्रकट होते हैं इसका तात्पर्य यह

नहीं है कि कोई एक व्यक्ति अनेक रूपों में प्रकट होता है, अपितु एक प्रक्रिया है जो अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। इसे हम लोकमंगलकारी चित्त धारा कह सकते हैं जो अनेक रूपों में अभिव्यक्त होकर अनेक प्रकारों से लोक-मंगल करती है। बुद्ध के द्वारा अनेक सम्भोग-काय के धारण करने का मतलब (अभिप्राय) यह है कि बुद्धत्व की प्रक्रिया या बोधि-चित्त-धारा के अनेकानेक चित्त-क्षण अनेकानेक कार्यों अर्थात् उपायों से लोक का हित साधन करते हैं।

पुनः जिस प्रकार पंचरात्र और वैष्णव दर्शन में विष्णु के व्यूहों की कल्पना है उसी प्रकार बौद्ध दर्शन में कार्यों की कल्पना है। जिस प्रकार विष्णु अपने व्यूहों के माध्यम से लोकमंगल करते हैं उसी प्रकार बुद्ध भी अपने कार्यों के माध्यम से लोकमंगल करते हैं। फिर भी जहाँ विष्णु और उसके व्यूहों में अंश-अंशी भाव है वहाँ बुद्ध और उनके कार्यों में ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। काय तो बोधिचित्त के द्वारा किए जाने वाले परार्थ के उपाय या साधन मात्र हैं अस्तित्व नहीं। अवतारवाद की अवधारणा के मूल में आत्मवाद या किसी नित्य तत्त्व की अवधारणा रहती है, बौद्ध दर्शन के मूल में आत्मवाद ऐसा कोई नित्य तत्त्व नहीं है। यही दोनों का मूलभूत अन्तर है।



## चतुर्थ अध्याय

# अवतार की अवधारणा

### १. अवतार शब्द की व्याख्या

प्राचीनकाल से ही भारतीय साहित्य में अवतार शब्द का प्रयोग होता रहा है। “अवतार” शब्द अव + तृ + घञ् से बना है—

“अवे तृस्त्रोघञ्”

इस सूत्र से निष्पन्न अवतार शब्द का अर्थ होता है कि किसी उच्च स्थल से नीचे उतरना अर्थात् किसी दैवीय शक्ति का दिव्य लोक से भूतल पर उतरना। सामान्यतया “अवतार” शब्द का प्रयोग सामान्य व्यक्ति के जन्म लेने के अर्थ में न होकर ईश्वर के शरीर धारण करने के अर्थ में ही किया जाता है।

भारतीय साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में ‘अवतार’ शब्द के स्थान पर अवतृ से बनने वाले ‘अवतारी’ और ‘अवत्तर’ शब्दों का प्रयोग है। सायण के अनुसार ऋग्वेद में प्रयुक्त “अवतारी” शब्द का अर्थ संकट दूर करना है। उसमें कहा गया है कि हे इन्द्र ! तुम हमारी स्तुतियों से, शत्रु सेनाओं को नष्ट करने वाली हमारी सेना की रक्षा करते हुए संग्राम में विद्यमान शत्रु के कोप को नष्ट करो। यज्ञादि कार्य करने वाले यजमान के लिए तुम उनके कार्यों को विनष्ट करने वाली सम्पूर्ण प्रजाओं को स्तुतियों द्वारा विनष्ट करो।<sup>१</sup> अवतारी के अनन्तर “अवतृ” से बनने वाला ‘अवत्त’ शब्द अथर्ववेद में मिलता है।<sup>२</sup> सायण ने कहा है कि जिसमें रक्षण का सारभूत अंश विद्यमान हो वही “अवत्तर” है। “अवत” शब्द पुनः यजुर्वेद में उतरने के

१. “आभिः स्पृघो मिथतीररिषण्यन्न मित्रस्य व्यथया मन्युमिन्द्र आभिर्विश्वा अभियुजो विषूचीरायियाऽविशो वतारीर्दासीः।”

—ऋग्वेद, ६/३/२५/२

२. “उपद्यामप वेतसमवत्तरो नदीनाम् । अग्ने पित्तमपामसि ॥”

—अथर्ववेद, १८/३/५

अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।<sup>१</sup> यजुर्वेद के अंग्रेजी टीकाकार ग्रिफिथ ने अवतार का अर्थ 'descend' अर्थात् उतरना किया है।<sup>२</sup> तैत्तिरीय ब्राह्मण<sup>३</sup> में 'अवतारी' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद<sup>४</sup> के समान ही रक्षा करने के अर्थ में ही हुआ है, उसमें मन्त्र की समानता के कारण अर्थ-वैषम्य की सम्भावना नहीं है। इसी प्रकार शतपथब्राह्मण<sup>५</sup> तथा मैत्रायणी संहिता<sup>६</sup> में प्रयुक्त अवतार शब्द यजुर्वेद<sup>७</sup> में प्रयुक्त "अवत्तर" शब्द के समान ही अर्थ रखते हैं।

पाणिनि ने "अवतार" शब्द का प्रयोग नीचे उतरने के अर्थ में किया है—

“अवे त्स्त्रोर्घञ्, अवतारः कूपादिः, अवस्तारो जवनिका।”

अष्टाध्यायी ३.३.१२०

गीता में "अवतार" की अपेक्षा "आत्म सृजन और "दिव्य जन्म" का प्रयोग हुआ है।<sup>८</sup> वाल्मीकि रामायण, महाभारत और विष्णुपुराण के अवतार सम्बन्धी उल्लेख में विष्णु के शरीर धारण करने या भूतल पर अवतीर्ण होने से अधिक सम्बन्धित है।<sup>९</sup> श्रीमद्भागवत में "अवतार" शब्द के स्थान पर "सृजन", "सृष्टि" और "जायमान" शब्द व्यवहृत हुए हैं।<sup>१०</sup>

इस प्रकार अवतार शब्द सृजन, जायमान, प्रभृति, उत्पत्ति सूचक

- 
१. "उपज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्व। अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकितामिरागहि सेमं नो यज्ञं पावक वर्णं भूशिवं कृधि ॥—यजुर्वेद १५/६
  २. "Descend upon the earth, the road, rivers, Thou art the gall, O Agni of the waters."
  ३. तैत्तिरीयब्राह्मण २/८/३/३
  ४. ऋग्वेद ६/३/२५/२
  ५. शतपथब्राह्मण ९/१/२/२७
  ६. मैत्रायणी संहिता २/१०/१
  ७. यजुर्वेद १७/६
  ८. गीता, ४/६-९
  ९. वाल्मीकि रामायण १/१६/३; महाभारत १/६४/५४;  
विष्णुपुराण ५/१/६०-६५
  १०. "यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ् नरादयः ॥" —भागवत १/३/५  
"निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने ।" —भागवत १०/३/८

शब्दों का ही पर्यायवाची है। फिर भी सामान्यतया विष्णु या ईश्वर के जन्म लेने को ही अवतार कहा गया है। अवतार की अवधारणा में यह सिद्धान्त निहित है कि ईश्वर भूतल पर शरीरधारी बनकर जन्म लेता है।

बौद्ध और जैन धर्मों के अनोखरवादी होने के कारण उनमें अवतार की अवधारणा को स्पष्टरूप से स्वीकार नहीं किया गया है फिर भी कुछ ऐसे शब्द के प्रयोग मिलते हैं जो इस अवधारणा से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं।

महायानी बौद्ध साहित्य के विख्यात ग्रन्थ “सद्धर्मपुण्डरीक” में क्रमशः अवतीर्य, अवतारिता, जातः, उत्पन्न, प्रादुर्भाव शब्द प्रयुक्त हुए हैं।<sup>१</sup> इनमें प्रादुर्भाव शब्द सर्वाधिक प्रचलित है। “तथागत-गुह्यक” में निर्माण, निष्क्रान्त, कायधारण तथा अवधारण जैसे शब्द मिलते हैं।<sup>२</sup> “मंजूश्री-मूलकल्प” में अवतारयेत्, अवतारार्थ के अतिरिक्त समागत और आविष्ट शब्द प्रयुक्त हुये हैं।<sup>३</sup> “बौद्धगानओदोहा” में अवतरित, निर्माणकाय, जायते आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।<sup>४</sup> बौद्ध धर्म का निर्माणकाय शब्द अवतार की अवधारणा के निकट है। सिद्ध-सरहपाद के दोहाकोश में “विशिष्ट निर्माणकायो च जायते” जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इसी ग्रन्थ में एक जगह “णिअ-पहुधर-वेस” (निज-प्रभुधर-वेश) का व्यवहार हुआ है।<sup>५</sup> दोहाकोश में “बोधिसत्व अकम्पित अवतरे”, “कायधारण” और “सगुणपहसे” जैसे अवतार की अवधारणा को सूचित करने वाले शब्द मिलते हैं।<sup>६</sup> यद्यपि ये शब्द बुद्ध के अवतरण या शरीर धारण से सम्बन्धित हैं फिर भी इनका वह अर्थ नहीं है जो हिन्दू परम्परा में ईश्वर के अवतरण का है।

१. सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० १३६, ३०१, १२८, १२५, २४०; द्रष्टव्य-मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पीठिका, पृ० ७ ( डॉ० कपिल देव पाण्डेय )
२. तथागतगुह्यक, पृ० २, ५९, १०८ : द्रष्टव्य—वही
३. मंजूश्रीमूलकल्प, पृ० ५०२, २०२, २१६, २३६, २३७ : द्रष्टव्य—वही
४. बौद्धगानओदोहा, पृ० ११२, ९१, ९३ : द्रष्टव्य—वही
५. दोहाकोश, पृ० ९४, ९६, १५९ : द्रष्टव्य-मध्यकालीन साहित्य में अवतार-वाद पीठिका, पृ० ८
६. दोहाकोश (सिद्धसरहपाद), पृ०० २३७, ०९९, ३३ : द्रष्टव्य-वही

जैन साहित्य में “अवतार” शब्द के ही प्राकृत एवं अपभ्रंश रूप प्रचलित रहे हैं। जैन ग्रन्थों में अवइष्णु (अवतीर्ण हुए) एवं “पयंडगउ” (प्रकट शरीरा) शब्द प्रयुक्त हुए हैं।<sup>१</sup> यहाँ इन शब्दों का अर्थ जन्म ग्रहण अथवा स्वर्ग से अवतरण से है, किन्तु इन्हें ‘अवतार’ का पर्यायवाची नहीं माना जा सकता, क्योंकि जैन दर्शन ईश्वर के अवतरण के अर्थ में अवतारवाद नहीं मानता है।

## २. अवतार शब्द का सामान्य तात्पर्य विष्णु के अवतार

एनीबेसेन्ट, अरविन्द, डॉ० राधाकृष्णन् आदि ने अवतारवाद पर विचार करते हुये अवतार का शाब्दिक अर्थ ईश्वर के अवतरण से ही माना है।<sup>२</sup>

हिन्दू परम्परा में इस अवतरण का अर्थ किसी सामान्य व्यक्ति के अवतरण या जन्म से न होकर विष्णु अर्थात् ईश्वर के अवतरण से है। जबकि जैन और बौद्ध परम्पराओं में अवतरण शब्द व्यक्ति के बोधिसत्व, बुद्ध या तीर्थंकर के रूप में जन्म लेने को सूचित करता है, यहाँ अवतरण शब्द भी विकास का ही सूचक है। मूलतः जैन और बौद्ध परम्परार्ये अवतारवाद के स्थान पर उत्तारवाद की सूचक हैं, जबकि वैदिक परम्परा विशेष रूप में अवतारवाद की सूचक है।

विष्णु के जन्म लेने का विवरण वैदिक साहित्य में विरल या नगण्य ही है, किन्तु जिन उपादानों से पौराणिक विष्णु एवं उनके अवतारों की अवधारणा का विकास हुआ उनमें से अधिकांश का सम्बन्ध विष्णु की अपेक्षा इन्द्र और प्रजापति से अधिक रहा है। कालान्तर में सर्वश्रेष्ठ होने पर उन सभी को विष्णु पर आरोपित किया गया।

वैदिक विष्णु प्रारम्भ में अन्य देवों के समतुल्य थे, फिर वे कुछ विशेषताओं के कारण महान् एवं सर्वश्रेष्ठ बन गये और अवतरण की सारी कथायें उनके साथ जोड़ी जाने लगीं। इस प्रकार अवतार शब्द विष्णु के अवतार का पर्यायवाची बन गया। अतः अवतार की अवधारणा को स्पष्ट करते समय हमें विष्णु की अवधारणा को भी समझ लेना होगा।

१. पद्मचरित (स्वयंभू), भाग १,—१।१६।५; हरिवंशपुराण ९२।३

२. दी मैसेज आफ गोता, पृ० ७०, अवतार, पृ० ९,

दि भगवद्गीता, (डॉ० राधाकृष्णन्) पृ० ३४

### ३. विष्णु शब्द की व्याख्या

विष्णु शब्द की व्युत्पत्ति विश् प्रवेश करना अथवा अश्— व्याप्त करना धातु से की गई है—“विष्णुविंशतर्वा व्यश्नोतर्वा ।” विष्णुपुराण में भी ‘विश्’ धातु का अर्थ प्रवेश करना है, सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मा में व्याप्त है।<sup>१</sup> ऋग्वेद में विष्णु को सौर देवता कहा है और वे सूर्य के रूप हैं। आचार्य यास्क के अनुसार रश्मियों द्वारा समग्र संसार को व्याप्त करने के कारण सूर्य ही विष्णु नाम से अभिहित हुये हैं। ऋग्वेद में “स्यन्दन्तां कुल्याः विषिताः पुरस्तात्” कहकर विष्णु की इन्द्र से तुलना की गई है।<sup>२</sup> ऋग्वेद में विष्णु इन्द्र के सहायक देवता हैं वहाँ उन्हें वृत्रवध में इन्द्र की सहायता करते हुए दिखाया गया है। साथ ही वे जल को पृथ्वी की ओर प्रवाहित करने तथा बलपूर्वक बन्दी बनाई गयी गायों को मुक्त करने में भी इन्द्र की सहायता करते हुए वर्णित हैं। कठोपनिषद् में विष्णु को व्यापक या व्यापनशील कहा गया है।

विष्णु शब्द की व्याख्या के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपने मत व्यक्त किये हैं। ब्लूमफील्ड का मत है कि विष्णु यौगिक शब्द “वि+स्तु” से बना है। ‘स्तु’ शब्द का अर्थ है शिखर या ऊपरी धरातल ‘वि’ उपसर्ग “से होकर” (अंग्रेजी का शब्द Through) का भाव व्यक्त करता है, इस प्रकार इस शब्द का अर्थ हुआ कि वह देवता जो पृथ्वी के पृष्ठ-भाग या धरातल से होकर जाता है।<sup>३</sup>

ओल्डेनवर्ग ने भी इस व्युत्पत्ति के अनुसार विष्णु का अर्थ ‘विस्तृत क्षेत्रों का अधिपति’ ( Herr der weiten Flächen ) अथवा ‘भूमि के विस्तीर्ण क्षेत्र को पार करने वाला’ माना है।<sup>४</sup>

इसी प्रकार एक अन्य जर्मन विद्वान् ग्युन्टर्ट ने विष्णु शब्द का भाव

१. यस्लाद्विष्टमिदं विश्वं तस्य शक्त्या महात्मनः ।

तस्मात्स प्रोत्यते विष्णुविशेषातोः प्रवेशनात् ॥

—विष्णुपुराण ३।१।४५

२. ऋग्वेद ५।८३।८

३. “अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।

—कठोपनिषद् २/३/८

४. ओल्डेनवर्ग, रिलीगियोन डेर वेद, पृ० २१०

पृथ्वी को चपटा कर फेलाने वाले के सन्दर्भ में किया है (Wer die Fläche auseinander gebeitet) ।<sup>१</sup>

थॉमस ब्लाक तथा जोहान्सन ने विष्णु शब्द में “जिष्णु” (विजयी) शब्द की भाँति “स्तु” प्रत्यय को उपस्थिति मानी है, “जि” की भाँति मूल “वि” कोई धातु नहीं है। इन विद्वानों ने ‘वि’ शब्द के ‘पक्षी’ अर्थ के अनुसार यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि विष्णु शब्द मूलतः ‘श्रेष्ठ पक्षी’ का अर्थ रखता है और इस रूप में सूर्य को दर्शाता होगा। ऋग्वेद में प्रातः सूर्य को सुपर्ण या गरुत्मत् कहा गया है।<sup>२</sup> जोहान्सन ने इसकी ग्रीक शब्द “ओइस्नस” ( Oisnos ) अर्थात् “बड़ा पक्षी” से तुलना की है।

हॉपकिन्स ने विष्णु के गति से विशेष सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए गत्यर्थक वि अथवा वी से इसकी व्युत्पत्ति मानने का आग्रह किया है।<sup>३</sup> मैकडानल ने कहा है कि गमन करने या ‘त्रेधा विचक्रमण’ के कारण ऋग्वेद में विष्णु का विशेष महत्व है अतः विष्णु शब्द अवश्य ही गत्यर्थक धातु से सम्बद्ध रहा होगा। इस सम्बन्ध में उसने क्रयादिगण की ‘विष्’ (विप्रयोगे धातुपाठ, १५२७) धातु का सुझाव दिया है। ऋग्वेद में यह धातु पर्याप्त स्थानों पर प्रयुक्त हुई है और पीटसंबर्ग के कोश के अनुसार इसका मूल अर्थ क्रियाशील या गतिमान होना है।<sup>४</sup>

कुछ भाषा वैज्ञानिकों का यह मत है कि विष्णु शब्द मूलतः आर्य भाषा का न होकर द्रविड़ भाषा से लिया गया है, महाराष्ट्रके प्रसिद्ध देवता का नाम विठोवा या विठ्ठल है जो ध्वनि परिवर्तनों के बाद आर्य भाषा संस्कृत में अपना लिया गया, क्योंकि विष्णु संस्कृत शब्द-संपदा का शब्द नहीं है। एफ० डब्ल्यू० थामस का मत है कि जिस प्रकार कृष्ण शब्द का तमिल रूप आज (क्रुस्टना या क्रिस्टना) है। उसी प्रकार विष्णु

१. डेउर आरिशे वेल्डक्योनिख् उन्ट हाइलण्ट, पृ० ३०६

२. ऋग्वेद १/४७/३

३. जर्नल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी, भाग ६, पृ० २६४  
( वी गतिव्याप्ति प्रजनकान्त्यसनखादनेषु, धातुपाठ-१०४८)

४. ‘आक्तद्यु कांश्रे ऐतरनासियोनाल् देज् ओरियन्तलिस्त’  
(अष्टादश अधिवेशन, १९३१), पृ० १५४  
‘आरवीव ओरियन्टालनी, भाग ४ (१९३२), पृ० २३१



१८० : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

का 'मूलरूप' विष्टनु (विस्टनु) रहा होगा, जिसका संस्कृतीकरण 'विष्णु' के रूप में कर लिया गया।<sup>१</sup>

विष्णु की आदित्यगण में गणना किये जाने से इनका मूलरूप में सूर्य से किसी न किसी प्रकार से सम्बन्ध अवश्य था।

प्रकृति की प्रत्येक वस्तु प्रकाश से आवृत दिखाई पड़ती है। सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व में भी सूर्य की सर्वत्रगामिनी किरणें प्रविष्ट रहती हैं। इस कारण ही वैदिक महर्षियों को दृष्टि इस ओर गई।

## ४. विष्णु और सूर्य

विष्णु का सूर्य से सम्बन्ध अनेक वैदिक तथा अवैदिक दृष्टान्तों से स्पष्ट होता है। जिस प्रकार सूर्य देव ने अपनी शक्ति से समस्त पार्थिव लोक को नापा, उसी प्रकार विष्णु ने पृथ्वीमंडल को नाप लिया था। विष्णु की यही विशेषता निश्चित रूप से सूर्य के पृथ्वीमंडल के चारों ओरऽपरिभ्रमण को संकेतित करती है। विष्णु का ताप से विशेष सम्बन्ध बताया गया है।

“विष्णुर्यनक्तु बहुधा तपांसि”<sup>२</sup>

वर्ष, मास और ऋतुओं का नियामक सूर्य ही है, इसी तथ्य को ध्यान में रखकर ऋग्वेद में कहा गया है कि विष्णु अपने ९० अश्वों को एक चक्र की भाँति घुमाते हैं।<sup>३</sup> प्राचीन वैदिक साहित्य में प्रायः ४ ऋतुओं का उल्लेख है, प्रत्येक ऋतु के ३ मास के ९० दिनों को ये ९० अश्व प्रदर्शित करते हैं। श्रीमद्भागवत् में वर्ष का कालचक्र के रूप में अतीव सुन्दर वर्णन उपलब्ध है।<sup>४</sup>

विष्णु से सूर्य की उत्पत्ति के बारे में शतपथब्राह्मण,<sup>५</sup> तैत्तिरीय आर-

१. “एता भगवतो विष्णोरादित्यस्य विभूतयः”

—भागवतपुराण, १२/११/४५

२. अथर्ववेद ५/२६/७

३. ऋत्विभिः साकं नवति च नामभिः चक्रं न वृतं व्यतीरंवीवियत् ।  
बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभियुवाकुमारः प्रत्येत्याहवम् ॥

४. श्रीमद्भागवत् ५/२१/१३

५. शतपथब्राह्मण १४/१/१

प्यक<sup>१</sup> और पंचविशब्राह्मण<sup>२</sup> में एक विचित्र कथानक है कि एक बार विष्णु अपने धनुष पर सिर रखकर निद्रा में निमग्न थे, दीमकों ने धनुष की डोरी काट दी जिसके कारण धनुष वेग से उछला और विष्णु का सिर कटकर आकाश में जाकर स्थित हो गया। परवर्ती साहित्य में विष्णु के वाहन गरुड़ को गरुत्मत तथा सुपर्ण भी कहा गया है। ये दोनों विशेषण सूर्य के लिए प्रयुक्त किये गये हैं और उसे एक शीघ्रगामी पक्षी के रूप में चित्रित भी किया गया है।<sup>३</sup>

महाभारत के अनुशासनपर्व<sup>४</sup> में विष्णु के जिन सहस्रनामों का उल्लेख है उनमें सहस्रांशु—हजारों किरणों वाले सूर्यरूप, गर्भस्तिनेमि—किरणों के बीच में सूर्यरूप में स्थित; विहायसगति—आकाश में गमन करने वाले; रवि—समस्त रसों का शोषण करने वाले सूर्य; विरोचन—विविध प्रकार के प्रकाश फैलाने वाले; सूर्य—शोभा को प्रकट करने वाले; सविता—समस्त जगत् को प्रसन्न यानी उत्पन्न करने वाले आदि विशेषण निश्चित रूप से विष्णु का सूर्य से सम्बन्ध दर्शाते हैं।

विष्णुपुराण<sup>५</sup> में कहा गया है कि विष्णु ज्योतिपिण्डों के अधिपति हैं। सूर्य ही विष्णु और उनकी आभा लक्ष्मी हैं।

ब्रह्मपुराण सशक्त शब्दों में कहता है कि सूर्य ही विष्णु हैं और विष्णु ही सूर्य हैं।<sup>६</sup>

एक ही तत्त्व आधिभौतिक दृष्टि से सूर्य और आदिदैविक दृष्टि से विष्णु हैं।<sup>७</sup>

१. तैत्तिरीयआरण्यक ५/१/१

२. पंचविशब्राह्मण ७/५/६-१६

३. उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णं पूर्वस्य योनि पितुरा विवेश।

मध्ये दिवो निहितः पृथिवी रश्मा वियक्रमे रजसस्पाद्यन्ती ॥

—ऋग्वेद १/४७/३

४. महाभारत-अनुशासन पर्व, विष्णुसहस्रनाम, पृ० १४८७-१५००

५. साद्रिद्वीपसमुद्राश्च सज्योतिर्लोकसंग्रहः।

—विष्णुपुराण १/२/५८

६. यश्च सूर्यः स वै विष्णुः यश्चविष्णुः स भास्करः।

—ब्रह्मपुराण १५८/२४

७. पद्मपुराण-सृष्टि खण्ड २०/१७३

मत्स्यपुराण के अनुसार भगवान् नारायण ही सत्वगुण से सूर्य का रूप धारण कर जल का शोषण करते हैं।<sup>१</sup> श्रीमद्भागवत् में सूर्य को विष्णु के प्रत्यक्ष रूप में माना गया है।<sup>२</sup>

लोक कल्याण के लिए सृष्टि को धारण करनेवाले आदि-पुरुष नारायण का साक्षात् स्वरूप ऋतुओं का विभाजन करने वाले सूर्य को बताया गया है, साथ ही यह भी कहा गया है कि वेद और विद्वान् लोग जिनकी गति को जानने के लिए उत्सुक रहते हैं वे साक्षात् आदि पुरुष भगवान् नारायण ही लोकों के कल्याण और कर्मों की शृद्धि के लिए अपने वेदमय विग्रह काल को बारह मासों में विभक्त कर वसन्तादि ६ ऋतुओं में उनके गुणों का विधान करते हैं।<sup>३</sup> वेदोक्त यज्ञ-यागादि क्रियाओं के आधार पर सूर्य और विष्णु में कोई अन्तर नहीं है परन्तु ऋषियों ने वैदिक क्रियाओं के अनुसार सूर्य का विभिन्न रूपों में वर्णन किया है।<sup>४</sup>

इस प्रकार विष्णु की कल्पना सूर्य के प्रकाश रूप से न करके तीव्र गति से विचरते सूर्य बिम्ब से की गई।<sup>५</sup> आकाश में पूर्व से पश्चिम तीव्र गति से जाने के कारण ही विष्णु को उरुगाय तथा उरुक्रम नाम से विभूषित किया गया है। तीव्र गति के कारण एष, एवया तथा एवयावान् आदि उनके विशेषण कहे गये हैं।<sup>६</sup>

दैत्यों के विनाश के लिए ही उग्र तपस्या कर विष्णु ने शिव से सुदर्शन नामक चक्र को प्राप्त किया। विष्णु को उनकी शैव भक्ति के कारण शैवराट को संज्ञा से भी अलंकृत किया गया है।

१. भूत्वा नारायणो योगी सत्वमूर्तिविभावसुः ।  
गभस्तिभिः प्रदीप्ताभिः संशोषयति सागरान् ॥ —मत्स्यपुराण १६६/१
२. प्रत्नस्य विष्णो रूपं यत्सत्यस्यतंस्य ब्रह्मणः ।  
अमृतस्य च मृत्योश्च सूर्यमात्मानमीमहीति ॥ —भागवत् ५/२०/५
३. स एष भगवानादिपुरुष एवं साक्षान्नारायणो लोकानां स्वस्त्य आत्मानं त्रयी-  
मयं कर्मविशुद्धिनिमित्तं कविभिरपि च वेदेन विजिज्ञास्यमानो द्वादशधा विभज्य  
षट्सु वसन्तादिष्वृषु यथोपजोषमृतुगुणान् विदधाति ॥  
—भागवत् ५/२२/३
४. एक एव हि लोकानां सूर्य आत्माऽऽदिकुद्धरिः ।  
सर्ववेदक्रियामूलमृषिभिर्बहुबोदितः ॥ —वही, १२/११/३०
५. वैदिक माइपोलोजी, पृ० ३९
६. वही, पृ० ३८

वेदों से प्रारम्भ होकर ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत एवं पुराणों में विष्णु की महत्ता एवं लोक ख्याति उसी प्रकार वृद्धिगत होती रही है, जिस प्रकार गंगा का जल समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते वृद्ध को ही प्राप्त होता रहता है। ब्रह्मा का महत्त्व वैदिक साहित्य में प्रजापति के रूप में सुविख्यात था किन्तु कालान्तर में वह ह्रास को प्राप्त हो गया। वैदिक साहित्य में रुद्र विशेष ख्याति प्राप्त देवता नहीं रहे, किन्तु विष्णु लोक-कल्याणकारी देवता के रूप में विशेष ख्याति को प्राप्त होते रहे हैं। विष्णु को लोक की विपत्ति में सहायक माना गया है। इसी विराट् भावना के कारण शैव पुराणों में भी विष्णु का महत्त्व स्वीकार किया गया है। प्रारम्भ में विष्णु इन्द्र तथा प्रजापति के सम-कक्ष देवता रहे, किन्तु कालान्तर में विष्णु का महत्त्व बढ़ जाने के कारण इन्द्र तथा प्रजापति भी उन्हीं में अंगीभूत हो गये।

## ५. शिवपुराण के अनुसार विष्णु को उत्पत्ति

शिवमहापुराण के अनुसार विष्णु का आविर्भाव (उत्पत्ति) इस प्रकार है—कहा जाता कि महाप्रलय के समय चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार व्याप्त था, उस समय एकमात्र 'तत्सद् ब्रह्म' ही शेष था। कुछ कालोपरान्त उसके मन में एक से दो होने की इच्छा जागृत हुई<sup>१</sup> और उस निराकार परमात्मा ने लीला शक्ति से अपने लिए एक मूर्ति या आकार की कल्पना की।<sup>२</sup> वह मूर्ति सर्वगुणसम्पन्न, सर्वज्ञ एवं शुभस्वरूपा थी। इसी को सदाशिव या परमात्म-शिव कहा गया है। कहा जाता है कि उस समय एकाकी एवं स्वच्छा विहार करने वाले परमात्माशिव ने अपने विग्रह से स्वयं ही एक स्वरूपभूता शक्ति की सृष्टि की और पुनः उस शक्ति के साथ सदाशिव या परमात्म-शिव ने "शिवलोक" का निर्माण किया जो कि 'काशी' के नाम से विख्यात है। इस काशी को निर्वाण अथवा मोक्ष का धाम कहा गया है साथ ही इसको सबके ऊपर विराज-

१. "क्रियता चैव कालेन द्वितीयेच्छाऽभवत् किस ।"

—शिवपुराण २/१/६/१४

२. अमूर्तेन स्वमूर्तिश्च तेनाकल्पि स्वलीलया ।

सर्वेश्वर्यगुणोपेता सर्वज्ञानमयी शुभा ॥

—शिवपुराण, २/१/६/१५

१८४ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

मान बताया गया है।<sup>१</sup> काशी क्षेत्र आनन्द को प्रदान करने वाला है इस कारण धनुषधारी शिव ने पहले इसका नाम “आनन्दवन” रखा था उसके बाद इसका नाम ‘अविमुक्त’ पड़ा।

एक समय आनन्दवन में रमण करने वाले शिव एवं शक्ति के मन में यह विचार आया कि किसी दूसरे पुरुष को उत्पन्न करना चाहिए, ताकि इस सृष्टि के संचालन का महान् भार उस पर छोड़कर हम दोनों काशी में इच्छानुसार विचरण करें और निर्वाण धारण करें।<sup>२</sup>

अतः वही पुरुष हमारे अनुग्रह से सृष्टि उत्पन्न करे, उसका पालन करे और अन्त में उसका संहार करे।<sup>३</sup> इस प्रकार निश्चय करके सर्व-व्यापी परमेश्वर शिव ने अपने वामभाग के दसवें अंग पर अमृत मला तो वहाँ से तीनों लोकों में अति सुन्दर पुरुष प्रकट हो गया।<sup>४</sup> इस प्रकार उस दिव्य, सर्वगुणसम्पन्न, पोताम्बरधारी पुरुष ने अपने नाम और कार्य के विषय में भगवान् शंकर से जिज्ञासा प्रकट की, तो परमात्म शिव अर्थात् भगवान् शंकर ने उत्तर दिया—“व्यापक होने के कारण तुम्हारा “विष्णु” नाम विख्यात होगा,<sup>५</sup> इसके अतिरिक्त और भी विभिन्न नाम होंगे। तुम सुस्थिर होकर तप करो क्योंकि वही समस्त कार्यों का साधक

१. युगपच्च तथा शक्त्यासाकं कालस्वरूपिणा ।  
शिवलोकाभिघ्नं क्षेत्रं निमित्तं तेन ब्रह्मणा ॥  
तदेव काशिकेत्येतत्प्रीच्यते क्षेत्रमुत्तमम् ।  
परं निर्वाणं संख्यातं सर्वोपरि विराजितम् ॥ —शिवपुराण २/१/६/२७-२८
२. अथानन्दवने तस्मिच्छबयो रममाणयो ।  
इच्छेत्यभूत् सुरर्षेहि सृज्यः कोऽप्युपरः किल ॥  
यस्मिन्नयस्य महाभारमात्रां स्वस्वैरचारिणी ।  
निर्वाणधारणं कुर्वः केवलं काशिशायिनो ॥ —वही २/१/६/३३
३. स एव सर्वं कुरुतां स एव परिपातु च ।  
स एव संबुणोत्वन्ते मदनुग्रहता सदा ॥ —वही २/१/६/३४
४. संप्रधार्येति स विभुस्तया शक्त्या परमेश्वरः ।  
सव्ये व्यापारयांचक्रे दशमेशो सुधासवम् ॥ —वही २/१/६/३७  
ततः पुमानाविरासीदेकस्त्रैलोक्यसुन्दरः ॥ —वही २/१/६/३८
५. विष्ण्विति व्यापकत्वात्ते नाम ख्यातं भविष्यति ।  
—वही २/१/६/४३

है।' ऐसा कहकर भगवान् शिव ने श्वास मार्ग से, विष्णु को वेदों का ज्ञान प्रदान किया।<sup>१</sup> तदन्तर विष्णु ने तप किया। तप के प्रभाव से भगवान् विष्णु के अंग से जल की धारायें प्रकट हुईं। वह जल सम्पूर्ण शून्याकाश में व्याप्त हो गया। वह जल समग्र पापों का नाश करने वाला सिद्ध हुआ। नार अर्थात् जल में शयन करने के कारण वे 'नारायण' नाम से अभिहित हुए।<sup>२</sup>

## ६. अवतार एवं उनका प्रयोजन

### (क) वाल्मीकिरामायण

वाल्मीकिरामायण के अनुसार विष्णु देव-शत्रुओं के विनाश के लिए ही अवतरित हुए थे। राक्षसराज रावण के अत्याचारों से घबराकर देवता ब्रह्मा के पास जाते हैं। उसी समय शंख, चक्र, गदा और पद्म से विभूषित एवं पीताम्बर धारण करने वाले विष्णु उपस्थित होते हैं।<sup>३</sup> सभी देवता मिलकर विष्णु से मनुष्य लोक में अवतार लेने का अनुरोध करते हैं।

वाल्मीकिरामायण के अनुसार राम, विष्णु के अवतार नहीं है, किन्तु विष्णु के समान वीर्यवान् हैं।<sup>४</sup> यद्यपि विष्णु के समान पराक्रमी होने का एक अर्थ विष्णु का अवतार हो सकता है, क्योंकि अवतारवाद की अवधारणा में सदैव वीर्य (वीर्य) महत्वपूर्ण है। अपनी पराक्रमशीलता के कारण ही विष्णु वैदिककाल से ही विख्यात रहे हैं।

वाल्मीकिरामायण में परशुराम के अवतारत्व-शक्ति से हीन होने के प्रसंग में स्पष्ट कहा गया है कि राम के धनुष चढ़ाने के पश्चात् परशुराम तेज और वीर्य से हीन होकर जड़ के समान हो गये।<sup>५</sup> इससे स्पष्ट होता है कि तेज और वीर्य ही अवतार के प्रमुख लक्षण हैं।

१. इत्युक्त्वा श्वासमार्गेण ददौ च निगमं ततः । —शिवपुराण २/१/६/४४

२. सुष्वाप परमप्रीतो बहुकालं विमाहितः ।  
नारायणेति नामापि तस्यासीच्छ्रुतिसम्मतम् ॥

—वही २/१/६/५३-५४

३. वाल्मीकि रामायण १/१५/१४-२२

४. "विष्णुना सद्गो वीर्ये ।"—वही १/१/१८

५. "तेजोभिर्गतं वीर्यत्वाज्जामदग्न्यो ज्झिकृतः ।"—वही १/७६/१२

यह भी सम्भव है कि प्रारम्भ में राम विष्णु के समान तेज एवं वीर्य से युक्त माने गये हों, और कालान्तर में इन्हीं गुणों के कारण उनमें अवतारत्व का आरोपण कर दिया हो। विष्णु के सदृश राम ने भी अवतार के रूप में देवताओं की सहायता की। वेदों में जिस प्रकार इन्द्र एवं विष्णु का आपसी सहयोग रहा है उसी प्रकार वाल्मीकि रामायण में भी इन्द्र राम को विष्णु-धनुष प्रदान कर सहयोग करते हैं।<sup>१</sup> जिस प्रकार शतपथब्राह्मण में विष्णु अपने तीन पदों द्वारा सभी वैदिक देवताओं की शक्ति प्राप्तकर श्रेष्ठ बन जाते हैं उसी प्रकार रामायण में भी राम अग्नि, इन्द्र, सोम, यम और वरुण—इन पाँच देवताओं के गुण, प्रताप, पराक्रम, सौम्य, दंड एवं प्रसन्नता को प्राप्तकर श्रेष्ठता प्राप्त करते हैं।<sup>२</sup>

वाल्मीकिरामायण में राम के जन्म का मुख्य प्रयोजन असुरों का विनाश है और इसी कारण उन्हें विष्णु का अवतार कहा गया। वाल्मीकिरामायण में विष्णु के अवतार के साथ अन्य देवताओं के सामूहिक अवतरण की बात भी कही गई है।<sup>३</sup> इसमें राम का मुख्य प्रयोजन देव-शत्रुओं का विनाश करना ही है।

### (ख) महाभारत

वाल्मीकिरामायण एवं महाभारत दोनों महाकाव्यों में अवतार का मुख्य उद्देश्य दैवी शक्ति को विजयो बनाना है। महाभारत के “अंशावतरण-पर्व” से विदित होता है कि उस समय सभी देव और दानव मनुष्य और राक्षस रूप में अवतरित हुए। विष्णु या नारायण श्रीकृष्ण के रूप में और इन्द्र अर्जुन के रूप में अवतरित हुए। यहाँ पर श्रीकृष्ण अर्जुन के सखा हैं। ऋग्वेद में भी विष्णु को इन्द्र का सखा या मित्र कहा गया है।<sup>४</sup>

विष्णु और इन्द्र किसी समय समश्रेणी के देवता थे किन्तु महाभारत काल में विष्णु (कृष्ण) प्रमुख स्थान ग्रहण कर चुके थे। शतपथब्राह्मण में भी कुरुक्षेत्र में तपस्या के कारण विष्णु को श्रेष्ठ कहा गया है।<sup>५</sup> केनोप-

१. वाल्मीकिरामायण ३/१२/३३

२. शतपथब्राह्मण १/९/३/९

३. वाल्मीकिरामायण १/१७/१-२३; ६/३०/२०-३३

४. ऋग्वेद १/२२/१९

५. शतपथब्राह्मण १४/१/१-५

निषद के तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड की यक्षकथा में देवताओं में श्रेष्ठ इन्द्र ऐकेश्वरवादी ब्रह्म की तुलना में गौण विदित होते हैं किन्तु महाभारत काल तक आते-आते देवाधिपति इन्द्र विष्णु की अपेक्षा भी गौण हो जाते हैं। महाभारत के श्रीकृष्ण विष्णु या नारायण के अवतार कहे गये हैं और जहाँ कहीं भी उनके अवतारत्व में सन्देह किया गया, वहाँ उन्होंने अपने विराट् रूप का प्रदर्शन किया है।

महाभारत में विष्णु को श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लेकर रणभूमि में दानवों और दैत्यों का संहार करते हुए प्रस्तुत किया गया है।<sup>१</sup> इस प्रकार महाभारत में उनके अवतार का प्रयोजन दैत्यों का संहार है। द्रौपदी के कथनानुसार विष्णु (श्रीकृष्ण) इन्द्र को सर्वेश्वर पद प्रदान कर मनुष्य रूप में प्रकट हुए हैं, साथ ही इसी प्रसंग में इनके प्राचीनतम अवतार आदित्य रूप की चर्चा हुई है<sup>२</sup> जो अदिति के ऐश्वरमय कुण्डल के लिए नरकासुर का वध करते हैं।<sup>३</sup> आदित्य अवतार से विष्णु की प्राचीन अवतार परम्परा का पता चलता है। इस प्रकार विष्णु के अवतार का मुख्य प्रयोजन इन्द्र और देवताओं की सहायता एवं उनके उत्थान के लिए असुरों का विनाश ही रहा है, क्योंकि महाभारत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आपने सहस्रों बार अवतार धारण कर अधर्म में रुचि रखने वाले असुरों का वध किया है।<sup>४</sup> उसके अनुसार परमात्मा जिस-जिस शरीर को धारण करना चाहता है उस-उस शरीर में अपनी आत्मा निवे-

१. कृत्वा तत्कर्म लोकानामृषभः सर्वलोकजित् ।  
अवधोस्त्वं रणे सर्वान्समेतान्दैत्यदानवान् ॥  
ततः सर्वेश्वरत्वं च संप्रदाय शचीपतेः ।  
मानुषेषु महाबाहोप्रादुर्भूतोषि केशव ॥

—महाभारत, वनपर्व १२/१८-१९

२. वही १२/२०
३. निहत्य नरकं भौममाहृत्यमणिकुण्डले ।  
प्रथमोत्पादितं कृष्णमेध्यमश्वमवासृजः ॥

—वही १२/१८

४. पादुर्भवसहस्रेषु तेषु तेषु त्वया विभो ।  
अधर्मरुचयः कृष्ण निहतः शतशो सुराः ॥

—वही १२/२८



शित कर<sup>१</sup> पापियों को दंड देने, सत्पुरुषों पर अनुग्रह करने तथा आक्रान्त पृथ्वी का भार हरण करने के लिए नाना प्रकार के अवतार ग्रहण करता है।<sup>२</sup> महाभारत की मान्यता है कि धर्म की रक्षा एवं स्थापना के लिए ईश्वर विविध योनियों में अवतार ग्रहण करते हैं।<sup>३</sup> महाभारत में श्रीकृष्ण ने स्वयं को विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, स्रष्टा एवं संहर्ता कहा है।<sup>४</sup> वे ही युग-युग में विभिन्न योनियों में प्रकट होकर धर्म-सेतु का निर्माण करते हैं<sup>५</sup> एवं देव, गन्धर्व, नाग, यक्ष, राक्षस और मनुष्य योनि में जन्म लेकर उसी के अनुरूप व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार महाभारत में विष्णु के अवतार का मुख्य प्रयोजन समय-समय पर आसुरी शक्तियों का विनाश, साधुजनों की रक्षा एवं धर्म को संस्थापना है।

### (ग) गीता

गीता के चतुर्थ अध्याय में अवतारवाद के तत्व मिलते हैं। गीता में पुनर्जन्म और साधारण जन्म से भिन्न ईश्वर की उत्पत्ति के वैशिष्ट्य को प्रतिपादित किया गया है। कृष्ण स्वयं अर्जुन से कहते हैं कि “मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं किन्तु मैं उनको जानता हूँ और तू उन्हें नहीं जानता। मैं अज, अव्ययात्मा और भूतों का ईश्वर होते हुए भी अपनी

१. यां यामिच्छेत्तनुं देवः कर्तुं कार्यविधौक्वचित् ।

तां तां कुर्याद्विकुर्वाणः स्वयामात्मानमात्मना ॥

—महाभारत, शान्तिपर्व ३४७/७९

२. तत्र न्यायमिदं कर्तुं भारावतरणं मया ।

अथनाना समुद्भूतैर्वसुधायां यथाक्रमम् ॥

निग्रहेण च पापानां साधूनां प्रग्रहेण च ।

इयं तपस्विनी सत्या धारयिष्यति मेदिनी ॥

—वही, २४९/३३-३४

३. बह्वीः संसारमाणो वै योनीर्वर्तामि सत्तम् ।

धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ॥

—महाभारत आश्वमेधिकपर्व ५४/१३

४. तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भागंव ।

अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः ॥

—वही ५४/१४

५. धर्मस्य सेतुं बन्नामि चलिते चलिते युगे ।

तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया ॥

—वही ५४/१६

प्रकृति में स्थित रहकर अपनी माया से उत्पन्न होता हूँ” ।<sup>१</sup> यहाँ पर ईश्वर और मनुष्य के जन्म में पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है । मनुष्य की अपेक्षा ईश्वर अपने ईश्वर रूप में रहकर माया से उत्पन्न होता है, वह अपने अनेक जन्मों के बारे में जानता है जबकि मनुष्य नहीं । गीता में भी ईश्वर के अवतार का प्रयोजन या मुख्य उद्देश्य धर्म की स्थापना, साधुओं की रक्षा और द्रुष्टों का विनाश कहा गया है<sup>२</sup> और उसके जन्म और कर्म दोनों को दिव्य या मनुष्येत्तर कहा गया है ।

भगवान् ही संसार की सब वस्तुओं का एकमात्र अवलम्बन है । उनमें सब कुछ पिरोया हुआ है—“मयि सर्वमिदं प्रोतम् ।” उन्हीं में सब कुछ प्रवर्तित होता है—“मत्तः सर्वम् प्रवर्तते ।”

गीता के विभिन्न अध्यायों में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अपनी विभूतियों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—मैं “पृथ्वी में गन्ध हूँ, सूर्य तथा चन्द्रमा में प्रकाश हूँ, सब भूतों का जीवन हूँ और तपस्वियों का तप हूँ ।<sup>३</sup> मैं ही ऋतु हूँ, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं औषधियाँ हूँ, मन्त्र, घृत, अग्नि और हव्य पदार्थ मैं ही हूँ । संसार की गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवासस्थान, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, आधार और अविनाशी बीज मैं ही हूँ ।<sup>४</sup> मैं सब भूतों के भीतर स्थित हूँ मैं उनका आदि, अन्त और साध्य हूँ । आदित्यों में मैं विष्णु, ज्योतियों में सूर्य, मरुद्गणों में मरोचि और नक्षत्रों

- 
१. बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।  
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ —गीता ४/५
२. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।  
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥  
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।  
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ —वही ४/७-८
३. पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसी ।  
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ —गीता ७/९
४. अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।  
मन्त्रोऽहमेवाज्यमहमग्निरहं हृतम् ॥ —वही ९/१६  
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।  
प्रभवः प्रलयः स्थानं निषानं बीजमव्ययम् ॥ —वही ९/१८

में चन्द्रमा हूँ। मैं अक्षरों में “अकार” तथा समासों में द्वन्द्व समास हूँ। मैं अक्षय काल हूँ, मैं सबको धारण करने वाला विश्वतोमुख हूँ। सबका हरण करने वाली मृत्यु भी मैं ही हूँ। मैं भविष्य के पदार्थों की उत्पत्ति-स्थल हूँ, तथा स्त्रियों की कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, बुद्धि, धैर्य और सहन-शौलता हूँ”।<sup>१</sup> ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप दिखलाकर भगवान् ने अर्जुन को अपनी विभूतियों और संसार का अपने ऊपर अवलम्बित होने का प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया। इस प्रकार गीता के विराट् स्वरूप दर्शन में सांख्यों के प्रकृतिवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद और भागवतों के ईश्वरवाद तीनों का समन्वय है।

### (घ) विष्णुपुराण

विष्णुपुराण में कहा गया है कि विष्णु के अवतारी रूप की इन्द्र एवं देवगण उपासना करते हैं,<sup>२</sup> उनके परम-तत्त्व रूप को कोई नहीं जानता है।<sup>३</sup> इस प्रकार विष्णु के पर रूप से व्यक्त सभी अवतार पूज्य माने गये हैं। परब्रह्म विष्णु के स्वरूपगत भेद दृष्टि से पुरुष एवं प्रकृति<sup>४</sup> ये दो अभिव्यक्त रूप माने गये हैं। इस प्रकार सभी रूपों को धारणकर्ता ब्रह्म व्यक्त और अव्यक्त एवं समष्टि और व्यष्टि रूप है। यह सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी, सर्वशक्तिमान एवं समस्त ऐश्वर्य से युक्त है। परब्रह्म अकारण शरीर ग्रहण नहीं करते, अपितु धर्म की रक्षा के लिए शरीर ग्रहण करते हैं।<sup>५</sup> विष्णु के पुरुष एवं प्रकृति रूपों को उनकी क्रीड़ा या लीला कहते हैं।<sup>६</sup>

उपरोक्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि एक ओर तो परब्रह्म विष्णु धर्मार्थ प्रयोजन के निमित्त सत्वांश से प्रकट होते हैं।<sup>७</sup> यह इनका परम्परा रूप विदित होता है। दूसरा इनका एक पुरुष-प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त रूप है जिसके द्वारा निष्प्रयोजन लीला के निमित्त क्रीड़ा करते हैं। भागवत् में विष्णु के लीलावतार का ही सर्वाधिक विवरण मिलता है।

१. गीता १०/२०-२१, ३४, ३८

२. विष्णुपुराण ५/७/६७

३. वही, १/४/१७

४. वही, १/२/२३

५. वही, ५/१/५०

६. वही, १/२/१८

७. वही, ५/१/२२

अवतारवाद की अवधारणा के अन्तर्गत सर्वप्रथम विष्णुपुराण में विष्णु-लक्ष्मी के युगल अवतारों की चर्चा हुई है<sup>१</sup>, देव, तिर्यक् और मनुष्य में पुरुष रूप भगवान् हरि और स्त्री रूप लक्ष्मी हैं<sup>२</sup> जब-जब विष्णु ने अवतार धारण किया है लक्ष्मी भी उनके साथ अवतरित हुई हैं।<sup>३</sup> हरि-पद्मा, परशुराम-पृथ्वी, राम-सीता और कृष्ण-हृक्मिणी आदि रूपों में भगवान् देव और लक्ष्मी देवी रूप में अवतरित हुए हैं।<sup>४</sup>

विष्णुपुराण में अनेक अंशावतारों के अतिरिक्त हरिवंश की परम्परा में कृष्ण एवं उनके सहयोगी गोप-गोपियों, देवता-देवियों के अंशावतरण का उल्लेख प्राप्त होता है।<sup>५</sup>

इस प्रकार यहाँ अवतार का मुख्य प्रयोजन भूभार हरण है।

### ७. अवतार की अवधारणा का विकास

यद्यपि वर्तमान में हम अवतार से तात्पर्य विष्णु के अवतार से ही लेते हैं किन्तु प्राचीन वैदिक साहित्य में सर्वप्रथम हमें इन्द्र तथा प्रजापति के अवतरित होने की सूचना प्राप्त होती है। कालान्तर में जब विष्णु महत्वपूर्ण देवता बन गये तो अवतरण की यह कल्पना उनके साथ जोड़ दी गई। वैदिक साहित्य में विष्णु इन्द्र के समकक्ष ही एक देवता रहे हैं, उन्हें इन्द्र का सखा कहा गया है और विभिन्न ऋचाओं में उनकी स्तुति भी की गई है, किन्तु धीरे-धीरे वैदिक इन्द्र का स्थान देवमंडल में क्षीण होता गया और उनके स्थान पर विष्णु प्रमुख बनते गये और परिणाम-स्वरूप विष्णु के अवतरण को ही मुख्य माना गया। यद्यपि आगे चलकर विष्णु के साथ-साथ अन्य देवताओं के अवतरण की कल्पना भी आई, किन्तु उन्हें विष्णु के अधीन ही माना गया। विष्णु के अवतार का प्रारम्भिक परिचय हमें महाभारत और पुराण साहित्य में प्राप्त होता है। सर्वप्रथम महाभारत में पहले विष्णु के छः अवतारों की चर्चा हुई है—वराह,

१. विष्णुपुराण १/८/१७-३३
२. वही, १/८/३४-३५
३. वही, १/९/१४२
४. वही, १/९/१४३-१४४
५. वही, ५/७/३८, ४०

नरसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण<sup>१</sup>। पुनः महाभारत के अगले अध्याय में छः अवतारों के साथ चार अवतार<sup>२</sup>—हंस, कूर्म, मत्स्य और कल्कि को मिलाकर दस की संख्या पूरी की गई है। यद्यपि अवतरण का सम्बन्ध विष्णु से जोड़ा गया है, किन्तु आश्चर्य यह है कि पौराणिक साहित्य विष्णुपुराण में विष्णु के दशावतारों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है जबकि अन्य पुराणों में विष्णु के अवतारों का उल्लेख है, किन्तु अग्नि, वराह आदि परवर्ती पुराणों में मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि यह क्रम मिलता है। विभिन्न पुराणों में विष्णु के दस अवतारों की सूचियाँ कुछ अन्तर के साथ मिलती हैं; जिन्हें अग्रलिखित सारणी में दर्शाया गया है।

तालिका सारिणी परिशिष्ट में देखें।

अब हम दस-अवतारों की विशद व्याख्या करेंगे—

### (१) मत्स्य अवतार :

मत्स्य अवतार को प्रायः विष्णु का प्रथम अवतार माना गया है, परन्तु शतपथब्राह्मण में इनको प्रजापति का अवतार कहा गया है।<sup>३</sup> इनके अवतार के सम्बन्ध में एक कथानक इस प्रकार है कि मनु महाराज एक दिन प्रातःकाल आचमन कर रहे थे तो उनके हाथ में एक मछली आ गई और उसने कहा, “महाराज, मेरी रक्षा करें, महाजल प्लावन के समय मैं आपकी रक्षा करूँगी।” मनु ने उसे एक पात्र में रख दिया, ज्यों-ज्यों वह बढ़ती गई उसे क्रमशः बड़े पात्रों में रखते गये, अन्त में महा-समुद्र में डाल दिया। प्रलय होने के पूर्व मनु ने सभी सृष्टि बीजों को एकत्र किया और अपनी नाव को उसी मत्स्य के सींग में बाँध दिया जिससे प्रलयकाल में वे सुरक्षित रह सकें और प्रलय के अन्त में पुनः सृष्टि का विकास प्रारम्भ किया।

महाभारत के वनपर्व में पुनः मत्स्यावतार की एक अन्य कथा वर्णित है।<sup>४</sup> वहाँ मत्स्य स्वयं को प्रजापति बताते हुए मनु को मनुष्य, असुर, देवता तथा सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि का आदेश देता है। इस प्रकार हम

१. महाभारत-शान्तिपर्व (३३९/७७-९८)

२. वही, (३४०/३-४)

३. शतपथब्राह्मण १/८/१

४. महाभारत-वनपर्व, पृ० ३०४-३०५

देखते हैं कि महाभारत के काल तक मत्स्यावतार का सम्बन्ध विष्णु की अपेक्षा प्रजापति से अधिक प्रतीत होता है।

विष्णुपुराण<sup>१</sup> में मत्स्य, कूर्म एवं वराह का शरीर धारण करना प्रजापति के द्वारा बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि पुरातन साहित्य में मत्स्यावतार का सम्बन्ध प्रजापति से रहा है। आगे चलकर भागवत में चाक्षुष मन्वन्तर के अन्त में जल प्लावन के समय श्रीहरि द्वारा अवतार के रूप में मत्स्य का रूप ग्रहण कर वैवस्वत मनु के रक्षा की कथा मिलती है।<sup>२</sup> पुनः भागवत की दूसरी सूची में मत्स्यावतार से लेकर चाक्षुषमन्वन्तर के अन्त में सत्यव्रत मनु की रक्षा के साथ-साथ वेदों की रक्षा का भी प्रसंग मिलता है। अन्तर केवल इतना है, प्रथम सूची के वैवस्वत मनु के स्थान पर द्वितीय सूची में सत्यव्रत का नाम है।<sup>३</sup> भागवत की तीसरी सूची में भगवान् द्वारा प्रलय के समय मत्स्यावतार लेकर भावी मनु सत्यव्रत, पृथ्वी, औषधि एवं धान्यादि की रक्षा करने का उल्लेख मिलता है।<sup>४</sup> भागवत के आठवें स्कन्ध के २४वें अध्याय में मत्स्यावतार का विस्तार से उल्लेख मिलता है उसमें भी सत्यव्रत मनु एवं प्रलय कथा का वर्णन है।

मत्स्यपुराण में भी भगवान् हरि द्वारा मत्स्यावतार लेने का उल्लेख मिलता है, वहाँ मत्स्य रूप भगवान् मनु से प्रलय के अनन्तर सृष्टि रचना एवं वेदों के प्रवर्तन की बात कहते हैं।<sup>५</sup>

अग्निपुराण में भी मनु की रक्षा एवं ह्यग्रीव-वध की कथा मिलती है।<sup>६</sup> स्कन्धपुराण में विष्णु द्वारा मत्स्यरूप लेकर वेदों के उद्धार के लिए शंखासुर का वध करने का वर्णन मिलता है<sup>७</sup> किन्तु पद्मपुराण में विष्णु के मत्स्यावतार का प्रयोजन ह्यग्रीव के स्थान पर मधुकैटभ का वध करना बताया गया है।

१. विष्णुपुराण १/४/७-८
२. भागवत १/३/१५
३. वही, २/७/१२
४. वही, ११/४/१८
५. मत्स्यपुराण २/३-१६
६. अग्निपुराण-अध्याय २
७. स्कन्धपुराण-उत्तरखण्ड ९२/९

१९४ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

इस प्रकार हम देखते हैं कि मत्स्यावतार का प्रयोजन मुख्यतः मनु की रक्षा से सम्बन्धित है।

## (२) कूर्म अवतार

कूर्मावतार में विष्णु का प्रयोजन अन्य अवतारों की तरह राक्षस वध एवं पृथ्वी का उद्धार न होकर प्रजा की सृष्टि करना रहा है। शतपथ-ब्राह्मण<sup>१</sup> एवं जैमिनिब्राह्मण<sup>२</sup> में प्रजापति के द्वारा कूर्म रूप धारण कर प्रजा की सृष्टि करने का उल्लेख मिलता है।

जे० गोद ने अपनी पुस्तक 'आस्पैक्ट्स आफ वैष्णविज्म' में कूर्म को जल देवता वरुण से सम्बन्धित किया है। उन्होंने विष्णु एवं वरुण दोनों को पृथ्वी का पति माना है। इस कारण से कूर्म का विष्णु से सम्बन्ध होने की सम्भावना प्रतीत होती है।<sup>३</sup>

इस प्रकार वैदिक ग्रन्थों में मत्स्य, वराह एवं कूर्म का सम्बन्ध प्रजापति से रहा है। विष्णुपुराण में भी मत्स्य, वराह एवं कूर्म को प्रजापति का रूप कहा गया है।<sup>४</sup>

“ऐतरेयब्राह्मण”<sup>५</sup> में देवों एवं असुरों के द्वारा समुद्र-मन्थन का प्रकरण मिलता है, परन्तु महाभारत<sup>६</sup> में देवताओं के द्वारा समुद्र मन्थन के लिए कूर्म से अपनी पीठ पर मन्दराचल को धारण करने के आग्रह का उल्लेख है। लेकिन यहाँ कूर्म का सम्बन्ध प्रजापति या विष्णु से नहीं बताया गया है।

वाल्मीकि रामायण में भगवान् के कूर्म रूप धारण एवं समुद्र-मन्थन को कथा का प्रसंग मिलता है।<sup>७</sup> पुनः विष्णुपुराण<sup>८</sup> में भगवान् के कर्मरूप धारण एवं क्षीरसागर में मन्दराचल को धारण करने की कथा मिलती

१. शतपथब्राह्मण ७/९/१/५

२. जैमिनिब्राह्मण ३/२७२

३. आस्पैक्ट्स आफ वैष्णविज्म, पृ० १२७ : दृष्टव्य-मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४१९

४. विष्णुपुराण १/४१७-८

५. ऐतरेयब्राह्मण ५/२/१०

६. महाभारत-आदिपर्व १/१८/११-१२

७. वाल्मीकि रामायण १.४५.२९

८. विष्णुपुराण १.९.८८

है। भागवत्<sup>१</sup>, अग्निपुराण<sup>२</sup>, पद्मपुराण<sup>३</sup> में कूर्म रूप में विष्णु के अवतार का प्रयोजन समुद्र मन्थन के समय मन्दराचल को धारण करने का आधार रहा है।

इस प्रकार कूर्मावतार का मुख्य प्रयोजन देव और असुरों के मध्य समुद्र-मन्थन के समय मन्दराचल पर्वत को आधार प्रदान करना था ताकि वह पर्वत मथानी के रूप में कार्य कर सके।

### (३) वराह : अवतार

अवतार की अवधारणा का विकास जन्तु, पशु, पशु-मानव एवं मानव इन चार श्रेणियों में पाया जाता है। इसमें वराह को पशु-अवतार कहा गया है। ऋग्वेद में विभिन्न स्थानों पर वराह का उल्लेख मिलता है। उसमें इन्द्र द्वारा वराह के वध का वर्णन है।<sup>४</sup> इन्द्र “एमुष” नामक वराह को मारते हैं।<sup>५</sup> आगे चलकर ऋग्वेद में इन्द्र एवं वराह का सम्बन्ध बताया गया है।<sup>६</sup> सम्भवतः ऋग्वेद का वराह और कालान्तर में विकसित वराहावतार दो भिन्न-भिन्न कथाएँ हैं; क्योंकि अवतार का वध किसी भी दशा में सम्भव नहीं। यद्यपि पाश्चात्य दार्शनिक मैक्डोनल ने अपनी पुस्तक एपिक माइथोलोजी में “ऋग्वेद” के एमुष नाम के वराह से वराहावतार के बीज का अनुमान किया है।<sup>७</sup> परन्तु कीथ ने वराह-कथा को वृत्रवध की कथा का रूपान्तर कहा है।<sup>८</sup>

अथर्ववेद में कहा गया है कि वह पृथ्वी, जो बड़े-बड़े पदार्थों, शत्रुओं एवं पाप-पुण्य के करने वालों के शव को सहन करती है, वराह को प्राप्त

१. भागवत १.३.१६; २.७.१३; ११.४.१८

२. अग्निपुराण अध्याय ३ : द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४२०

३. पद्मपुराण, उत्तर खण्ड अध्याय २६० : द्रष्टव्य—वही, पृ० ४२०

४. ऋग्वेद १.६१.७

५. वही, ८.७७.१०

६. वही, १०.८६.४

७. एपिक माइथोलोजी, पृ० ४१

८. रीलिजन एण्ड फिलोसोफी आफ ऋग्वेद एण्ड उपनिषद्, भूमिका, पृ० ३



हुई।<sup>१</sup> विकसित वराहावतार की कथा का बीज इसमें ढूँढा जा सकता है। वराह का अवतार लेने का मुख्य उद्देश्य ही पृथ्वी को मुक्त करना था।

तैत्तिरीय संहिता में वराह का सम्बन्ध प्रजापति से बताया गया है<sup>२</sup> उसमें कहा गया कि विश्व में सर्वत्र जल ही जल था, एक कमल पत्र को जल में देख प्रजापति ब्रह्मा ने विचार किया कि अवश्य ही इसका कोई आधार होगा, उसी समय ब्रह्मा की नासिका से वराहरूप जीव निकला और जल में प्रविष्ट हो गया और उस वराह ने जल के नीचे दबी हुई पृथ्वी को तोड़कर, एक खंड को ऊपर लाकर फेंका इसी से इसका नाम पृथ्वी पड़ गया।<sup>३</sup> एक कृष्णवराह ने अपनी शत-बाहुओं द्वारा पृथ्वी को ऊपर उठाया, ऐसा आख्यान तैत्तिरीय आरण्यक में मिलता है।<sup>४</sup> “शतपथ ब्राह्मण” में “एमुष” नामक वराह द्वारा प्रजापति की पृथ्वी को ऊपर उठाने का वर्णन किया गया है, इससे वराह का प्रजापति से सम्बन्ध द्योतित होता है।<sup>५</sup> महाभारत के वनपर्व में विष्णु द्वारा वराह रूप धारण करने की कथा मिलती है। पृथ्वी जब प्राणियों के भार से दबने के कारण सैकड़ों योजन नीचे चली गई तो भगवान् नारायण से वह अपने उद्धार के लिए विनती करती है तब भगवान् विष्णु ने एक दाँत वाले वराह का रूप धारण कर पृथ्वी को सौ योजन ऊपर उठा दिया। महाभारत में वराहावतार धारण करने का प्रयोजन पृथ्वी को जल से ऊपर लाने का है। परन्तु नारायणीयोपाख्यान में वराहावतार का उद्देश्य पृथ्वी को ऊपर उठाने तथा हिरण्याक्ष वध की भी चर्चा मिलती है।<sup>६</sup>

१. मत्वं विभ्रती गुरुभूद भद्रपापस्य निघनं तितिक्षुः ।  
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय ॥

—अथर्ववेद १२.१.४८

२. तैत्तिरीय संहिता ७.१.५.१

३. बही, १.१.३.५

४. उद्धृताऽसि वराहेण कृष्णेन शत बाहुना ।

भूमिर्धनुर्घरणी लोक धारिणी, इति ॥—बही १०.१.८

५. शतपथ ब्राह्मण १४.१.२.११ : द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद,  
पृ० ४१३

६. महाभारत, वनपर्व २३९.७६-७८

वाल्मीकि रामायण में वराह का सम्बन्ध विष्णु या राम से बताया गया है।<sup>१</sup> विष्णुपुराणकार ने वराह को प्रजापति का अवतार कहा है।<sup>२</sup> भागवत में वराहावतार का प्रयोजन जल में डूबी हुई पृथ्वी को ऊपर लाना बताया गया है,<sup>३</sup> परन्तु अन्यत्र उसमें लीलावतारों के प्रसंग में वराहावतार का हिरण्याक्ष वध से सम्बन्ध बताया गया है।<sup>४</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि वराहावतार का मुख्य प्रयोजन जल में डूबी हुई पृथ्वी को ऊपर लाना तथा उसका उद्धार करना है।

#### (४) नृसिंह-अवतार

नृसिंह नाम से ही पशु एवं मानव के सम्मिलित रूप का आभास मिलता है। भगवान् विष्णु ने अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा एवं उसके दुष्ट पिता हिरण्यकक्ष का वध करने के लिए पशु-मानव के संयुक्त नृसिंह रूप में अवतार धारण किया था। जैसे भारोपीय देशों में पशु एवं मानव के संयुक्त रूप में देवताओं का उल्लेख अप्राप्य नहीं है।<sup>५</sup> प्राचीन साहित्य में देवताओं को बल एवं शौर्य की तुलना के लिए सिंह, व्याघ्र आदि नाम विशेषण के रूप में प्रयोग किये गये हैं।<sup>६</sup>

कीथ ने अपनी पुस्तक में यजुर्वेद तथा शतपथ ब्राह्मण में प्रयुक्त “पुरुष व्याघ्राय” को नृसिंहावतार का बीज माना है।<sup>७</sup> महाभारत में विष्णु के लिए “पुरुष व्याघ्र” का विशेषण प्रयुक्त हुआ है।<sup>८</sup> ऋग्वेद एवं यजुर्वेद

१. वाल्मीकि रामायण ६.१२०.२२ : द्रष्टव्य-मध्यकालीन साहित्य में अवतार-वाद, पृ० ४१५
२. विष्णुपुराण १.४.७
३. भागवत १.३.७; ११.४.१८
४. बही २.७.१
५. प्राइमर आफ हिन्दूइज्म में फर्कुहर ने ईजिप्ट, असीरिया आदि देशों में मैन-लोएन, मैन-वर्ड और मैन फिश आदि रूपों में उपलब्ध देवताओं का उल्लेख किया है। द्रष्टव्य बही, पृ० ४२२
६. शुक्ल यजुर्वेद १९/९१-९२ में इन्द्र की सिंह आदि से तुलना की गई है।
७. रेलिजन एण्ड फिलोसोफी आफ दी अथर्ववेद एण्ड उपनिषद्, पृ० १९३ तथा यजुर्वेद २९/८ : शतपथ ब्राह्मण १३/२/४/२ : द्रष्टव्य-मध्यकालीन साहित्य अवतारवाद पृ० ४२३
८. महाभारत वनपर्व १८८/१८

१९८ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

के एक कथानक में नमुची इन्द्र से प्रार्थना करता है कि वे उसे ऐसा वरदान दें जिससे वह न वज्र से मरे, न सूखे स्थान, न गीले स्थान में, न रात, न दिन में मरे।<sup>१</sup> सम्भवतः ऋग्वेद का उपर्युक्त कथानक ही नृसिंहावतार की पृष्ठभूमि बना। भागवत में इन्द्र द्वारा नमुची के वध की कथा है। जिसमें इन्द्र सूखी व गीली वस्तु से न मारकर फेन द्वारा मारते हैं जो न सूखा होता है, न गीला होता है। हिरण्यकश्यप के वध की कथा इससे प्रभावित होती है।

महाभारत में भी नृसिंह द्वारा हिरण्यकश्यप के वध की कथा मिलती है।<sup>२</sup> विष्णुपुराण में भी प्रह्लाद के निमित्त विष्णु द्वारा हिरण्यकश्यप वध की कथा है।<sup>३</sup> भागवत में विभिन्न स्थलों पर भी नृसिंह-हिरण्यकश्यप कथा सूक्ष्म अन्तर से परिलक्षित है।<sup>४</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि विष्णु के नृसिंहावतार की कथा का मुख्य प्रयोजन अपने भक्त का उद्धार एवं दुष्ट का वध रहा है।

(५) वामन अवतार :

वामन एवं विष्णु का सम्बन्ध उनके नाम की अपेक्षा उनके “तीन पगों” के पराक्रम से अधिक सम्बद्ध प्रतीत होता है। वामन का “त्रिविक्रम” और विष्णु का “उरुक्रम” उनके तीन पगों की ओर संकेत करते हैं। ऋग्वेद में विष्णु द्वारा तीन पगों से सम्पूर्ण पृथ्वी को नापने का उल्लेख है। उनके तीन पगों के बीच सम्पूर्ण विश्व निवास करता है वे तीनों लोकों को धारण करने वाले हैं।<sup>५</sup>

यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में विष्णु के तीन पगों के सम्बन्ध में ऋचायें मिलती हैं।<sup>६</sup> इन ऋचाओं में प्रयुक्त तीन पदाक्रम का भाव निरुक्त-कार ने पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग से, दुर्गाचार्य ने से अग्नि, वायु और सूर्य और अरुणाभ ने सूर्य के उदय-मध्य और अस्त से लिया है। किन्तु भाष्य-

१. ऋग्वेद ८/१४/१३ : यजुर्वेद १९/७१; भागवत ८/११/३२-४०

२. महाभारत, शान्तिपर्व ३३९/७८

३. विष्णुपुराण १/१६-२०

४. भागवत १/३१८; २/७/१; ११/४/१९

५. ऋग्वेद १/२२/१६-१९, १/१५४/१, ३, ४

६. यजुर्वेद ३/१, ३४/४३; अथर्ववेद ७/२६/४

कार सायण ने इन्हें विष्णु से वामनावतार के तीन पग माने हैं।<sup>१</sup> तैत्तिरीय संहिता में इन्द्र द्वारा लोमड़ी का रूप धारण कर तीन पगों में सारी पृथ्वी को नापकर देवताओं को दे देने का उल्लेख है।<sup>२</sup> इसी में एक अन्य स्थल पर तीन पग से विष्णु द्वारा वामन रूप धारण कर तीनों लोकों को जीत लेने का उल्लेख है।<sup>३</sup> शतपथ ब्राह्मण में देवासुर संग्राम में असुर विष्णु के शरीर के बराबर भाग देने को तैयार हुए तो विष्णु ने सारी पृथ्वी नाप ली, ऐसा कथानक प्राप्त होता है।<sup>४</sup> विष्णुपुराण एवं भागवत में वामन द्वारा बलि से तीन पग भूमि माँगने का कथानक मिलता है।<sup>५</sup>

इस प्रकार पौराणिक वामन की अपेक्षा वैदिक वामन का सम्बन्ध विष्णु या सूर्य से अधिक निकट प्रतीत होता है।<sup>६</sup> महाभारत के “नारायणीयोपाख्यान” में विष्णु का सम्बन्ध अदिति और आदित्यों से बताया गया है तो दूसरी ओर देवताओं का कार्य करने के लिए बलि को पाताल भेजने का उल्लेख मिलता है।<sup>७</sup>

इस प्रकार वामनावतार का मुख्य प्रयोजन देवताओं की सहायता करना रहा है।

## ६. परशुराम अवतार

दशावतारों के विकास क्रम में पाँच पौराणिक अवतारों के अतिरिक्त परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि को ऐतिहासिक महापुरुष कहा गया है। इनका विकास क्रम पौराणिक अवतारों की अपेक्षा विशिष्ट स्थान रखता है। ऐतिहासिक महापुरुषों के विकास में उनके व्यक्तिगत चरित्र एवं गुण का विशेष योग रहता है। अवतारवाद के विकास क्रम में साधु एवं धर्म की रक्षा तथा दुष्टों का नाश करना आवश्यक माना गया है। ऋग्वेद में जामदग्नेय राम का उल्लेख मिलता है। पुनः इसमें जो इक्ष्वाकु

१. मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४२७

२. तैत्तिरीय संहिता ६/२/४, १/५/१

३. वही, ११/१/३/१; द्रष्टव्य—म० सा० अवतारवाद, पृ० ४२८

४. शतपथ ब्राह्मण १/२/५/५;

५. भा० ११/४/२०; २/७/१७; १/३/१९

६. विष्णुपुराण ३/१/४२-४३

७. महाभारत शान्तिपर्व ३३९/८१-८३

२०० : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

या पृथुवंशी राम का उल्लेख मिलता है सम्भवतः वह जामदग्नेय राम ही रहे होंगे।<sup>१</sup> श्री के० एम० मुंशी ने “अथर्ववेद” के एक उद्धरण के आधार पर परशुराम के अवतार का एक प्रयोजन भृगु और हैहयवंशी लोगों के साथ संघर्ष तथा गोरक्षा बताया है।<sup>२</sup>

### अवतारत्व का विकास

परशुराम को भी राम-कृष्ण की तरह विष्णु का अंशावतार कहा गया है। कालान्तर में राम-कृष्ण तो पूर्णावतार कहलाये, परन्तु वही तेज एवं वीर्य जब राम के पराक्रम के द्वारा क्षीण हो जाता है तो वे अवतारत्व से च्युत हो जाते हैं।<sup>३</sup> श्री शुक्थंकर एवं के० एम० मुंशी का कहना है कि गीता में जिस राम को विभूतियों में ग्रहण किया गया है वे “भार्गव राम” हैं। इससे उनके विष्णु के अवतार होने में सहायता मिलती है।<sup>४</sup> वाल्मीकि रामायण में वे राम की परीक्षा लेते देखे गये हैं।<sup>५</sup> महाभारत के एक कथानक के अनुसार इन्द्र कार्तवीर्य के पराक्रम से घबराकर विष्णु से उसके वध की प्रार्थना करते हैं। पुनः हैहयराज के इन्द्र पर आक्रमण के कारण इन्द्र विष्णु से मन्त्रणा करते हैं तथा अवतार के निमित्त बदरिकाश्रम की यात्रा करते हैं।<sup>६</sup> महाभारत के ‘नारायणीयो पाख्यान’ में विष्णु से स्वयं कहलवाया गया है कि मैं त्रेता में भृगुकुल में परशुराम रूप में उत्पन्न होकर क्षत्रियों का संहार करूँगा।<sup>७</sup> विष्णुपुराण में परशुराम को कार्तवीर्यार्जुन का वध करने वाला नारायण का अंशावतार कहा गया है।<sup>८</sup> आगे चलकर भागवत में विष्णु के

१. ऋग्वेद १०/११०; १०/९३/१४

२. न्यु इण्डियन एन्टीक्वेरी जी० ६, पृ० २२० : और दी अर्ली आर्यन्स इन गुजरात, पृ० ५९ : द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४३३

३. वाल्मीकि रामायण १/७६/११-१२

४. मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४३३

५. वाल्मीकि रामायण १/७६/१२

६. महाभारत, वनपर्व ११५/१५-१८

७. वही, शान्तिपर्व ३३९/१७

८. विष्णुपुराण ४/७/३६

अंशावतार परशुराम को हैहयवंश एवं द्रुष्ट क्षत्रियों का नाश करने वाला कहा गया है।<sup>१</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि परशुरामावतार का मुख्य प्रयोजन भूतल पर द्रुष्ट क्षत्रियों का नाश करना कहा गया है।

### ७. राम अवतार

वैदिक साहित्य ऋग्वेद<sup>२</sup> में यजमान राम, ऐतरेय ब्राह्मण<sup>३</sup> में भार्गवेय राम, शतपथ ब्राह्मण<sup>४</sup> में तपस्वनी राम, जैमिनी उ० ब्राह्मण<sup>५</sup> में क्रनुजातेय राम, अथर्वसंहिता<sup>६</sup> और तैत्तिरीय ब्राह्मण<sup>७</sup> में राम-कृष्ण का एक साथ उल्लेख हुआ है। हम देखते हैं कि वैदिक साहित्य में राम का बहुशः उल्लेख हुआ परन्तु कालान्तर में विकसित रामावतार की कथा का वैदिक राम से कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह प्रश्न विचारणीय है। श्री जौकोबी ने 'वाल्मीकि रामायण' की समीक्षा कर राम का इन्द्र से सम्बन्ध स्थापित किया है।<sup>८</sup> राम की कथा वाल्मीकि रामायण और महाभारत दोनों में पायी जाती है। इन दोनों में कौन सा प्राचीनतम आख्यान है उसके बारे में विद्वानों में मतभेद है। 'महाभारत' के नारायणीयोपाख्यान में ६ एवं १० अवतारों की सूची में राम का नाम पाया जाता है।<sup>९</sup> वाल्मीकि रामायण में राम को विष्णु के सदृश वीर्यवान कहा गया है।<sup>१०</sup> वाल्मीकि रामायण के प्रथम खण्ड में राम को विष्णु का अंशा-

- 
१. भागवत ९/१५/१५; १/३/२०; २/७/२२; ११/४/२१
  २. ऋग्वेद १०/६३/१४
  ३. ऐतरेय ब्राह्मण ७/२७/३४
  ४. शतपथ ब्राह्मण ४/६१/७
  ५. जैमिनी उ० ब्राह्मण
  ६. अथर्ववेद संहिता १/१३/१
  ७. तैत्तिरीय ब्राह्मण २/४/४/१
  ८. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० १३
  ९. महाभारत, शान्तिपर्व, ३३९/७०-९०, १०३-१०४
  १०. "विष्णुना सदृशोवीर्ये ।"  
—वाल्मीकि रामायण १/१/१८

२०२ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

वतार कहा गया है।<sup>१</sup> पुनः छठें अध्याय में उनके पूर्णवतार का भान होता है।<sup>२</sup> विष्णुपुराण में राम को अंशावतार कहा गया है।<sup>३</sup>

पालि साहित्य में बुद्ध को राम का अवतार माना गया है तथा जैनों ने भी राम को आठवें बलदेव के रूप में माना है।

### अवतार का हेतु

ऋग्वेद में विष्णु को जगत् का रक्षक एवं समस्त धर्मों का धारक कहा गया है।<sup>४</sup> वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण में देव शत्रुओं अर्थात् असुरों का वध विष्णु के अवतार का मुख्य प्रयोजन माना गया है।<sup>५</sup> गीता में भी अवतारवाद का मुख्य प्रयोजन धर्म रक्षा ही प्रतीत होता है अर्थात् जब धर्म का पतन तथा असुरों की वृद्धि होती है तो अवतार की आवश्यकता होती है। “गीता” कहती है कि जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब साधुओं का दुःख दूर करने एवं दुष्टों का विनाश करने तथा धर्म की स्थापना के लिए भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं।<sup>६</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि राम के अवतार का मुख्य प्रयोजन दुष्ट व्यक्तियों या असुरों का वध करना रहा है।

### ८. कृष्ण अवतार

वैदिक साहित्य से लेकर भागवत तक विभिन्न ग्रन्थों में श्रीकृष्ण के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। ऋग्वेद में कृष्ण आंगिरस ऋषि का

१. “ततः पद्मपलासाक्षः कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ।

पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् ॥”

—वाल्मीकि रामायण १/१५/३१

२. वही ६/१२०

३. “तस्यापि भगवानप्यनाभो जगतः स्थित्यर्थमात्मानोने ।

रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नरूपेण चतुर्द्धा पुत्रत्वमायासीत् ॥”

—विष्णुपुराण ४/४/८७

४. ऋग्वेद १/२२/१८

५. “वधाय देवशत्रूणां नृणां लोके मनः कुश ।

एवं स्तुतस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुंगवः ॥ —वाल्मीकि रामायण १/१५/७६

मानुषेण मृतिस्तस्य मया कल्याण कल्पिता ।

अतस्त्वं मानुषो भूत्वा जहि देवरिपुं प्रभी ॥—अध्यात्म रामायण १/२/२४

६. गीता ४/७-८

नाम सूक्त के कर्ता के रूप में प्रयुक्त हुआ है।<sup>१</sup> कृष्ण आङ्गिरस का नाम “कौषीतकि ब्राह्मण” में भी प्राप्य है।<sup>२</sup> “छान्दोग्योपनिषद्” में देवकी के पुत्र एवं आंगिरस के शिष्य के रूप में कृष्ण का उल्लेख मिलता है।<sup>३</sup> छान्दोग्योपनिषद् की यह कथा कालान्तर में विकसित कृष्णावतार की कथा का मूल बीज प्रतीत होती है। क्योंकि अवतारी कृष्ण देवकी के पुत्र के रूप में ही विख्यात हुये हैं। “पाणिनिके अष्टाध्यायी” में भी कृष्ण का नाम आया है।<sup>४</sup> ऋग्वेद में इन्द्र और कृष्ण नाम के असुर के संघर्ष का उल्लेख मिलता है।<sup>५</sup> डा० राधाकृष्णन् ने कृष्ण को उस दल का दैवीकृत वीर पुरुष माना है।<sup>६</sup>

विष्णुपुराण में इन्द्र-कृष्ण युद्ध और भागवत में कृष्ण द्वारा इन्द्र की पूजा का विरोध करने का उल्लेख है।<sup>७</sup> इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद के कृष्ण की पुराणों के कृष्ण से सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की गई है। महाभारत में कृष्ण का अर्जुन से सम्बन्ध बताया गया है। ऋग्वेद में कृष्ण और अर्जुन तथा अथर्ववेद में राम और कृष्ण का उल्लेख पाया जाता है।<sup>८</sup>

इस प्रकार वैदिक साहित्य के अनुशीलन से हमें कृष्ण नाम के व्यक्ति का अस्तित्व निःसंदिग्ध स्पष्ट होता है। उपर्युक्त तथ्यों के अध्ययन से तीन प्रकार के कृष्ण का उल्लेख प्राप्त होता है : प्रथम आंगिरस कृष्ण, द्वितीय आर्येत्तर संस्कृति से सम्बद्ध कृष्णासुर, तृतीय महाभारत के कृष्ण। “छान्दोग्योपनिषद्” के कृष्ण का सम्बन्ध गीता के कृष्ण से है क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् के बहुत से उपदेश गीता के श्लोकों से साम्य रखते हैं।

१. ऋग्वेद ८/८५-८७

२. कौषीतकि ब्राह्मण ३०/९

३. छान्दोग्योपनिषद् ३/१७/६

४. पाणिनि अष्टाध्यायी ५४/१/९९

५. ऋग्वेद १/१३०/८; २/२०/७; ८/२५/१३

६. इण्डियन फिलोसोफी : राधाकृष्णन् भाग १, पृ० ८७

७. विष्णुपुराण ५/३०/९५ : भागवत १०/२५

८. “अहश्च कृष्णमहर्जुनं च विवर्तते रजसी वेद्याभिः।” ऋग्वेद ६/९/१  
“नवतं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्वि च। अथर्ववेद छं० १/२३/१



उपरोक्त तीनों कृष्णों के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में पौराणिकों ने वैदिक कृष्ण का कृष्णावतार से एकीकरण का प्रयत्न किया है।

महाभारत के आदिपर्व में सामूहिक अवतारों के प्रकरण में श्रीकृष्ण को नारायण का अंशावतार कहा गया है।<sup>१</sup> परमेश्वर के काले और सफेद दो केश कृष्ण और बलराम के रूप में अवतीर्ण हुए और वे परमेश्वर के अंश कहलाते हैं।<sup>२</sup> भागवत में पृथ्वी का भार उतारने के लिए भगवान् के अपने श्वेत एवं काले बालों से बलराम और कृष्ण के रूप में अंशावतार लेने का प्रकरण मिलता है।<sup>३</sup> भागवत के दशम स्कन्ध में भी बलराम और कृष्ण के रूप में अंशावतार का वर्णन मिलता है।<sup>४</sup> यहाँ पर भी कृष्णावतार का मुख्य प्रयोजन असुर-संहार ही रहा है।

## ९. बुद्ध-अवतार

बुद्ध ऐतिहासिक महापुरुष हैं जिनकी ऐतिहासिकता सिद्ध की जा चुकी है। इतिहासकार इनका जन्म ई० पू० छठीं शताब्दी में मानते हैं। जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनों धर्मों का एक दूसरे पर अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है, जिसके कारण वैष्णव अवतारवाद का विकास कुछ लोग छठीं शताब्दी के पूर्व के भागवत धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म से मानते हैं।<sup>५</sup> श्री गोकुल डे बौद्धों में भक्ति के प्रादुर्भाव को भागवत मानते हैं। वैष्णव धर्म में बुद्ध के गृहीत होने के पूर्व ही बुद्ध के अवतार, अवतारी और उपास्य तीनों रूपों की पूजा का उल्लेख मिलता है।<sup>६</sup>

भगवान् बुद्ध की पूजा उनके जीवनकाल में भी प्रचलित हो गई थी।<sup>७</sup> बौद्ध धर्म में भागवत धर्म के प्रसिद्ध षड्गुण के सदृश छः पारमिताओं—दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान एवं प्रज्ञा की साधना द्वारा ही बुद्ध ने

१. महाभारत : आदिपर्व ६७/१५१

२. "परं ज्योतिरचिन्त्यं यत्तदशः परमेश्वरः।—विष्णुपुराण ५/१/६०, ६४, ७६

३. भागवत २/७/२५ :

४. भागवत १०/१/२

५. दी बोधिसत्व डाक्टरीन, पृ० ३१-३२ : उद्धृत—म०सा० अवतारवाद, पृ० ४३७

६. मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४३७

७. दो वैदिक एज, भाग १, पृ० ४५०

बुद्धत्व प्राप्त किया था।<sup>१</sup> इसी साधना के बल पर बुद्ध सिद्ध हुए और उन्हीं शक्तियों के कारण लोगों ने बुद्ध को लोकोत्तर और सिद्ध माना एवं परिनिर्वाण के बाद अनेक लोकोत्तर एवं चमत्कारपूर्ण बातें उनके जीवन से जुड़ गईं।<sup>२</sup> सम्भवतः आगे चलकर बोधिसत्व की अवधारणा के कारण बुद्ध बोधिसत्व माने जाने लगे, जब बुद्ध को विष्णु का अवतार स्वीकार कर लिया गया, तब विष्णु के अनेक गुणों का बुद्ध में समावेश कर दिया गया। विष्णु के निवास “नित्यलोक” के समान बुद्ध का निवास “तुषितलोक” माना गया जहाँ सहस्रों देव-दासियाँ इनकी सेवा करती हैं। बुद्धों के जन्मों के पूर्व उनकी मातायें प्रतीकात्मक स्वप्न देखती हैं, जिस प्रकार तीर्थंकरों के जन्म के पूर्व इनकी मातायें देखती हैं। जिस प्रकार विष्णु के अवतारों की संख्या में कमशः वृद्धि होती गई, उसी प्रकार बौद्धों में भी बुद्धों एवं बोधिसत्वों की संख्या में वृद्धि होती गई। एक बुद्ध से चौबीस बुद्ध और फिर विष्णु के अनन्त अवतारों के सदृश बुद्धों की संख्या भी अनन्त होती गई।<sup>३</sup>

बुद्धवंस में गौतम बुद्ध के पूर्व चौबीस बुद्धों का वर्णन है और गौतम बुद्ध को २५ वें स्थान पर रखा गया है तथा २६ वें बुद्ध के रूप में मैत्रेय माने गये हैं।<sup>४</sup> “यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत” की भावना के सदृश ही बुद्ध पृथ्वी के क्षत्रियाक्रान्त होने पर क्षत्रिय कुल में एवं ब्राह्मणाक्रान्त होने पर ब्राह्मण कुल में जन्म लेते हैं।

बुद्ध जो पहले अर्हत् मात्र कहलाते थे, वैष्णव अवतारवाद के प्रभाव से स्वयंभू, सर्वशक्तिमान एवं ब्रह्मा, विष्णु, ईश्वर और सूर्य-चन्द्र के रूप कहलाने लगे। कुछ लोग ऋषियों का अवतार, दशबल, राम, इन्द्र तथा वरुण कहते हैं और कुछ लोग बुद्ध को धर्मकाय, निर्माणकाय आदि शाश्वत रूपों में भी देखते हैं।<sup>५</sup> बलदेव उपाध्याय बुद्ध के धर्मकाय की

१. बौद्ध दर्शन, पृ० १२८
२. महायान, पृ० ६०
३. मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४३८
४. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ५८५
५. बुद्धिष्ट बाइबिल (गोडार्ड, पृ० १५८) : द्रष्टव्य-म०सा० अवतारवाद, पृ० ४३९

तुलना वेदान्त के ब्रह्म एवं सम्भोगकाय की ईश्वर से करते हैं।<sup>१</sup> परन्तु भदन्त शान्तिभिक्षु के अनुसार धर्मकाय और निर्माणकाय साधना एवं विकास की अवस्थायें हैं। बुद्ध का निर्माणकाय नारायण के अनन्त अवतारों के सदृश है।<sup>२</sup> ऐतिहासिक बुद्ध को शक्यसिंह का अवतार या निर्माणकाय कहा है, जो धर्मकाय का अवतरित रूप है।<sup>३</sup> दीपंकर, कश्यप, गौतम बुद्ध, मैत्रेय और अन्य मानुषी बुद्ध निर्माणकार्य के रूप हैं।<sup>४</sup> सम्भोगकाय के रूप में बुद्ध बोधिसत्त्वों को उपदेश देते हैं।<sup>५</sup>

बौद्ध जातकों में उपलब्ध राम कथाओं में बुद्ध को राम का पुनरावतार माना गया है।<sup>६</sup> कामिल बुल्के ने अपनी पुस्तक रामकथा में बुद्ध को राम का अवतार माना है।<sup>७</sup> भदन्त शान्तिभिक्षु बुद्ध को विष्णु का निदोष रूप कहते हैं। विष्णु के समान बुद्ध के विराट रूप का उल्लेख “करण्डव्यूह” में मिलता है। इनको सहस्रबाहु कहा गया है। इनके नेत्रों को सूर्य एवं चन्द्र कहा गया है, ब्रह्मा और अन्य देवता इनके कन्धे और नारायण इनके हृदय हैं। दांतों को सरस्वती एवं इनके अनन्त रोमों से अनन्त बुद्धों की संज्ञा दी गई है।<sup>८</sup> इस प्रकार बुद्ध को विष्णु के सदृश माना गया है।

महाभारत के दशावतारों में बुद्ध का उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु भागवत की तीनों सूत्रियों में बुद्ध का नाम मिलता है। इसमें बुद्ध को असुरों को मोहित करने एवं उन्हें वेद के विरुद्ध करनेवाला कहा गया

१. बौद्ध दर्शन (पं० बलदेव उपाध्याय), पृ० १६५
२. महायान, पृ० ७३
३. बौद्ध दर्शन, पृ० १६२
४. इन्द्रोडकसन टू तांत्रिक बुद्धिज्म, पृ० १२-१३ : द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४४०
५. महायान, पृ० ७४
६. बौद्ध दर्शन, पृ० १५४-१६५
७. पालि साहित्य का इतिहास; पृ० २९३ में उद्धृत—दशरथ जातक ४६१ और वेवधम्म जातक ५१३
८. रामकथा (बुल्के) पृ० १०४
९. दी बोधिसत्त्व डाक्टरीन, ४९ और करण्डव्यूह, पृ० ६२

है।<sup>१</sup> अर्थात् असुरों के यज्ञ में विघ्न डालने हेतु विष्णु, बुद्ध रूप में अवतार लेते हैं।<sup>२</sup>

## १०. कल्कि-अवतार

दशावतारों में कल्कि के अवतार के भविष्य में होने वाले अवतार हैं, इस कारण उनका ऐतिहासिक रूप अस्पष्ट है। फिर भी साहित्यिक साक्ष्यों में कल्कि से सम्बन्धित राजाओं के नाम मिलते हैं। जैन एवं बौद्ध साहित्य में भी कल्कि का उल्लेख हुआ है। श्री के० वी० पाठक ने जैन ग्रन्थों के आधार पर कल्कि को अत्याचारी कहा है क्योंकि इसने जैनों पर कर लगाया था। इसको “चतुर्मुख कल्कि” एवं “कल्किराज” के नाम से पुकारा गया है।<sup>३</sup> बौद्ध साहित्य में ह्वेन-सांग ने बौद्ध भिक्षुओं पर मिहरकुल के अत्याचारों की व्याख्या की है। इस प्रकार जैनों एवं बौद्धों पर अत्याचारी के रूप में कल्कि या मिहरकुल का उल्लेख ५२० ई० में मिलता है।<sup>४</sup>

“सेकोद्यशटीका” में कल्क (पाप) का सम्बन्ध मैत्रेय से मानते हुए ब्राह्मण वर्ण के कल्क (पाप) का निवारण मैत्रेय द्वारा कराया गया है।<sup>५</sup>

१२. ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।

बुद्धो नाम्नाजनसुतः कीकटेषुभविष्यति ॥

—भागवत् १/३/२४

देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठिताना पूर्णिमयेन दिहिताभिरदुष्यतूभिः ।

लोकाना घ्नता मतिविमोहमलिप्रलोभं वेषं विधाय बहु भाष्यत औपघर्म्यम् ॥

—वही, २/७/३७

भूमेर्भ्रावतरणाय यदुष्वजन्मा जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि ।

वादैरिमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान् शूद्रान् कलौ क्षितिभुजोऽन्यहनिष्यदन्ते ॥

—वही, ११/४/२२

३. मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४४६

४. इन्डियन एंटीक्वेरी जि० ४७ ( १९१८ ), पृ० १८-१९ उद्धृत-मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४४६

५. ब्रह्मणादिवर्णनामेककल्कत्वाभिप्रायेणमुकवच्च इति नामकरणान्मैत्र्यादिचतुर्ब्रह्मविहार परिपूर्त्या सर्वकालं रागद्वेषादिविशिद्धिनिवारणत्वेनेति नामाभिषेकः षष्ठः ।

—सेकोद्यशटीका, पृ० २१ उद्धृत वही, पृ० ४४८

जैन ग्रन्थों में कल्काचार्य नाम के एक ब्राह्मण का उल्लेख मिलता है<sup>१</sup> जिसका पौराणिक कल्कि से कुछ साम्य दृष्टिगत होता है। कल्काचार्य बुद्धि से ब्राह्मण, पराक्रम से क्षत्रिय कहे गये हैं, इनका जन्म मध्य प्रदेश के धारानगरी में हुआ बताते हैं; जबकि पौराणिक कल्कि का जन्म सम्भल ग्राम, जो कि मध्य प्रदेश दमोह में बताया गया है।<sup>२</sup>

इस प्रकार प्रभावकचरित की कल्कि कथा चरित्र और व्यक्तिगत गुणों के कारण पौराणिक कल्कि के अधिक निकट प्रतीत होता है और पौराणिक कल्कि का विवरास प्रभावक चरित्र माना जा सकता है।

उक्त रूपों के अलावा कल्कि का एक पौराणिक रूप महाभारत से लेकर कल्कि पुराण तक लगभग एक सा ही प्रतीत होता है। महाभारत में कहा गया है कि जब कलियुग में पापों की अत्यधिक वृद्धि हो जायगी तो एक महान् शक्तिशाली बालक ब्राह्मण परिवार में पैदा होगा, जो “विष्णुयश कल्कि” कहलायेगा। जो स्वेच्छया अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करके दुष्टों का नाश एवं धर्म की स्थापना करेगा।<sup>३</sup> विष्णुपुराण भविष्य में जन्म लेने वाले सम्भल निवासी विष्णुयश के पुत्र को वासुदेव का अंश-वतार रूप कल्कि मानता है जो दुष्टों का नाश करने के लिए अवतरित होंगे।<sup>४</sup>

भागवत की सभी सूचियों में विष्णुयश के पुत्र को कल्कि का अवतार कहा गया है एवं उनका प्रयोजन दुष्टों का नाश कर धर्म की स्थापना करना बताया गया है।<sup>५</sup>

## ८. अवतारों के विभिन्न प्रकार

यहां पर अवतारों के विभिन्न प्रकार से तात्पर्य ईश्वर ने किन-किन रूपों अथवा योनियों में जन्म लिया उससे है। मुख्यतया ईश्वर ने चार योनियों में अवतार ग्रहण किया है, दशावतार की अवधारणानुसार—

१—जन्तु : मत्स्य, कूर्म

२—पशु : वाराह

१. प्रभावकचरित, कालकसूरिचरित०, पृ० २२-२७

२. न्यू इण्डियन एन्टीक्वेरी, जि० १ पृ० ४६३

३. महाभारत-वनपर्व १९०/९३-९४ : ९६/९७ : शांतिपर्व ३४९/-३८

४. विष्णुपुराण ४/२४/९८

५. भागवत १/३/२५, २/७/३८; ११/४/२२; १२/२/१८-२३

३—मानव-पशु : नरसिंह

४—मानव रूप : वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि  
परन्तु भागवत् के २४ अवतार की अवधारणानुसार निम्न योनियों  
या कोटियों में ईश्वर ने अवतार ग्रहण किया है—

१—जन्तु : मत्स्य, कूर्म

२—पशु : वाराह

३—पक्षी : हंस

४—मानव-पशु : नरसिंह, ह्यग्रीव

५—मानवरूप : सनकादि, नारद, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय,  
यज्ञ, ऋषभदेव, राजा-पृथु, धन्वन्तरि, मोहिनी, वामन, परशुराम,  
व्यास, राम, बलराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध, और कल्कि ।

## ९. अवतार की अवधारणा के सम्बन्ध में एनीबेसेंट के विचार

डॉ० एनीबेसेंट ने अपनी पुस्तक 'अवतार' में अवतार की अवधारणा के विकास में सत्त्व, रज और तम गुणों को महत्वपूर्ण बतलाया है, क्योंकि प्रकृति में तीनों गुणों का सन्तुलित होना आवश्यक होता है। जैसे कि रजो गुण और तमो गुण का प्रभाव अधिक हो जाता है तो इन दोनों के मिश्रित प्रभाव से सतो गुण का ह्रास होने लगता है जिससे सत् गुण से सम्बन्धित सुख एवं शान्ति क्षीण होने लगती है। इस प्रकार प्रकृति में असन्तुलन की अवस्था के कारण अन्याय, अत्याचार, अनाचार आदि गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी असन्तुलन की अवस्था को सन्तुलित करने के लिए ईश्वर अवतार लेता है।

खनिज, वनस्पति एवं पशु आदि के अपने-अपने विकास के नियम होते हैं। नियम एक प्रकार का बल होता है जिससे सभी वस्तुओं पर नियन्त्रण किया जा सकता है और अपने को सुरक्षित रखा जा सकता है। मनुष्य के विकास के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए ईश्वर स्वयं मनुष्य रूप में अवतरित हो मनुष्योचित व्यवहार करते हुए अपने जीवन को उच्च आदर्श की ओर ले जाते हैं। जिससे कि मनुष्य उनका अनुसरण करके अपने जीवन को आदर्श बना सकता है।

अवतारों के निम्न क्रम से 'Evolution Theory' अर्थात् विकासवाद की झलक दिखाई पड़ती है। प्रथम मत्स्य अवतार जल में रहने वाला, कूर्म अवतार जल एवं थल में रहने वाला या चलने वाला, उसके बाद पूर्ण पशु अवतार वराह का हुआ, उसके पश्चात् आधा पशु और आधा मानव

मिश्रित नरसिंह का अवतार हुआ। तत्पश्चात् पूर्ण पुरुष का बीना रूप वामनावतार होता है। परशुराम पुरुष के विकसित रूप तो हुए परन्तु स्वभाव से पशुओं की तरह हिंसक वृत्ति के थे। उनके बाद धनुष-बाण से स्वर्ग एवं पर की रक्षा करने वाले राम का अवतार होता है, जिन्होंने अन्याय का प्रतिकार करने के लिए रावण के विरुद्ध बाण चलाये तथा मर्यादापूर्वक राज्य का संचालन किया, इसी से राम को मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है। फिर आठवें अवतार के रूप में श्रीकृष्ण हुए हैं जिन्होंने अपने वात्सल्य से सभी को अपने वश में कर लिया तथा युद्ध में पाण्डवों की सहायता की। काका कालेलकर ने एनीबेसेंट के उपरोक्त लेख के आधार पर यह विचार व्यक्त किया है कि—इसके बाद हिन्दू धर्म का विकास क्रम रुक गया। लेखक के मत एवं भारतीय दार्शनिकों के विचार का यह परिणाम रहा कि तथागत बुद्ध को नवें अवतार के रूप में अपना लिया, जिन्होंने थोड़ी अहिंसा चलाई। काका साहब ने मत व्यक्त किया कि इसके बाद पूर्ण अहिंसक समाज की रचना के लिहाज से भगवान् महावीर को १०वें अवतार में होना चाहिए, परन्तु हिन्दू धर्म ने कल्कि को १०वां स्थान दे दिया। तात्पर्य यह है कि विकास का जो क्रम अवतारवाद में था वह टूट गया। इसमें मानव के विकास की कथा रूपक और अलंकार के शब्द में प्रस्तुत हुई, इसमें शंका नहीं है। खोजा सम्प्रदाय के पीर सदाबलदीन ने अपनी पुस्तक में १०वां अवतार अली को बताया है।<sup>१</sup> इस प्रकार खोजा सम्प्रदाय में भी विष्णु के दशावतार परम्परा को मान्यता दी गयी है।

जो कमियाँ हैं, वे वास्तव में हमारे विकास में प्रेरणा का कार्य करती हैं। मनुष्यों की इच्छायें भिन्न-भिन्न होती हैं और वे इच्छायें उन मानवों को अवनति की ओर ले जाती हैं। इसी को ठीक करने के लिए ईश्वर के अवतार की आवश्यकता होती है।

यों तो सभी प्राणी ईश्वर की अभिव्यक्तियाँ हैं परन्तु उन सभी अभिव्यक्तियों को न लेकर कुछ विशेष गुणों से युक्त अभिव्यक्तियों को हम लेते हैं और उन्हें हम अवतार कहते हैं। मुख्य दस अवतार माने गये हैं क्योंकि यह जीवन के विकास के रास्ते दिखाते हैं।

१. प्रीचिंग आफ इस्लाम : द्रष्टव्य अभिनन्दन ग्रन्थ (श्री पुष्कर मुनि उपाध्याय)

## १०. राधास्वामी मत में दस अवतार की अवधारणा

राधास्वामी मतावलम्बियों ने भी दशावतार के बारे में लिखा है। राधास्वामी मत के अनुयायी बाबूजी महाराज ने कहा है कि हिन्दू शास्त्रों के अनुसार पहले मच्छ, कच्छ और वाराह अवतार हुए। फिर नरसिंह अवतार हुआ। पहले तीन पशु रूप में थे। चौथा अवतार नर और पशु सन्धि का था और इसके बाद नर रूप में अवतार हुए। अन्त में श्रीकृष्ण महाराज ब्रह्म के पूर्ण अवतार हुए। ब्रह्म और ब्रह्माण्ड देश के अवतार जब खत्म हो चुके तब इस समय कलियुग में निर्मल चैतन्य देश के सन्त अवतार हुए।

बाबूजी महाराज का कहना है कि पिण्ड (शरीर) में छः चक्र हैं, ब्रह्माण्ड में छः कमल हैं और दयाल देश (निर्मल चैतन्य देश) में छः पद्म हैं। दसों अवतार जो जगत् में आये ब्रह्म ही के अवतार थे, मगर पहले तीन अवतार मच्छ, कच्छ, वाराह पशुपत के थे और उनका ताल्लुक नीचे के तीन चक्रों से था जिसमें हैवानी ताकतों का जोर बहुत ज्यादा है। मच्छ अवतार गुदा चक्र का, कच्छ अवतार इन्द्रिय (जननेन्द्रिय) चक्र का, वाराह अवतार नाभि चक्र का शूकर रूप में था। हृदय चक्र पशु और नर का सन्धि स्थल है। हृदय चक्र पर सिमट कर आने से पशुओं की मृत्यु हो जाती है और अगर वहाँ बैठकर बहोश कार्यवाही (अप्रमत्तभाव से कर्म) कर सके तो नर नर-श्रेणी में आ जाता है। नृसिंह यानी नर और पशु का अवतार हृदय-चक्र का था। इसके बाद ऊपर के चक्रों और कमलों के अवतार आये और सबसे आखिर में श्रीकृष्ण महाराज ब्रह्म के पूर्ण अवतार हुए। सतयुग से लेकर द्वापर के अन्त तक पिण्ड देश और ब्रह्माण्ड देश के अवतार हो चुके, तब कलियुग में ब्रह्माण्ड के ऊपर निर्मल चैतन्य देश और दयाल देश के सन्त अवतार होने का समय आया। इससे पहले सन्तों को अवतार लेकर आने की जरूरत नहीं थी, क्योंकि जीवों का अधिकार नहीं था, उसी कायदे से जिससे कि सतयुग और त्रेतायुग में कृष्ण नहीं आ सकते थे।

इस प्रकार राधास्वामी मत के अनुयायी भी ईश्वर के दस अवतारों में विश्वास करते हैं मात्र अन्तर यह है कि उन्होंने कलियुग में कल्कि अवतार को जगह सन्त अवतार की अवधारणा प्रस्तुत की है।

१. बचन बाबूजी महाराज—भाग १, पृ० ३५७, बचन ७४, ८.१२.४०
२. वही, पृ० ३६९, बचन ७७, १२.१२.४०



## ११. पारसियों में दस अवतार की अवधारणा

पारसियों के धर्मग्रन्थ 'जेन्दावेस्ता', जिसे ईसा पूर्व छठी शताब्दी का माना जाता है, में वेरेधृघ्न ( वृत्रहन् = इन्द्र ) के दस अवतारों का वर्णन मिलता है<sup>१</sup>—१. वायु, २. ऋषभ या वृषभ, ३. अश्व, ४. ऊँट, ५. वराह, ६. कुमार, ७. कौआ, ८. मेष, ९. मृग, १०. पुरुष ।

इन अवतारों में से कुछ का वर्णन प्राचीन संस्कृत साहित्य में आया है—दायु, वृषभ या ऋषभ, अश्व या 'हयग्रीव', वराह, कुमार या 'वामन' और पुरुष ।

'सहि प्रत्यक्षं वरुणस्य पमुर्यन्मेषः ।'<sup>२</sup>

'वारुणी च हि स्वाष्टी चाविः ।'<sup>३</sup>

वरुण और त्वष्टा दोनों इन्द्र ( वृत्रहन् ), प्रजापति और विष्णु से अभिन्न कहे गये हैं । अतः 'जेन्दावेस्ता' के समान 'मेष' का विशिष्ट सम्बन्ध वेरेधृघ्न ( वृत्रहन् = इन्द्र ) के साथ प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी प्रतिपादित है ।

भागवतपुराण में वराह, वामन, पुरुष, वृषभ और ह्यग्रीव का वर्णन मिलता है ।<sup>४</sup> उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि पारसी और भारतीय आर्यों की मूल परम्परा एक ही थी, किन्तु कालान्तर में अलग-अलग देशों में विकसित होने के कारण उनमें परस्पर भेद हो गया । जेन्दावेस्ता में इन्द्र के जिन दस अवतारों का वर्णन मिलता है उनमें ऋषभ, अश्व, हयग्रीव, वराह, कुमार या वामन पुरुष ऐसे नाम हैं, जो वैष्णव परम्परा में विष्णु के, जिन चौबीस अवतारों की कल्पना की गई है, उनसे मिलते हैं । इन्हें इन्द्र का अवतार मानने से यह भी सिद्ध होता है कि प्रारम्भ में इन्द्र ही महत्वपूर्ण देवता थे किन्तु कालान्तर में जब विष्णु महत्वपूर्ण देवता बन गए और अन्य सभी देवताओं को उनके अधीन मान लिया गया तब अवतारों की यह कल्पना भी उनके साथ जोड़ दी गई । वैसे जेन्दावेस्ता में उल्लिखित इन अवतारों में परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि के नाम नहीं मिलते हैं, इससे ऐसा लगता है कि ये सभी आर्यों के

१. बहरामयस्त १/२७, डार्मेस्टेटर कृत अंग्रेजी अनुवाद

२. शतपथब्राह्मण २/५/२/१६

३. वही, ७/५/२/२०

४. भागवतपुराण १/३/१-२६ : २/६/४१-४२ : ११/४/३ : १०/१२/२०

भारत निवास के बाद अवतार रूप में कल्पित किए गए, यद्यपि इससे एक बात तो सुनिश्चित रूप से सिद्ध हो जाती है कि अवतारों की अवधारणा का विकास आर्यों के भारत में आने के पूर्व हो चुका था। यदि हम ऋषभ के अवतार की अवधारणा को लें, तो हम पाते हैं कि ऋषभ को वेदों में तो स्थान मिला ही है किन्तु उन्हें जैन परम्परा में प्रथम तीर्थंकर के रूप में स्वीकार किया गया है और इस प्रकार उन्हें सम्पूर्ण आर्य संस्कृति का आदि पुरुष माना जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में मात्र हम इतना ही कहना चाहेंगे कि अवतारवाद की इस अवधारणा के बीज भारत के बाहर भी अत्यन्त प्राचीनकाल में उपस्थित थे।

## १२. अवतारों की चौबीस संख्या की अवधारणा

पुराणों में सर्वाधिक प्रचलित दशावतारों के अतिरिक्त 'भागवतपुराण' में भगवान् के असंख्य अवतार बताये गये हैं। कभी इनकी संख्या 'बाइस', 'चौबीस' और कभी सोलह<sup>२</sup> बताई गई है। भागवत के दशम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में दस और चालीसवें अध्याय में बुद्ध को जोड़कर ग्यारह अवतार बताये हैं।<sup>३</sup>

भागवत के आधार पर लिखे गये एक अन्य ग्रन्थ "लघुभागवतामृत" में अवतारों की संख्या पच्चीस मानी गयी है।<sup>४</sup> सात्वत तन्त्र तो इससे भी आगे बढ़कर लगभग इकतालिस अवतारों की सूची प्रस्तुत करता है।<sup>५</sup>

भागवत में दशावतारों की अवधारणा के अतिरिक्त चौबीस अवतारों की अवधारणा भी प्रचलित रही है। भागवत की चौबीस अवतारों की इस कल्पना को इतिहासकारों ने बौद्धों और जैनों से प्रभावित माना है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का कथन है-बुद्ध एवं ऋषभ को हिन्दुओं के अवतार में स्थान देने से प्रतीत होता है कि बौद्ध एवं जैन धर्म का प्रभाव हिन्दू धर्म पर पड़ा था इसलिए उनके प्रवर्तकों को विष्णु के अवतारों में सम्मिलित कर लिया गया। इसके चौबीस अवतारों की यह

१. श्रीमद्भागवत १/३/१-२६
२. वही ११/४/६; ११/४/१७-२२
३. वही १०/२/४०; १०/४०/१७-२२
४. लघुभागवतामृत पृ० ७०, श्लोक ३२
५. सात्वत तन्त्र द्वितीय पटल

२१४ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

कल्पना भी बौद्धों के चौबीस और जैनों के चौबीस तीर्थंकरों की कल्पना के आधार पर हुई है<sup>१</sup>, ऐसा प्रतीत हाता है।

**अवतार चौबीस ही क्यों ?**

अवतारों की संख्या चौबीस मानने के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक कल्पनाएँ हैं उनमें कुछ कल्पनाएँ अत्यन्त रोचक होने से नीचे दी जा रही हैं। वैदिक साहित्य में विष्णु को सूर्य भी कहा गया है, सूर्य का संवत्सर से घनिष्ट सम्बन्ध है। “संवत्सर” के चौबीस अंश (अर्द्धमास) अर्थात् पक्ष होते हैं। इन्हीं को विष्णु के चौबीस अंशावतार कहते हैं।

‘अरणि’ जो कि यज्ञ में अत्यन्त उपयुक्त हैं वह विष्णु/यज्ञ की पत्नी कही गई है। उसका परिणाम चौबीस अंगुलि माना गया है, इसका चौबीस अक्षरों वाली गायत्री से भी घनिष्ट सम्बन्ध है। पत्नी-पति का अर्द्ध भाग होने से “अरणि” यज्ञ रूपी विष्णु का रूप ही है। यही विष्णु के चौबीस अंश या अवतार हैं।

विष्णु नारायण-अमरकोष<sup>२</sup> में यज्ञ, संवत्सर और गायत्री का पुरुष से घनिष्ट सम्बन्ध कहा गया है। पुरुष के शरीर के चौबीस भाग कहे गये हैं।

अब हम चौबीस अवतारों की विशद व्याख्या श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध, अध्याय ३ के अनुसार करेंगे।

## १. सनत्कुमार-अवतार

सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार-इन चारों की गणना विष्णु के चौबीस अवतारों में की गई है। ऋग्वेद संहिता में चारों नाम दृष्टि-गोचर नहीं होते हैं, परन्तु “कुमार” एक विशेष वर्ग के तपस्वियों के नाम के साथ जुड़ा दिखाई पड़ता है। ऋग्वेद में आग्नेय कुमार, आत्रेय कुमार, यामायन कुमार आदि नाम के तपस्वियों का उल्लेख मिलता है।<sup>३</sup> बृहदारण्यकोपनिषद् के “याज्ञवल्कीय काण्ड” में सन्, सनातन और सनग् का उल्लेख मिलता है।<sup>४</sup> ‘छान्दोग्योपनिषद् में सनत्कुमार नारद को ब्रह्म-

१. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (१९५१), पृ० १३

२. अमरकोश १/१/१८; द्रष्टव्य-वेदवाणी, वर्ष १४, अंक ५, पृ० १०

३. ऋग्वेद ५/२; ७/१०१; १०/९०५; उद्धृत, म० सा० अ०, पृ० ४८९

४. बृहदारण्यकोपनिषद् २/६/३; द्रष्टव्य वही, पृ० ४८९

विद्या का उपदेश देते हुए प्रस्तुत किये गये हैं।<sup>१</sup> महाभारत के शान्तिपर्व में सन्, सनत्सुजात, सनन्द, सनन्दन, कपिल, सनातन, सनत्कुमार ब्रह्मा के सात मानस-पुत्र कहे गये हैं।<sup>२</sup> इन्हें निवृत्ति धर्मपालक, योग, सांख्य, धर्म के आचार्य, मोक्षाभिलाषी एवं पशुसिंह का विरोधी बताया गया है।<sup>३</sup> विष्णुपुराण में एक "कौमार सर्ग" की व्याख्या की गई है।<sup>४</sup> भागवत पुराण में भगवान् चार ब्राह्मण-सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार के रूप में अवतरित होकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।<sup>५</sup> भगवान् के तप अर्थवाले "सन" नाम से युक्त सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार रूपों में अवतरित होकर क्षत्रियों को उपदेश देने का उल्लेख है।<sup>६</sup> पुनः भागवत में विष्णु के हंस, दत्तात्रेय, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और ऋषभ कलावतारों का उल्लेख मिलता है।<sup>७</sup>

भागवत की परम्परा में इन्हें विष्णु के चौबीस अवतारों में स्थान प्राप्त हुआ है। सनकादि आत्मज्ञानियों की अपेक्षा विष्णु के भक्त अवतार विदित होते हैं।

## २. वराह-अवतार

वराहावतार की विशद व्याख्या हम पहले कर चुके हैं।

## ३. नारद-अवतार

वैदिक और पौराणिक साहित्य में विभिन्न स्थानों पर नारद का उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद के कुछ सूक्तों के रचयिता "नारद पर्वत" एवं "नारद कण्व" नाम के ऋषि कहे गये हैं।<sup>१</sup> नारद के नाम का परिचय सामवेदीय परम्परा में भी मिलता है।<sup>२</sup> छान्दोग्यो-

१. छान्दोग्योपनिषद् ७/१/१ : द्रष्टव्य- म०सा०अ०, पृ० ४८९

२. महाभारत, शान्तिपर्व ३४०/७२-८२

३. वही, शान्तिपर्व ३४०/७२-८२

४. विष्णुपुराण २/१/२५

५. भागवत १/३/६

६. वही २/७/५

७. वही ११/४/१७

८. ऋग्वेद ८/१३, ९/१०४-१०५; अथर्ववेद ५/१९/१; १२/४/१६

उद्धृत-मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४९१

९. द्रष्टव्य-वही, पृ० ४९१

पनिषद् में नारद को अनेक विद्याओं का ज्ञाता कहा गया है।<sup>१</sup> महाभारत शान्तिपर्व में नारद पर्वत ऋषि के मामा बहे गये हैं।<sup>२</sup> महाभारत के इसी पर्व में नारद तपस्या के फलस्वरूप विष्णुदर्शन प्राप्त करते हैं।<sup>३</sup> तथा नारायण ऋषि से "एकान्तिक मत" का ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख है।<sup>४</sup> इस प्रकार महाभारत में विष्णु और नारायण-भक्त के रूप में नारद का चरित्र-चित्रण किया गया है। गीता में देवर्षि नारद का उल्लेख दिव्य विभूतियों में है।<sup>५</sup> वैष्णव एवं अन्य धर्मों के प्रवर्तकों के अवतारोत्थरण के साथ भागवत में देवर्षि नारद का तीसरा अवतार ऋषियों की सृष्टि में माना गया है।<sup>६</sup> कालान्तर में जब वैष्णव एवं अन्य धर्मों में अवतारवाद की अवधारणा विकसित हुई, तब देवर्षि नारद को भी ईश्वर का अवतार मान लिया गया। इस अवतार में नारद के अवतार का मुख्य प्रयोजन सात्वत तन्त्र अथवा नारद पांचरात्र का उपदेश देना बताया गया है, परन्तु चौबीस लीलावतारों में नारद का नामोल्लेख नहीं है।<sup>७</sup>

भागवत में वे दासी के पुत्र बताये गये हैं परन्तु वहीं प्रथम स्कन्ध में इनका सम्बन्ध प्रेमा-भक्ति से परिलक्षित होता है।<sup>८</sup> भक्तों एवं प्रवर्तकों की परम्परा में ही नारद को विष्णु का अवतार माना गया है। अन्य अवतारों की अपेक्षा नारदावतार की अवधारणा अधिक प्रसिद्धि को नहीं प्राप्त हुई।

#### ४. नर-नारायण-अवतार

भागवत की तीनों सूचियों में नर-नारायण की उत्पत्ति धर्म की पत्नी दक्ष प्रजापति की कन्या मूर्ति के गर्भ से बताया गई है।<sup>९</sup> नर-नारायण ने अवतार लेकर ऋषि रूप में रहकर मन एवं इन्द्रियों पर संयम प्राप्त

१. छान्दोग्योपनिषद् ७/१/१
२. महाभारत, शान्तिपर्व २८
३. वही, शान्तिपर्व १९०
४. वही, २३४/४-३३
५. गीता १०/२६
६. भागवत १/३/८
७. वही, २/७
८. वही, १/५/२३; ३८-३९
९. वही, १/३/९; २/७/६; ११/४/१६

करने के लिये कठिन तप किया। ऋग्वेद के “पुरुष सूक्त” के रचनाकार नारायण ऋषि कहे गये हैं।<sup>१</sup> शतपथ ब्राह्मण में पुरुष से स्वरूपित “पुरुष नारायण” पांचरात्र यज्ञ के कर्ता एवं सबका अतिक्रमण करने वाले सर्वव्यापी और सर्वात्मा कहे गये हैं।<sup>२</sup> तैत्तिरीय आरण्यक में नारायण को विष्णु एवं वासुदेव से सम्बद्ध बताया गया है।<sup>३</sup>

महाभारत में अर्जुन एवं कृष्ण को नर एवं नारायण का अवतार कहा गया है। साथ ही अर्जुन नर के अतिरिक्त इन्द्र के भो अवतार कहे गये हैं।<sup>४</sup> महाभारत में एक अन्य स्थल पर नर के अर्जुनरूप में इन्द्र के अंश से उत्पन्न होने का आख्यान उपलब्ध है, वहाँ वे नारायण के सखा एवं पाण्डु पुत्र कहे गये हैं।<sup>५</sup> यहाँ पर हमें नर, इन्द्र एवं अर्जुन का अभिन्न सम्बन्ध प्रतीत होता है।

ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में इन्द्र एवं नर की एकरूपता स्पष्ट होती है।<sup>६</sup> इन तथ्यों के अवलोकन से नर-नारायण और इन्द्र-विष्णु इन दोनों शब्दों के योग का परस्पर सम्बन्ध स्पष्टतया स्वरूपित होता है। वैदिक साहित्य में इन्द्र-विष्णु की अपेक्षा नर-नारायण का सम्बन्ध उतना स्पष्ट नहीं है। यदि इनको प्राचीन वैदिक ऋषि मानें तो इनका अस्तित्व भिन्न प्रतीत होता है। कालान्तर में इन्द्र और नर तथा विष्णु और नारायण के एकीकरण के बाद इन्द्र एवं विष्णु के स्थान पर नर-नारायण शब्दों का संयुक्त रूप प्रचलित हुआ। इसको अंशतः पुष्टि महाभारत से होती है।<sup>७</sup>

१. ऋग्वेद १०/१०/८ : उद्धृत-मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४७६

२. “पुरुषो ह नारायणोऽकामयत्”—शतपथ ब्राह्मण १३/६/१/१

३. “नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि, तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्,  
—तैत्तिरीय आरण्यक १०/१/५

४. “भीमसेनं तु वातस्य देवराजस्यचार्जुनम्”  
महाभारत, आदिपर्व ६७/१११

५. “ऐन्द्रिनरस्तु भविता यस्य नारायणः सखाः ।  
सोऽर्जुनेत्यभिविख्यातः पाण्डोः पुत्रः प्रतापवान् ॥  
—महाभारत, आदिपर्व ६७/११६

६. “इन्द्रो नरः सख्याय सेपुर्महो यन्तः सुभतये चकानाः ।  
इन्द्रं नरः स्तुवन्तो ब्रह्मकारा ॥”  
—ऋग्वेद ६/२९/१,४

७. महाभारत, आदिपर्व ६७/११७

२१८ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

इस प्रकार दोनों तथ्यों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि चौबीस अवतारों में नर-नारायण वैदिक साहित्य में उल्लिखित नर-नारायण की अपेक्षा नारायणीयोपाख्यान में उल्लिखित नर-नारायण के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। यही नर-नारायण अपनी तपस्या के बल पर विष्णु के २४ अवतारों में मान्य हुये।

#### ५. कपिल-अवतार

ऋग्वेद संहिता में कपिल वर्ण के ऋषि का उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup> श्वेताश्वरुपनिषद् में भी कपिल के रूप में कपिल ऋषि का सन्दर्भ मिलता है।<sup>२</sup> पुनः इस उपनिषद् में कपिल को हिरण्यगर्भ का पर्यायवाची माना गया है।<sup>३</sup> बाल्मीकिरामायण तथा महाभारत के “वनपर्व” में ६०००० पुत्रों को कपिल के द्वारा भस्म करने की कथा है।<sup>४</sup> महाभारत में ही उनको वासुदेव से अभिहित किया गया है।<sup>५</sup> महाभारत के “शान्तिपर्व” में ब्रह्मा के सात मानस पुत्रों में कपिल का भी नाम विद्यमान है।<sup>६</sup> गीता एवं भागवत में कपिल को सिद्ध कहा गया है।<sup>७</sup> “विष्णुसहस्रनाम” शांकरभाष्य में महर्षि कपिल को वेदों का ज्ञाता एवं उनको सांख्यवेत्ता भी कहा गया है।<sup>८</sup> सूर्य-निवास के कारण ये अग्नि के स्वरूप कहे गये हैं।<sup>९</sup>

१. “दशानामेक कपिलं समानं तं हिन्वन्ति क्रतवे पार्याय ।”

—ऋग्वेद १०/२७/१६

२. “ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तुमग्रे ज्ञाने विर्भाति जायमान च पश्येत”

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/२

३. वही, ३/४/४; १२/६/१८ : उद्धृत-म० सा० अ०, पृ० ४८५

४. बाल्मीकि रामायण १/४०; महाभारत, वनपर्व ३/१०७

५. “ददृशुः कपिलं तत्र वासुदेवं सनातनम् ।”

—बाल्मीकि रा० १/४०/२५

वही, १/४०/२; महाभारत वनपर्व १०७/३२

६. महाभारत, शान्तिपर्व ३४०/७२-८४

७. गीता १०/२६

८. विष्णुसहस्रनाम शांकरभाष्य, पृ० १७७ श्लोक ७०

९. भागवत १/३/१०; २/७/३; २/२१/३२; ३/२४/३०

इस प्रकार महाभारत में कपिल के जो विविध रूप हमें दिखाई देते हैं उनसे यह निश्चित कर पाना कठिन है कि सांख्यवेत्ता आनेय एवं सगर-पुत्रों को भस्म करने वाले कपिल एक ही हैं या भिन्न-भिन्न, क्योंकि विष्णुपुराण एवं भागवत में इनके पृथक्-पृथक् रूपों का वर्णन उपलब्ध है, विष्णुपुराण में कर्दम प्रजापति के "शंखपाद" नाम के पुत्र का उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup> इससे सांख्यवेत्ता कपिल का आभास होता है क्योंकि बहुत सम्भव है कि सांख्य का विकृत रूप शंख हो गया हो। पुनः विष्णुपुराण में पुरुषोत्तम के अंश रूप कपिल का सगर के पुत्रों को भस्म करने का आख्यान मिलता है।<sup>२</sup> वहाँ उनके सांख्यवेत्ता होने का कोई उल्लेख नहीं है। भागवत में एक अन्य स्थल पर सिद्धों के स्वामी कपिल द्वारा आसुरि को उपदेश देने का उल्लेख मिलता है।<sup>३</sup> भागवत में कर्दम प्रजापति के यहाँ कपिलरूप के अवतार ग्रहण करने, सांख्य मत का उपदेश तथा सांख्यशास्त्र की रचना करने का उल्लेख है।<sup>४</sup> भागवत में सगर के पुत्रों को भस्म करने वाले कपिल को भगवान् का अवतार कहा गया है।<sup>५</sup> इस प्रकार भागवत के इन रूपों में कोई साम्य नहीं है।

हम देखते हैं कि महाकाव्यों एवं पुराणों में कपिल की कथा का विकास पृथक्-पृथक् है, परन्तु चौबीस अवतारों में कर्दम पुत्र एवं सांख्यवेत्ता कपिल को ही स्थान प्राप्त हुआ है। भागवत के विवरणों से सांख्य प्रवर्तक कपिल को ही अवतार माना गया है।<sup>६</sup>

## ६. दत्तात्रेय-अवतार

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से दत्तात्रेय अवतार की अवधारणा नर-नारायण की अपेक्षा अधिक परवर्ती प्रतीत होती है। वैदिक साहित्य एवं वैष्णव महाकाव्यों में इनका उल्लेख नहीं हुआ है। गीता एवं विष्णुसहस्रनाम में भी इनका उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। भागवत की सभी सूचियों में

१. विष्णुपुराण १/२२/१२
२. विष्णुपुराण ४/४/१२-१६
३. भागवत १/३/१०
४. वही, २/७/३; ३/१२/३; ३/२४/३०
५. वही, ९/८
६. वही, १/१/१०; २/७/३



दत्तात्रेय अनुसुइया के वर माँगने पर उसके गर्भ से उत्पन्न हुए।<sup>१</sup> अलक एवं प्रह्लाद को इन्होंने ब्रह्म ज्ञान का उपदेश दिया। राजा यदु और सहस्रार्जुन दोनों ने दत्तात्रेय से योग एवं मोक्ष की सिद्धियाँ प्राप्त की।<sup>२</sup> भागवत के अनुसार दत्तात्रेय ने विष्णु के अन्य कलावतार हंस, सनत्कुमार ऋषभ रूप में अवतीर्ण होकर आत्मसाक्षात्कार का उपदेश दिया। इस प्रकार दत्तात्रेय को पुराणों में तपस्वी कहा गया है। संक्षेपतः पौराणिक आख्यानों के अनुसार दत्तात्रेय विष्णु के अवतार हैं।

### ७. यज्ञ-पुरुष-अवतार

ऋग्वेद संहिता में यज्ञरूप विष्णु का उल्लेख मिलता है तथा तैत्तिरीय संहिता एवं शतपथ ब्राह्मण के मन्त्रों से विष्णु और यज्ञ की एकरूपता स्पष्ट होती है।<sup>३</sup>

“यज्ञोवैविष्णु”

विष्णुपुराण में “आद्य यज्ञ पुरुष” और “यज्ञमूर्तिधर” नाम विष्णु के लिए प्रयुक्त हुए हैं।<sup>४</sup> विष्णुसहस्रनाम में भी विष्णु को यज्ञ शब्द में अभिहित किया गया है। मत्स्यपुराण में “वेदमय पुरुष” का निवास यज्ञों में बताया गया है।<sup>५</sup>

परन्तु भागवत के यज्ञावतार का सम्बन्ध स्वायम्भुव मन्वन्तर में रुचिप्रजापति-आकृति से उत्पन्न यज्ञ पुरुष से है और इन्हीं यज्ञ को चौबीस अवतारों में ग्रहण किया गया है।<sup>६</sup>

इस प्रकार पुराणों में जो यज्ञ के विभिन्न उपादान प्राप्त हैं उन्हीं से यज्ञावतार का विकास परिलक्षित होता है। अवतारों की कोटि में आने से पूर्व यज्ञ पुरुष रूप के परिवर्तन से मानवीकरण का संकेत मिलता है। वैदिक साहित्य में भी देवों के आंशिक एवं पूर्ण प्रकृति रूपों का दर्शन होता है। बृहदारण्यकउपनिषद् एवं छान्दोग्योपनिषद् ने “आहुति” से

१. भागवत १/३/११; २/७/४; ११/४/१७

२. वही १/३/११

३. ऋग्वेद १/५६/३; तैत्तिरीय संहिता १/७/४; शं० ब्रा० १/०/१३

४. ‘आद्यो यज्ञपुमानोयः’, ‘यज्ञमूर्तिधराव्यय’—वि० पु० १/९/६१-६२

५. विष्णुसहस्रनाम शांकरभाष्य, पृ० २५९-२६३; मत्स्यपुराण अ० १५६

६. भागवत १/२/१२; २/७/२; ८/१/६

‘यज्ञविष्णु’, ‘यज्ञपुरुष’ और ‘गर्भ’ एवं पुरुष की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup>

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यज्ञ के मानवीकृत रूप का विकास दृष्टिगोचर होता है। कालान्तर में इसी को पुराणकारों ने विष्णु का रूप माना। भागवत में विष्णु के यज्ञ-पुरुषावतार का उल्लेख हुआ है इस रूप में वे यज्ञ की सफलता के प्रतीक ही नहीं बल्कि उपास्य विष्णु से भी सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।<sup>२</sup>

### ८. ऋषभ-अवतार

भागवत में राजा नाभि एवं रानी महादेवी के पुत्र ऋषभ को विष्णु का अवतार कहा गया है।<sup>३</sup> इस अवतार में ऋषभ देव ने इन्द्रिय निग्रह एवं योगचर्या द्वारा परम हंसों के मार्ग का प्रतिपादन किया, ऐसा उल्लेख है।<sup>४</sup> विष्णुपुराण में नाभिपुत्र ऋषभ का उल्लेख मिलता है।<sup>५</sup> महाभारत में ‘ऋषभ गीता’ नाम के प्रकाश में ऋषभ ऋषि का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु उनके अवतारी होने का कोई संकेत नहीं मिलता।<sup>६</sup>

इस प्रकार ऋषभ के अवतारी होने के बारे में कुछ निश्चित कहना कठिन है।

फर्कुहर ने भागवत का रचनाकाल ९०० ई० माना है।<sup>७</sup> समकालीन जैन साहित्य में ऋषभ के दिव्य जन्म का उल्लेख मिलता है इससे हम कह सकते हैं कि भागवत में ऋषभ का अवतार रूप ग्रहीत होने के पूर्व ही जैन साहित्य ने ऋषभ के दिव्य जन्म का विवरण उपलब्ध था।

इस सन्बन्ध में जैन ग्रन्थों का प्रभाव भागवत पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है क्योंकि भागवत में कहा गया है कि ऋषभदेव दिगम्बर

१. बृहदारण्यकोपनिषद् ६/२/१२-१३; छा० उ० ५/८/९-२;

द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ४६९

२. भागवत ४/७/१८

३. वही, ८/१३/२०

४. वही, १/३/१३; २/७/१०

५. विष्णुपुराण २/१/२७

६. महाभारत, शान्तिपर्व १२५-१२८

७. फर्कुहर, पृ० २३२; द्रष्टव्य म० स० अ०, पृ० ४७०

सन्यासी एवं उर्ध्वरेता मुनियों को धर्म का उपदेश देने के लिए प्रकट हुए थे।<sup>१</sup>

भागवत के चौबीस अवतारों की सूची में विशिष्ट विभूतियों-धर्म-प्रवर्तक, अन्वेषक, आदर्श-राजा, विचारक, तपस्वी का समावेश हुआ है। दिगम्बर मुनियों के धर्मप्रवर्तक ऋषभ को भी इसी प्रयोजन से २४ अवतारों में गृहीत किया गया। इस प्रकार भागवत में उनके अवतार का प्रयोजन स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

ऋषभदेव के अपने विशिष्ट आचरण एवं महापुरुषों के लक्षणों से युक्त शरीर के कारण वैष्णवों ने उन्हें विष्णु के अवतार-रूप में स्थान दिया।

## ९. पृथु-अवतार

ऋग्वेद में राजा पृथु का उल्लेख मिलता है।<sup>२</sup> विष्णुपुराण में पृथु को विष्णु का अवतार कहा गया है।<sup>३</sup> साथ ही विभिन्न पुराणों-विष्णुपुराण, वायुपुराण, अग्निपुराण, ब्रह्मपुराण और मत्स्यपुराण में पृथु की उत्पत्ति अत्याचारी वेन की भुजा से बताई गई है।<sup>४</sup> राजा पृथु के दाहिने हाथ में विद्यमान चक्र के आधार पर उन्हें विष्णु का अंशावतार कहा गया है।<sup>५</sup> राम-कृष्ण अवतारों में दुष्ट व्यक्तियों का संहार ही मुख्य प्रयोजन रहा है, इसके पिपरीत पृथु अवतार में वे पृथ्वी को भयभीत कर उससे औषधि का दोहन करते हैं।<sup>६</sup> इस प्रतीकात्मक कथा से राजा पृथु का कृषि एवं खनिज का आदि प्रवर्तक होना सिद्ध होता है। भागवतपुराण में विभिन्न स्थलों पर उनके रूपों एवं कथाओं का एक सा विवरण मिलता है।<sup>७</sup> परन्तु भागवत के चौथे स्कन्ध में वेन की भुजाओं से उत्पन्न स्त्री-पुरुष

१. भागवत ५/३/२०

२. ऋग्वेद १०/१४८

३. विष्णुपुराण ४/२४/१३८

४. विष्णुपुराण १/१३; वायुपुराण अ० ६२-६३; अग्निपुराण अ० १८; ब्रह्मपुराण अ० ४; मत्स्यपुराण अ० १०

५. विष्णुपुराण १/१३/४५

६. वही, १/१३/८७-८८

७. भागवत १/३/१४; २/७/९; ४/१४-१६

के जोड़े को विष्णु एवं लक्ष्मी का अंशावतार माना है।<sup>१</sup> पृथु की उत्पत्ति का संकेत हमें केवल विष्णुपुराण में ही परिलक्षित होता है।<sup>२</sup>

सभी अवतारों के अवतारीकरण या अवतरण का कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य होता है। रामकृष्ण, परशुराम, बुद्ध आदि अवतारों का मुख्य उद्देश्य धर्म की स्थापना करना था। इसी प्रकार राजा पृथु को भी कृषि एवं खनिज के महत्वपूर्ण अनुसन्धान के कारण अवतार कहा गया। भागवत में पृथु को विष्णु की भुवन-पालिनी कला का एवं उनकी पत्नी अर्चि को लक्ष्मी का अवतार कहा गया है।<sup>३</sup> इस प्रकार युगल आविर्भाव के कारण चौबीस अवतारों में पृथु का अवतार अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

१०. मत्स्य-अवतार } इन दोनों का विस्तृत विवरण हम  
 ११. कच्छप ( कूर्म ) अवतार } दसावतारों के अन्तर्गत दे चुके हैं।  
 १२. धन्वन्तरि अवतार

वाल्मीकि रामायण एवं विष्णुपुराण में उनके आयुर्वेद के ज्ञान श्वेत वस्त्रधारी धन्वन्तरि के रूप में प्रकट होने का उल्लेख है।<sup>४</sup> यहाँ उन्हें विष्णु से सम्बद्ध नहीं कहा गया है। मत्स्यपुराण में भगवान् धन्वन्तरि को आयुर्वेद का प्रजापति कहा गया है।<sup>५</sup>

भागवत में समुद्रमन्थन की कथा में भगवान् द्वारा धन्वन्तरि के रूप में अमृत लेकर समुद्र से प्रकट होने का उल्लेख है।<sup>६</sup> पुनः भागवत में भगवान् द्वारा धन्वन्तरि रूप में अवतरित होकर देवताओं को अमृत पिलाकर अमर करने का उल्लेख है साथ ही दैत्यों से उनके यज्ञभाग को

१. भागवत ४/१५/१-३

२. विष्णुपुराण १/१३/३८-३९

३. भागवत ४/१५/३

४. 'ततो धन्वन्तरिर्देवः श्वेताम्बरधरस्सयम् ।

विभ्रत्कमण्डलुं पूर्णममृतस्य समुत्थित ॥'

—विष्णुपुराण १/९/९८

'अथ वर्षसहस्रेण आयुर्वेदमयः पुमान् ।

पूर्वं धन्वन्तरिर्नाम अप्सराश्च सुवर्चसः ॥

—वाल्मीकि रा० १/४५/३१-३३

५. मत्स्यपुराण २५०/१

६. 'धान्वन्तरं द्वादशवं त्रयोदशमेव च'

—भागवत १/३/१७

२२४ : तोरुकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्यायन

दिलाने का वर्णन है।<sup>१</sup> इसी अवतार में उन्होंने आयुर्वेद का प्रवर्तन किया। भागवत के एकादश स्कन्ध में औषधियों की रक्षा के निमित्त धन्वन्तरि अवतार का उल्लेख न कर मत्स्यावतार बताया है।<sup>२</sup>

यहाँ पर यह कहना तो सम्भव नहीं है कि दोनों धन्वन्तरि का पृथक्-पृथक् अस्तित्व रहा है अथवा एक। परन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि पौराणिक समुद्र-मन्थन से उत्पन्न धन्वन्तरि को ऐतिहासिक काशिराज के पुत्र धन्वन्तरि से सम्बद्ध कर दिया गया होगा।

अतः धन्वन्तरि को अवतारवादी दृष्टिकोण से विष्णु के चौबीस अवतारों में गृहीत किया गया। यहाँ पर उनके अवतरण का मुख्य प्रयोजन सांसारिक प्राणियों को दुख-दर्द एवं रोग से विमुक्ति दिलाना रहा है।

### १३. मोहिनी-अवतार

भगवान् के मोहिनी रूप में अवतरित होने का विवरण देवासुर-संग्राम के अनन्तर समुद्र-मन्थन की कथा से सम्बद्ध है। समुद्र-मन्थन से उपलब्ध रत्नों में लक्ष्मी और अमृत की प्राप्ति के लिए देव-दानवों में पुनः संघर्ष की स्थिति होने पर नारायण के मोहिनी-माया द्वारा सुन्दर रूप बनाकर दानवों को छलने का उल्लेख है।<sup>३</sup> विष्णुपुराण में भी मोहिनी का यही रूप है।<sup>४</sup> भागवत में मोहिनी को १३वें अवतार के रूप में माना गया है एवं उनका मुख्य प्रयोजन दैत्यों को मोहित कर देवताओं को अमृत पिलाना रहा है।<sup>५</sup>

इस प्रकार मोहिनी अवतार का मुख्य प्रयोजन देवताओं को अमृत प्रदान कर असुरों पर विजय प्राप्त कराना रहा है।

१. धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्तिर्नाम्ना नृणां पुरुर्जां रज आशु हन्ति ।  
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्ध आयुश्च वेदमनुशास्त्रयतीर्य लोके ॥

—भागवत २/७/२१

२. भागवत ११/४/१८

३. 'ततो नारायणी मायां मोहिनीं समुपाश्रित ।

स्त्रीरूपमद्भुतं कृत्वादानवानमिसंश्रितः ॥

—महाभारत, आदिपर्व १८/४५

४. विष्णुपुराण १/९/१०७-१०९

५. भागवत १/३/१७

१४. नरसिंह अवतार

१५. वामन अवतार

१६. परशुराम अवतार

१७. व्यास अवतार

इन सभी की विशद चर्चा पहले की जा चुकी है।

अवतारों की कोटि में जिन विभूति सम्पन्न व्यक्तियों को ग्रहण किया गया है, उनमें कृष्णद्वैपायन व्यास भी एक हैं। वैसे तो व्यास शब्द भारतीय साहित्य में एक समुदाय विशेष का बोध कराता है, परन्तु यहां व्यास से तात्पर्य कृष्णद्वैपायन व्यास से है। अथर्ववेद संहिता एवं ब्रह्मसूत्र के रचयिता वादरायण को पौराणिक वेदव्यास से अभिहित किया गया है।<sup>१</sup> तैत्तिरीय आरण्यक में व्यास पाराशर्य का उल्लेख मिलता है।<sup>२</sup> डॉ० राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसोफी में कहा है कि “भारतीय परम्परा में शंकर, गोविन्दानन्द वाचस्पति, आनन्दगिरि आदि ने ब्रह्मसूत्र के कर्ता वादरायण और व्यास को एक ही माना है तथा रामानुज, माधव, वल्लभ और बलदेव ने भी उक्त कथानक का समर्थन किया है।<sup>३</sup>

इस प्रकार विभिन्न व्यासों का भान होता है, परन्तु अवतारवाद के विकास क्रम में किस व्यास को २४ अवतारों की शृंखला में ग्रहण किया गया है, कहना कठिन है। महाभारत के रचयिता व्यास माने गये हैं, व्यास को भागवत एवं विष्णु पुराण में अवतार माना गया है। विष्णुपुराण में २८ व्यासों की एक परम्परा मिलती है। गीता में अवतारवाद की दृष्टि से मुनियों में व्यास को विभूति कहा गया है।<sup>४</sup> विष्णुपुराण के अनुसार भगवान् प्रत्येक द्वापर में वेदों के विभाजन करने के लिये व्यास रूप में अवतीर्ण होते हैं एवं भागवत में व्यास को योगी तथा भगवान् का कलावतार कहा गया है।<sup>५</sup> पुनः भागवत में भगवान् के व्यासावतार रूपों का वर्णन मिलता है।<sup>६</sup>

१. अथर्ववेद संहिता ४/४/७/६१ तथा ७/३९ : उद्धृत-म० सा० अ०, पृ० ४५४

२. तैत्तिरीय आरण्यक १/९/२ : उद्धृत-वही

३. हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसोफी, जि० २, सं० १९२७, पृ० ४३३

४. महाभारत, आदिपर्व ३६/६८; विष्णुपुराण ३/३/८-२०; गीता १०/३७

५. विष्णुपुराण ३/३/५

६. भागवत १/३/२१; २/७/३६

इस प्रकार वेदों के विभाजन के निमित्त ही व्यास का अवतार होना प्रतीत होता है। वेद-व्यास, कृष्णद्वैपायन-व्यास एवं भागवतकार व्यास सभी के समन्वित रूप पौराणिक व्यास परिलक्षित होते हैं।

### १८. राम-अवतार

रामावतार की विशद चर्चा पहले की जा चुकी है।

### १९. बलराम-अवतार

भागवत में कहा गया है कि जब पृथ्वी दैत्यों से भाराक्रान्त होती है और जब दैत्य पृथ्वी को रौदते हैं तब भगवान् कृष्ण एवं बलराम के कलावतार रूप ग्रहण करते हैं।<sup>१</sup> पुनः भागवत् में बलराम के यदुवंश में अवतारों का प्रसंग मिलता है।<sup>२</sup>

इस प्रकार बलराम के अवतार का प्रयोजन श्रीकृष्ण को मात्र सहायता पहुँचाना ही मुख्यरूप से कहा जा सकता है।

### २०. श्रीकृष्ण-अवतार

### २१. बुद्ध-अवतार

### २२. कल्कि अवतार

} इन सभी की विशद चर्चा पहले की जा चुकी है।

### २३. हंस अवतार

सामान्यतया सभी पौराणिक अवतारों के रूपों में भिन्नता पाई जाती है। हंसावतार का मुख्य प्रयोजन उपदेश देना बताया गया है। उनके हंस रूप धारण करने में भिन्नता है कहीं तो वे आदित्य, कहीं प्रजापति, कहीं विष्णु और कृष्ण से अभिहित किये गये हैं। अथर्ववेद संहिता में हंस को पक्षी, जीवात्मा एवं आदित्य के प्रतीक रूपों में दर्शाया गया है।<sup>३</sup> हंस रूप में वे सत्य को ब्रह्म के तृतीय पाद का उपदेश देते हैं।<sup>४</sup> शंकराचार्य ने हंस

१. भूमेः सुरेनरवस्यविमदितायाः क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः ।

जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः कर्माणि चात्ममहिमोऽनिबन्धनानि ॥

—भागवत २/७/२६

२ एकोनविंशे विशतेमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ।

रामकृष्णाविति भुवा भगवानहरद्वभरम् ॥

—बही १/३/२३

३. अथर्ववेद संहिता ८/७/२४; १०/८/१७; १०/८/१८

४. छान्दोग्योपनिषद् ४/७/२-४

की श्वेतता एवं उड़ने की शक्ति के कारण आदित्य का प्रतीक कहा है। महाभारत में प्रजापति के अवतार रूप हंस साधुओं को उपदेश देते हैं।<sup>१</sup> छान्दोग्योपनिषद् में साधुओं का सम्बन्ध ब्रह्मा से बताया गया है।<sup>२</sup> विष्णु सहस्रनाम में विष्णु के लिए प्रयुक्त हंस शब्द की व्याख्या करते हुए शंकर कहते हैं कि 'हंस' तादात्म्य भावना से संसार का भय नष्ट करते हैं, इसलिए हंस हैं अथवा आकाश में चलने वाले सूर्य के सदृश सभी शरीरों में व्याप्त हो जाते हैं इसलिए हंस हैं। इस व्याख्या से हंस का विष्णु से आत्म-रूपात्मक सम्बन्ध परिलक्षित होता है।<sup>३</sup> श्रीमद्भागवत में सभी स्थलों पर हंसावतार का उल्लेख उपलब्ध नहीं है, फिर भी हंसावतार और हंस-उपास्य दोनों का उल्लेख हमें मिलता है। भागवत के द्वितीय स्कन्ध में भगवान् नारद को उपदेश देने के लिए हंस रूप में आविर्भूत होते हैं।<sup>४</sup> भागवत के दूसरे स्थल पर ब्रह्मा द्वारा नारद को उपदेश देने का आख्यान उपलब्ध होता है।<sup>५</sup> पुनः 'एकादश स्कन्ध' में श्रीकृष्ण के द्वारा ब्रह्मा जी को परमतत्व का उपदेश देने का उल्लेख मिलता है।<sup>६</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'महाभारत' के अतिरिक्त भागवत में भी हंस का ब्रह्मा से किसी न किसी रूप में सम्बन्ध लक्षित होता है। भागवत के अनुसार सत्ययुग के मनुष्य का सम्भवतः वैदिककालीन पुरुष, हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, परमपद, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा आदि नामों से उपास्य का लोलागान करते हैं।<sup>७</sup> अतएव उपास्य

१. महाभारत, शान्तिपर्व २९६।३-४

२. छान्दोग्योपनिषद् ३/१०/१-३

३. मरीचिर्दमनो हंसः सुपर्णोभुजगोत्तमः ।

हिरण्यनामः सुतपाः पद्मनाभः प्रजापतिः ॥ —विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्-३४

४. तुभ्यं च नारद भृशं भगवान् विवृद्धभावेन साधु परितुष्ट उवाच योगम् ।

ज्ञानं च भागवतमात्मसतत्वदीपं यद्वासुदेवशरणा विदुरञ्जसैव ॥

—भा० २/७/१९

५. वही, २/१०/४२-४३

६. स मामचिन्तयद् देवः प्रश्नपारतितीर्षया ।

तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा ॥

—वही, ११/१३/१९

७. हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरोमलः ।

ईश्वरः पुरुषोव्यक्तः परमात्मेति गीयते ॥

—वही, ११/५/२३



विष्णु को हंस नाम से अभिहित कर हंसावतार की कल्पना असम्भाव्य नहीं जान पड़ती ।

### २४. ह्यग्रीव-अवतार

दशावतारों में विष्णु के ह्यग्रीवावतार का उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु आगे चलकर २४ अवतारों की अवधारणा में ह्यग्रीव का नामोल्लेख प्राप्त होता है । यद्यपि विष्णुपुराण में मत्स्य, वराह, कूर्म के साथ ह्यग्रीव का वर्णन है ।

पौराणिक ह्यग्रीव वैदिक साहित्य में उल्लिखित ह्यग्रीव का विकसित रूप प्रतीत होता है । ऋग्वेद और अथर्ववेद में 'हर्यश्व' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है ।<sup>१</sup> अश्वमेध का वैदिक यज्ञों में प्रमुख स्थान रहा है । 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में यज्ञ की अश्वरूपात्मक कल्पना स्पष्ट दिखाई देती है जहाँ अश्व की हिनहिनाहट को वाणी से अभिहित किया गया है ।<sup>२</sup> साथ ही ह्य से देवताओं, बाजो होकर गन्धर्वों, अर्वा होकर असुरों एवं अश्वरूप से मनुष्यों को वहन करने का प्रसंग मिलता है । समुद्र को ह्यग्रीव का बन्धु एवं उद्गम स्थान कहा गया है ।<sup>३</sup> अतः समुद्र से ह्यग्रीवावतार के बीज लक्षित होते हैं । महाभारत आदिपर्व में गरुड़ की स्तुति करते समय उन्हें प्रजापति, शिव, विष्णु एवं ह्यमुख कहा गया है ।<sup>४</sup> एक अन्य स्थल पर स्वयं भगवान् कहते हैं 'स्वर और वर्णों का उच्चारण' एवं वरदान देने वाले ह्यग्रीव मेरा ही अवतार हैं और उसी अवतार रूप में मैंने मधु-कैटभ असुरों को मार कर वेदों की रक्षा की ।<sup>५</sup> महाभारत में नारायण द्वारा ह्यशिर रूप धारण कर वेदों के उद्धार का उल्लेख मिलता है ।<sup>६</sup>

उपर्युक्त उद्धरणों में ह्यग्रीव का सम्बन्ध यज्ञ, प्रजापति एवं वेदोच्चारण से स्पष्टतया परिलक्षित होता है और सम्भव है कि इन्हीं उपदानों

१. ऋग्वेद ७/३१/१ : ८/२१/१०

अथर्ववेद २०/१४/४ : २०/६२/४

२. बृहदारण्यक उपनिषद् १/१/१ : उद्धृत—म० सा० अ०, पृ० ४५२

३. वही १/१/२ : उद्धृत—वही, पृ० ४५२

४. महाभारत आदिपर्व २३/१६

५. वही, शान्तिपर्व ३४२/९६-१०२

६. वही, शान्तिपर्व ३४७/१९-७१

के आधार पर पौराणिक कथानक का रूप दिया गया हो। भागवत में ब्रह्मा द्वारा ह्यग्रीव अवतार ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है। पुनः भागवत में ह्यग्रीवावतार द्वारा मधु-कैटभ को मारकर वेदों का उद्धार करना मुख्य प्रयोजन बताया गया है।<sup>१</sup>

इस प्रकार २४ अवतारों की अवधारणा में ह्यग्रीवावतार का मुख्य प्रयोजन दुष्टों का नाशकर पृथ्वी पर धर्म की स्थापना करना है। अस्तु ह्यग्रीवावतार में भी भगवान् के अवतरण का प्रयोजन अन्य अवतारों की तरह धर्म का नाश कर धर्म की रक्षा करना रहा है।

पुनः भागवत के द्वितीय स्कन्ध, अध्याय-७ में भी भगवान् के चौबीस लीला-अवतारों की कथा कुछ अन्तर के साथ वर्णित है, मात्र अन्तर इतना है कि प्रथम स्कन्ध, अध्याय-३ में वर्णित चौबीस अवतारों में से नारद एवं मोहिनो अवतारों के स्थान पर मनु एवं चक्रपाणि (गजेन्द्र-हरि) अवतारों को लिया गया है। अतः यहां पर दोनों अवतारों की विशद चर्चा करना उपयुक्त होगा।

### मनु अवतार

भागवत के २४ अवतारों में मनु को भी अवतार रूप में ग्रहण किया गया है। भागवत में मनु का अवतार दो रूपों में मिलता है, एक तो व्यक्तिगत रूप में विष्णु के अवतार कहे गये हैं, तो वहीं दूसरी ओर विभिन्न मन्वन्तर में विभिन्न अवतार माने गये हैं।

पौराणिक मनुओं का उल्लेख ऋग्वेद संहिता में 'मनु वैवस्वत', 'मनु संवरण', 'मनु आप्सव' और 'चाक्षुष मनु' के नाम से मिलता है, जिन्हें सूक्तों का रचयिता कहा गया है।<sup>२</sup>

शतपथ ब्राह्मण और छान्दोग्योपनिषद् में भी मनु का नाम मिलता है।<sup>३</sup> गीता के ज्ञान प्राप्ति के प्रसंग में मनु का उल्लेख पाया जाता है।<sup>४</sup> भारतीय साहित्य में "मनुस्मृति" की रचना का सम्बन्ध मनु से बताया गया है। फकुंहर ने इसका रचनाकाल २०० ई. पू. से २०० ई. तक माना

१. भागवत ७/९/३६-३७; २/७/११

२. ऋग्वेद ८/२७; २/१३; ९/१०६; १/१०६; द्रष्टव्य म० सा० अ०, पृ० ४६६

३. छान्दोग्योपनिषद् ६/११/४; शतपथ ब्राह्मण १/८/१/१; द्रष्टव्य वही

४. इमं विवस्वते योग प्रोक्तवानहमव्ययम्।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्याकवेऽब्रवीत् ॥

—गीता ४/१

है।<sup>१</sup> महाभारत में मनु को विवस्वान् का पुत्र कहा गया है। इन्हीं के द्वारा सूर्यवंश या मनुवंश का उद्गम एवं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों का वर्गीकरण हुआ; ऐसा कहा गया है।<sup>२</sup> गीता में चार मनु ईश्वर की विभूति माने गये हैं।<sup>३</sup> विष्णुपुराण में सभी राजा विष्णु के अंशावतार एवं मनुवंशी कहे गये हैं।<sup>४</sup> भागवत में अवतारों की अवधारणा की चर्चा में ऋषियों और देवताओं के साथ मनु एवं मनुपुत्रों को भी विष्णु का कलावतार कहा गया है।<sup>५</sup>

उपर्युक्त आख्यानों से इतना तो स्पष्ट लक्षित होता है कि चौबीस अवतारों की अवधारणा में गृहीत होने से पूर्व मनु एवं मनुवंशियों को ईश्वर की विभूति, अंश एवं कलावतार माना जा चुका था। भागवत के २४ अवतारों में इनके अवतारवादी रूप के साथ इनका उपास्य-लीलावतार रूप भी स्पष्ट दिखाई देता है।<sup>६</sup> क्योंकि इसमें वे स्वायम्भुव आदि मन्वन्तरों में मनुवंश ही रक्षा करते हैं एवं साथ ही दुष्ट राजाओं का संहार करते हुए प्रस्तुत किये गये हैं।<sup>७</sup>

### गजेन्द्र हरि अवतार

सभी अवतारों का अवश्य ही कुछ न कुछ प्रयोजन होता है। गजेन्द्र-हरि अवतार में भी भक्तोद्धार की भावना के तत्त्व स्पष्ट दिखाई देते हैं। यहाँ पर हमें विष्णु या हरि के उपास्य एवं विग्रह रूप के दर्शन होते हैं।

महाभारत में विष्णु के "हरि" अवतार के साथ ही अन्य स्थल पर कृष्ण के द्वारा हरि अवतार लेने का विवरण मिलता है।<sup>८</sup> धर्म के चार

१. फकुंहर पृ० ८१; उद्धृत म० सा० अ०, पृ० ४६६

२. महाभारत, नादिवर्ष ७५/१३-१४

३. महर्षयः सप्तपूर्वै चत्वारो मनवस्तथा ।

मद्भाव मानसा जाता येषा लोक इमाः प्रजा ॥

—गीता १०/६

४. इत्येष कथितः सम्यङ् गानोर्वंशो मया तव ।

यत्र स्थितिप्रवृत्तस्य विष्णोरंशांशका नृपाः ॥

—विष्णुपु० ४।२।१।३८

५. भागवत १।३।२७

६. वही, २।६।४५

७. वही, २।७।२०

८. महाभारत, वनपर्व १२/२१

पुत्रों में “हरि” नाम के पुत्र का विवरण “नारायणीयोपाख्यान” में मिलता है।<sup>१</sup> हरे रंग के कारण नारायण को हरि कहा जाता है।<sup>२</sup> गोता में हरि शब्द विश्व रूप में प्रयुक्त हुआ है।<sup>३</sup> विष्णु जब अविद्या और अज्ञान को दूर करते हैं तब हरि कहलाते हैं।<sup>४</sup> विष्णुपुराण में हरि का अवतरण हर्या के गर्भ से बताया गया है।<sup>५</sup>

उपरोक्त तथ्यों से हरि अवतार का गज-ग्राह की कथा से कोई सम्बन्ध परिलक्षित नहीं होता है। परन्तु भागवत के चौबीस अवतारों की अवधारणा में गज-ग्राह से सम्बद्ध हरि गरुड़ पर चढ़कर हाथ में चक्र लिए गज की रक्षा करते प्रतीत होते हैं।<sup>६</sup>

इस प्रकार एक ओर तो हरि की हरिणी-गर्भ से उत्पत्ति बताई गई है तो दूसरी ओर हरि के उपास्य एवं विग्रह रूप का वर्णन किया गया है। गजेन्द्र हरि अवतार में एक विशेषता यह परिलक्षित होती है कि अन्य अवतारों में तो विष्णु गो, देवता एवं पृथ्वी की पुकार पर विभिन्न रूपों में प्रकट होकर रक्षा करते हैं पर गजेन्द्र-हरि में साक्षात् हरि एक पशु की प्रार्थना पर प्रकट होकर उसका उद्धार करते हैं।

१. महाभारत, शान्तिपर्व ३३४/८-९

२. वही, शान्तिपर्व ३४२/६८

३. एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥

—गोता ११/९

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।

विस्मयोमेमहान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥

—वही १८/७७

४. कालनेमिनिहा वीरः शौरिः शूरजनेश्वरः ।

त्रिलोकात्मा त्रिलोकेशः केशवः केशिहा हरिः ॥

—विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् संख्या ८२

५. सामसस्यान्तरे चैवसम्प्राप्ते पुनरेषहि ।

हर्यायां हरिभिस्सार्धं हरिरेव बभूव ह ॥

—विष्णुपुराण ३/१/३९

६. अन्तः सरस्युरुबलेन पदे गतहीतो ग्राहेण यूथपतिरम्बुजहस्त आर्तः ।

आहेदमादिपुरुषाखिललोकनाथ तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय

श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेयश्चकायुधः पतगराजभुजाधिरूढः ।

चक्रेण नक्रवदनं विनिपाद्य तस्माद्धस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोजहार ॥

—भागवत २/७।१५-१६

### १३. अवतारवाद के मनोवैज्ञानिक आधार

मनुष्य पुरातन काल से ही सृष्टि के मूल में एक अज्ञात शक्ति का दर्शन करता रहा है और उसे सृष्टि का मूलाधार मानता रहा है। वह सृष्टि के सृजन ( रचना ) और संहार की प्रक्रिया को भी उसी अज्ञात शक्ति के द्वारा घटित मानता है, कालान्तर में यही अज्ञात शक्ति ईश्वर कही जाने लगी। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह दुःख, पीड़ा और अत्याचार के क्षणों में किसी उद्धारक की शरण में जाना चाहता है। वह आत्म-सुरक्षा के लिए सबल शरण की खोज प्राणीय स्वभाव है, अपने से सबल की शरण की खोज की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक कि एक ऐसी सबल सत्ता को नहीं खोज लिया जाता है, जिससे ऊपर अन्य कोई न हो और जिसे कोई भी पराजित नहीं कर सकता, मनुष्य ने यह माना कि ऐसी सबसे सबल शक्ति ईश्वर ही हो सकता है, अतः उसी की शरण ग्रहण करनी चाहिए। सबल के शरण की यह खोज ही अवतारवाद की अवधारणा का मनोवैज्ञानिक आधार है। मनुष्य यह मानने लगता है कि जब भी वह अत्यन्त दुःख, पीड़ा और अत्याचार के क्षणों में होगा उसका उद्धारक आकर उसकी रक्षा करेगा, अवतार को, जो दुष्टों का संहारक और सज्जनों का रक्षक कहा गया है, उसके पीछे मूलभूत भावना व्यक्ति के आत्म-संरक्षण की है मनुष्य ने जब अपने आपको आत्मसंरक्षण में अक्षम पाया तो उसने एक त्राता के रूप में दैवीय शक्ति ईश्वर को खोज की और यह मान लिया कि वह दैवीयशक्ति या सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपने भक्तों की पीड़ा को दूर करने के लिए उच्चतम लोक से मानव भूमि पर अवतरित होकर उसकी रक्षा करता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ईश्वर हमारी आस्था और भावना का केन्द्र होता है। वह मनुष्य को उसमें निहित भय को मूल प्रवृत्ति से छुटकारा दिलाकर साहस प्रदान करता है, ईश्वर के प्रत्यय का यही मनोवैज्ञानिक मूल्य है। अनुभव के क्षेत्र में हम यह पाते हैं कि संकट के क्षणों में अथवा भयावह स्थितियों में ईश्वर के प्रति व्यक्ति का यह अटूट विश्वास ही उसे उन कष्टों से उबार लेता है। मनुष्य के मन में एक ऐसा आत्म विश्वास जागृत हो जाता है कि वह इन कठिन परिस्थितियों से जरा भी नहीं घबराता है। जिस प्रकार एक बालक अपने माता-पिता की उपस्थिति का अनुभव कर साहस के साथ संघर्ष करता है, उसी प्रकार व्यक्ति भी ईश्वर के प्रति अपनी दृढ़ आस्था के कारण संकट के क्षणों में उसकी उपस्थिति का

अनुभव कर अपने साहस के द्वारा उनपर विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य को भय से विमुक्ति दिलाने के लिए, उसमें साहस का संचार करने के लिए तथा उसकी भावनाओं को चरम अभिव्यक्ति देने के लिए ईश्वर की अवधारणा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

### १४. अवतारवाद की अवधारणा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

मनुष्य के मन का नैतिक द्वन्द्व भी उसे ईश्वर में आस्था रखने के लिए प्रेरित करता है। यह नैतिकता के जीवन्त आदर्श के रूप में ईश्वर को ग्रहीत करता है। इस प्रकार शिवत्व रूप ईश्वर में विश्वास नैतिक आदर्श की अनुभूति का युक्तिकरण (Intellectualisation) है। कभी-कभी मनुष्य यह अनुभव करता है कि जब तक ईश्वर में विश्वास नहीं करता, उसके आदेशों के अनुरूप आचरण नहीं करता, तब तक उसका कल्याण नहीं हो सकता। यही विश्वास नैतिक चरित्र को सुदृढ़ करता है। इसी को मनोवैज्ञानिक 'इच्छा-पूर्ति' (wishfulfilment) की प्रक्रिया मानते हैं।

धार्मिक भावनात्मक अनुभूति का एक अंग भी है। राबर्ट एच० थाउलेस ने आस्था, विश्वास, भावना एवं संवेग के द्वारा ईश्वर के प्रत्यय का विश्लेषण किया है। उसने धार्मिक अनुभूति के तीन रूप माने हैं।<sup>१</sup>

१. पाप से क्षम्य होने की भावना।

२. प्रत्यक्ष अनुभूति।

३. विश्वास की निश्चयता।

#### (१) पाप से क्षम्य होने की भावना

मनुष्य में निहित पशुत्व अथवा उसकी वासनायें उसे अपनी येन-केन-प्रकारेण पूर्ति के लिए विवश करती हैं। वासनामय जीवन में ही पाप की अवधारणा का जन्म होता है। मनुष्य की यह विवशता है कि कितना भी प्रयत्न करे, किन्तु वासनामय जीवन से एकदम ऊपर नहीं उठ सकता। किन्तु वासनाओं को पूर्ति उसके मन में यह भाव भी जागृत करती है कि वह पापी है, इस स्थिति में वह एक ऐसी सत्ता की खोज करता है जो निष्कपट हृदय से उसके सामने प्रस्तुत होने पर, उसके पापों को क्षमा कर सके। पाप करना मानवीय प्रकृति की व्यवस्था है, किन्तु वह उससे मुक्त होना भी चाहता है और यही वह एक ऐसे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है जो उसके पापों को क्षमाकर, उसका उद्धार कर सके।

१. साइकॉलाजी एण्ड रिलीजन (युंग), पृ० ४०

## (२) प्रत्यक्ष अनुभूति

मानव में अपने संरक्षक ईश्वर के प्रति जब दृढ़ आस्था जागृत हो जाती है तो वह मानसिक धरातल पर उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति करता है, जैसा कि हम मोरा आदि अन्य रहस्यवादी सन्तों के जीवन में देखते हैं। चाहे इस प्रत्यक्ष अनुभूति को हम मनोविज्ञान की भाषा में Hellusionation ही कहें किन्तु वैयक्तिक अनुभूति के क्षेत्र में बहुत बड़ा महत्व होता है और इसके कारण व्यक्ति का जीवन और व्यक्तित्व ही बदल जाता है।

## (३) विश्वास की निश्चयता

जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि ईश्वर व्यक्ति की आस्था का केन्द्र होता है, व्यक्ति की ईश्वर के प्रति आस्था जैसे-जैसे सबल और दृढ़ होती जाती है उसमें एक विशेष प्रकार का विश्वास जागृत होता है। जागतिक दुःख और संकट के क्षणों में भी एक दृढ़ निश्चय का परिचय देता है।

मैकडूगल ने पाप की भावना को निषेधात्मक स्वानुभूति ( Negative self feeling ) कहा है।<sup>१</sup>

मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने मन के सूक्ष्मतम स्तरों का विश्लेषण करते हुए धार्मिक ईश्वर ( The Religious God ) पर आदर्श—अहं ( Super ego ) की दृष्टि से विचार किया है। उसके अनुसार 'आदर्श अहं ( Super ego )' वासनात्मक अहं ( Id ) में समाहित अनेक प्रबन्धों, वर्जनाओं और पूर्व दमित इच्छाओं का ही एक रूप है। इस 'आदर्श अहं ( Super ego )' का जन्म वासनात्मक अहं ( Id ) की प्रथम विषय-वस्तु ( Object cathexes ) अर्थात् ओडीपस ग्रन्थि से होता है।<sup>२</sup> इस प्रकार मनुष्य का 'आदर्श-अहं' जिस वासनात्मक अहं ( Id ) से उत्पन्न होता है। उसमें व्यक्तिगत, सामूहिक और परम्परागत तीनों अहं-तत्त्व विद्यमान रहते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से ईश्वर की अवधारणा वस्तुतः मनुष्य के 'आदर्श-अहं' की ही देन है। यद्यपि फ्रायड अपने मनोविज्ञान में ईश्वर की कोई युक्ति-संगत रूपरेखा प्रस्तुत नहीं कर सका।

अनेक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने प्रायः मानसिक व्यापार के द्वारा

१. सा रे० पृ० ६७

२. The ego and the id, p. ६९

ही ईश्वर की अवधारणा की व्याख्या की है। जिसके परिणामस्वरूप उनके ईश्वर सम्बन्धी दृष्टिकोणों और विचारों में बहुत विभिन्नता रही है। फ्रायड स्वयं ईश्वर में विश्वास नहीं करता है; फिर भी वह प्राचीनतम ईश्वर की अवधारणा से अवश्य प्रभावित हुआ है।<sup>१</sup> धार्मिक मनोवृत्ति को एडलर ने एक प्रकार की कायरता कहा है; क्योंकि कुछ लोग अपने दुःख को ईश्वर के ऊपर फेंकना चाहते हैं, इसका कारण यह है कि वे उसे अत्यधिक विश्वास एवं श्रद्धा से पूजते हैं तथा उससे व्यक्तिगत एवं पारिवारिक सम्बन्ध भी जोड़ते हैं।

धर्म एवं ईश्वर के प्रति अविश्वास रखने वाले इन मनोवैज्ञानिकों के अलावा युंग और मैक्डगल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जिनकी धर्म और ईश्वर के प्रति आस्था रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ईश्वरीय अवतरण की अवधारणा कठिनाई के क्षणों में मनुष्य में एक आत्मविश्वास उत्पन्न करती है तथा यह विश्वास दिलाती है कि वह नितान्त एकाकी नहीं है कोई अदृश्य शक्ति उसकी सहायक है, जो उसके उद्धार हेतु प्रयत्नशील है तथा विश्व को दुष्टों से त्राण दिलाती है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अवतारवाद का मूल्य यही है कि वह मनुष्यों में एक ऐसा विश्वास जागृत करता है, जिसके कारण मनुष्य कठिनता के क्षणों एवं पीड़ा तथा अत्याचार की दशा में अति निराश नहीं होता है।

## १५. अवतारवाद की अवधारणा का वैज्ञानिक विश्लेषण

आधुनिक युग में ज्ञान-विज्ञान के विकास के फलस्वरूप तथ्यों का अध्ययन वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रणाली में किया जाने लगा है, यों तो विज्ञान एवं मनोविज्ञान दोनों का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है फिर भी अध्ययन विधि की दृष्टि से दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा है।

अवतारवाद की अवधारणा साहित्य, दर्शन, जैवविज्ञान, मनोविज्ञान कला आदि ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं से सम्बद्ध होने के कारण अपना अन्तर्शास्त्रीय महत्व रखती है।

आज मनोविज्ञान में मनुष्य की अचेतन और अवचेतन प्रकृतियों का व्यापक अध्ययन हो रहा है। अनेक मनुष्यों की दमित कुंठाओं, वासनाओं

१. मोजेज मोनो, पृ० २०४

२. अन्डर ह्यू० नैचर, पृ० २६३



तथा अतृप्त इच्छाओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किये जा रहे हैं। धार्मिकों, भक्तों एवं कवियों की मनोवैज्ञानिक वृत्तियों का विश्लेषण होने लगा है। इसी क्रम में उन संस्कारगत मानव-प्रकृतियों का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है जिसने विश्व-साहित्य में एक बड़ी पौराणिक परम्परा (Mythic-Tradition) खड़ी कर दी है। जिस प्रकार मनुष्य की अवचेतन प्रवृत्तियों को प्रभावित करने में केवल उसकी अपनी दमित इच्छायें ही नहीं, अपितु उसका सांस्कृतिक परिवेश एवं परम्परागत अवधारणाएँ भी कार्य करती हैं। भारतीय पौराणिक साहित्य मात्र कुछ व्यक्तियों की इच्छा का प्रतिफल न होकर मानवीय संस्कृति की एक इकाई में निहित पारम्परिक आस्था, विश्वास, संकल्प, समाज-चेतना, राजभक्ति आदि का एक सम्मिलित रूप है। युंग ने उसे 'सामूहिक-चेतन' (Collective Consciousness) की संज्ञा प्रदान की।<sup>१</sup> अवचेतन मन में इन सभी की एकत्रित अवस्था को 'सामूहिक अवचेतन' भी कहा जा सकता है।

इस दृष्टि से यदि पौराणिक साहित्य पर विचार किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि पौराणिक साहित्य के उपादान भी मन के "सामूहिक-चेतन" और "सामूहिक अवचेतन" की तरह विभिन्न युगों के आवरणों में आवेष्टित उस सामूहिक चिन्तन धारा को व्यक्त करते हैं, जिसमें अवचेतन मन के विचारों की तरह शृंखलाबद्ध या विशृंखल दोनों प्रकार की परम्परागत अवधारणायें सन्निहित हैं और जो भारतीय साहित्य, दर्शन, विज्ञान, मनोविज्ञान और कला में पृथक् या मिश्रित सभी रूपों में व्यक्त हुई है। अतः अवचेतन का रहस्योद्घाटन करने के लिये जिन मनो-वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जा रहा है, उन्हीं विधियों का प्रयोग पौराणिक तथ्यों के उद्घाटन के लिये भी समीचीन प्रतीत होता है। निश्चय ही इन पौराणिक उपादानों का वैज्ञानिक समाधान खोजने में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। अतः विज्ञान या दर्शन के क्षेत्र में जिन विचारधाराओं को लेते हैं, उनमें से अधिकांश का विश्लेषण और अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आवश्यक है।

अवतारवादी धारणा में कुछ ऐसे तथ्य मिलते हैं जिनका मानव-शास्त्रीय ढंग से अध्ययन करना अनुचित नहीं होगा। यद्यपि बाह्यतः मानवशास्त्र और अवतारवाद में कोई वैज्ञानिक सम्बन्ध प्रतीत नहीं

१. युंग साइकोलोजी एण्ड इट्स सोशल मीनिंग, पृ० ५३-५४

होता है किन्तु पौराणिक रूढ़ियों और धारणाओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिये दोनों का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। अवतारवादी धारणाओं के प्रसंग में आने वाले कतिपय घटनात्मक कार्य व्यापार जैसे, बन्दरों द्वारा निर्मित पत्थरों का पुल, जंगल में निवास की परम्परा, वस्त्रों के रूप में वृक्षों की छाल एवं मृगछाला, वराह द्वारा दांत का प्रयोग, नृसिंह द्वारा नख का प्रयोग, वामन के हाथ में डंडा, परशुराम द्वारा परशु ( फरसा ) का उपयोग, राम द्वारा धनुषबाण धारण आदि उपकरण मानवशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर संकेत करते हैं। मानव-शास्त्र की तरह अवतारवाद की धारणा में भी विकास प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं और इससे मानव सभ्यता के विकास क्रम का पता चलता है। मानवशास्त्र एवं अवतारवाद में अन्तर केवल इतना है कि आज मानव-शास्त्र के उपकरण भूभौतिक, पदार्थगत तथा जीवों से सम्बद्ध हैं; जबकि अवतार में अपने युग की विशेषताओं से युक्त प्रतिनिधिक उपादान हैं।

## १६. पौराणिक सृष्टि और अवतार

पुराणों में जो सृष्टि का क्रम पाया जाता है उसमें तत्त्वज्ञान मनो-विज्ञान और जीवविज्ञान सभी का समन्वित रूप है। पौराणिक सृष्टिक्रम की चर्चा में, महाभारत में भौतिक, वानस्पतिक, जैविक, मानसिक और आध्यात्मिक सृष्टियों के उद्धरण मिलते हैं। भौतिक सृष्टि का विकास कश्यप एवं अदिति से सोम ( चन्द्र ), अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभास से माना गया है।<sup>१</sup> वानस्पतिक सृष्टिक्रम में बरगद, पीपल आदि वृक्षों को रखते हैं। महाभारत<sup>२</sup> में जैविक सृष्टि के प्रतीक पुलह से शरभ, सिंह, किम्पुरुष, व्याघ्र, रीछ, ईहामृग आदि पाये जाते हैं। मानसिक सृष्टि के प्रतीक रूप में कीर्ति, मेधा, श्रद्धा, लज्जा, मति, शान्त, शम, काम और हर्ष-तत्त्व महाभारत में उपलब्ध हैं।<sup>३</sup> अन्त में हम विष्णु से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति को आध्यात्मिक सृष्टि का विकास कह सकते हैं।

श्रीमद्भागवत में भी सृष्टि के विकासक्रम को उपरोक्त सभी विशेषतायें पाई जाती हैं। भागवत में कहा गया है कि सृष्टि के पूर्व समस्त भूमण्डल जल में व्याप्त था। मात्र विष्णु ही सभी प्राणियों के

१. महाभारत १/६६/१७-१८

२. वही, १/६६/८

३. वही, १/६६/१५; १/६६/२३; १/६६/३२

सूक्ष्म शरीर सहित जल में निमग्न थे। ऐसे समय में काल शक्ति ने विष्णु को प्रेरित किया<sup>१</sup>, जिसके परिणामस्वरूप अण्डरूप हिरण्यमय विराट-पुरुष का आविर्भाव हुआ<sup>२</sup> और वह विराट पुरुष अनन्त वर्षों तक सम्पूर्ण जीवों को साथ लेकर रहा।<sup>३</sup>

इस प्रकार हम विष्णु को विभुत्व का तो हिरण्यगर्भ को अणुत्व का द्योतक कह सकते हैं। हिरण्यगर्भ में अणुत्व के द्योतक के रूप में एक-कोशीय (Nicellar) प्राणी से अनन्तकोशीय प्राणी के रूप में विकसित होने की सम्भावनायें लक्षित हैं। भागवत में क्रमशः मुख, नाक, आँख, कान, त्वचा एवं रोम रूप तनु कोष द्वारा हिरण्यमय पुरुष के शारीरिक विकास क्रम को बताया गया है, जिसमें क्रमशः लिंग, वीर्य, गुदा, हाथ, चरण आदि भी उत्पन्न हुये<sup>४</sup>, तथा बुद्धि, अहंकार द्वारा उसके मानसिक विकास को परिलक्षित किया गया है।

महाभारत की तरह भागवत में भी सृष्टि के विकास क्रम को निम्न रूपों में बाँटा जा सकता है—

१. महत्  
२. अहंकार  
३. भूत  
४. इन्द्रियाँ

} यह आध्यात्मिक सृष्टि के तत्व हैं।<sup>५</sup>

५. सात्त्विक अहंकार (मन)

६. अविद्या, तम, मोह, आदि से जीवों के मानसिक विकास पर प्रभाव पड़ता है।<sup>६</sup>

७. वृक्षों एवं लताओं से वानस्पतिक विकास परिलक्षित होता है।

८. पशु-पक्षियों } के विकास को जैविक सृष्टि कह सकते हैं।<sup>७</sup>

९. मनुष्यों }

१. भागवत ३/९/१०

२. वही, ३/६/८

३. वही ३/६/६

४. वही ३/६/१८-२१

५. वही, ३/१०/१४-१६

६. वही, ३/१०/१७

७. वही, ३/१०/२१८-२२

१०. इस सृष्टि में देवता, पितर, असुर, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, सिद्ध, चारण, विद्याधर, भूत-प्रेत, पिशाच, किन्नर (ह्यमुख), किम्पुरुष (तुच्छ मानव) आदि से मानी गई है।

उपरोक्त सृष्टि क्रम से एक बात तो स्पष्ट नजर आती है कि इस सृष्टि क्रम से युग क्रम का बोध स्पष्ट नहीं होता, किन्तु वनस्पतियों एवं पशुओं के अनन्तर अश्व-मुख "किन्नर" तथा विकृत मानव "किम्पुरुष" हमें क्रमशः एन्थ्रोप्वायड और ह्युमनोआयड युग का भान कराते हैं। इनसे आदिम के विकास क्रम को जान सकते हैं। पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों में शब्दों एवं भाषाओं को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। इससे सृष्टि विकास का कोई क्रम स्पष्ट नहीं प्रतीत होता, किन्तु पौराणिक अवतार, सृष्टि प्रक्रिया और विकास के युग क्रम का द्योतन करते हैं।

विदुषी एनी वेसेंट ने अपनी अवतार नामक पुस्तक में अवतारों का निम्न क्रम में युग विभाजन किया है—

- |               |                 |
|---------------|-----------------|
| १. मत्स्ययुग  | (Silurian Age)  |
| २. कूर्मयुग   | (Amphibian Age) |
| ३. वराहयुग    | (Mammalian Age) |
| ४. नृसिंह युग | (Lemurian Age)  |

इसी प्रकार उन्होंने वामन आदि मानव अवतारों को विभिन्न विकास युगों के परिचायक रूपों में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

प्रसिद्ध जीवशास्त्री श्रीमानी ने अपनी पुस्तक Introduction to Zoology में प्रचलित प्रत्येक अवतार को अपने युग विशेष का द्योतक कहा है।<sup>१</sup> इनके मतानुसार कूर्म सरीसृप (Reptile—रेंगने वाले) युग, वामन—Pigmy anthropoids परशुराम—Primitive man or hunter राम-धनुषधारी या Marked man etc. तथा कृष्ण और बुद्ध परिष्कृत मानव के सूचक हैं। मानवशास्त्री श्री सत्यव्रत ने अपनी पुस्तक "मानव-शास्त्र" में भी अवतारवादी क्रम प्रस्तुत किया है। इनके मतानुसार प्रथम जलजीव मत्स्य, जल-थल में रहने वाला जीव कूर्म, जलप्रिय पशु-वराह, पशु-मानव मिश्रित रूप—नृसिंह, वौना मानवरूप—वामन, पूर्ण मानव प्रत्यय राम और कृष्ण बताये गये हैं।<sup>२</sup> इस प्रकार उपर्युक्त विभाजनों में अवतारवादी विकास क्रम दर्शाया गया है।

1. Introduction to Zoology, p. 709.

२. मानवशास्त्र, पृ० ४८

## १७. पौराणिक प्रतीक और विकासवादी उपादान

प्राकृतिक विज्ञानों के विकास और अवतारवादी विकासवाद में प्रमुख सम्य यह है कि दोनों में सूर्य से पृथ्वी का अवतरण और पृथ्वी पर जल-जीवों का आविर्भाव, जल-जीवों में जल पशु, जल-पशु से जल-स्थल उभय पशु, उभय पशु से सरीसृप पशु-पक्षी, सरीसृप से पशु, पशु से पशु-मानव, पशु-मानव से मानव, मानव से मेधावी मानव के आविर्भाव का क्रम मिलता है। दोनों अध्ययन-पद्धतियों में अन्तर यह है कि प्राकृत विज्ञान-वेत्ता एवं मानवशास्त्री जहाँ भूगर्भशास्त्र के द्वारा वस्तुनिष्ठ भौतिक पदार्थों या स्थूल शारीरिक पक्षों के विश्लेषण द्वारा सृष्टि या मानव सभ्यता का विकास निर्धारित करते हैं। वहाँ वैज्ञानिक दृष्टि से पौराणिक कथाओं के अध्ययन-कर्ताओं, विभिन्न युगों के अवतारों के प्रतिनिधि प्रतीकों के द्वारा अथवा उनकी शारीरिक संरचना और आत्मिक शक्तियों के आधार पर उनके विकास क्रम का निर्धारण करते हैं।

प्राकृतिक विज्ञान से प्राणी-विज्ञान तथा प्राणी-विज्ञान से मानव-विज्ञान या मानवशास्त्र का विकास हुआ है। प्राणी विकास के वैज्ञानिक अध्ययन का आधार वे फॉसिल्स (अस्थि कंकाल) हैं जो चट्टानों में दबे हुए मिलते हैं। इन्हीं अस्थि अवशेषों के अध्ययन से प्राणीय विकास के अध्ययन में सहायता मिलती है। इस प्रकार विकासवादी अध्ययन के लिए पाई गई पशुओं, बानरों, बनमानुषों और मनुष्यों को वे हड्डियाँ और खोपड़ियाँ हैं, जिनके आकार, प्रकार, कठोरता आदि के आधार पर वैज्ञानिकों ने प्राणियों का विकास क्रम निर्धारित किया है। आगे चलकर उनकी आदतों, कार्यों, स्वनिर्मित आयुधों, संगठनों रीति-रिवाजों, धर्म, कला, एवं विज्ञान आदि के आधार पर विकास क्रम को जाना गया है।

## १८. अवतार-प्रतीक सन्धियुग के द्योतक

अवतारवादी परम्परा में जो प्रतीक हुए हैं, वे जीव युग के विशेष प्रतिनिधि होने की अपेक्षा दो या दो से अधिक भूगर्भीय युगों के सन्धिकाल के प्रतिनिधि अधिक दिखाई देते हैं। जिस प्रकार लघुरूप मत्स्य का बढ़ते-बढ़ते वृहदाकार "यक शृंगतनु" रूप होना दो भूगर्भीय सन्धिकाल का द्योतक प्रतीक होता है। इस वृहदाकार मत्स्य में मत्स्य पूर्व और मत्स्य युग दोनों की विशेषतायें विद्यमान हैं। इसी प्रकार कूर्म भी मत्स्य युग और सरीसृप युग के बीच का प्रतिनिधि प्रतीक होता है

क्योंकि उसमें दोनों युगों की विशेषताएँ मौजूद हैं अर्थात् वह जल एवं स्थल दोनों जगह रह सकता है। वराह में भी सरीसृप (रेंगने वाले) युग के अन्तिम अवस्था के गुण—पेट का बड़ा होना, मुँह का लम्बा होना तथा “मैमिलियन” युग के पावों से दौड़ना तथा दुग्धपान कराना आदि गुण “रेपिटिलियन” और “मैमिलियन” युगों के सन्धिकाल के द्योतक प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार “नृसिंह” में “मैमिलियन” और “ऐन्थ्रोपोआयड” युग के सन्धिकाल के गुण अर्द्ध-पशु और अर्द्ध-मानव प्रतीत होते हैं। ‘वामन’ ‘ऐन्थ्रोपोआयड’ प्राणी के आकार का लघुमानव रूप का द्योतक है।

प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व-विज्ञानवेत्ता पूर्वपाषाण युग और नवपाषाण युग के बीच में एक सन्धि पाषाण युग (Mesolithic Period) मानते हैं।<sup>१</sup> इस युग तक मानव शिकारी-अवस्था के पश्चात् पशु-पालन एवं आंशिक कृषि अवस्था तक पहुँच चुका था। परशुराम इसी युग के प्रतीक थे। गाधि को ऋचीक द्वारा दिये अश्व तथा कामधेनु को लेकर परशुराम-सहस्रबाहु युद्ध पशु-पालन को द्योतित करते हैं।

राम युग में जन जाति पराक्रम के विकसित और अविकसित ऐसे दो रूप मिलते हैं जिनमें परस्पर संघर्ष होते रहते थे। इस युग में इन दो संस्कृतियों के समन्वय से आदर्श राजतन्त्र की स्थापना हुई। इस प्रकार राम पशुपालन युग और कृषि प्रधान राजतन्त्रोप समाज व्यवस्था के सन्धिकाल के प्रतीक कहे जा सकते हैं। राम का काल आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों के समन्वय का काल भी माना जा सकता है। कृष्ण के युग तक राजतन्त्र का बहुत ही विकास एवं प्रसार हो चुका था तथा जनतन्त्र का प्रारम्भ हो गया था। कृष्ण का अवतरण अनेक राज्यों के स्वार्थपरक संघर्षों के काल में होता है। इस प्रकार कृष्ण सामन्तवाद एवं साम्राज्यवाद के सन्धि युग के प्रतीक विदित होते हैं। जब मानवीय भोग-लिप्सा एवं भौतिक उपभोग्य सामग्रियों की प्रचुरता ने मानव की तृष्णा को अपनी चरम सीमा पर पहुँचा दिया, तब उस सम्पृक्त बिन्दु पर पहुँच कर भोगासक्त मानव में अहिंसा और अनासक्ति की भावना का उदय हुआ, बुद्ध इसी अवस्था के प्रतीक हैं। इस युग के परिचायक महावीर, कन्फ्यू-सियस, ईसा, जरथ्रुस्थ इत्यादि भी कहे गये हैं।

१. मानवशास्त्र, पृ० १००

वर्तमान युग में अनेतिक एवं भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रयत्न हो रहे हैं। इन स्वार्थों के पीछे आणविक युद्ध के बीज छिपे हैं और मानव जाति का संहार अवश्यम्भावी प्रतीत होता है। सम्भव है कि युद्ध के समाप्ति पर कल्कि का अवतार संस्कृति एवं सभ्यता में नयी प्रवृत्तियों की चेतना का उदय करे। इस प्रकार विभिन्न अवतार युग परिवर्तन की विभिन्न अवस्थाओं के स्रोतक हैं। यदि हम अवतारों की अवधारणा को जैविक विकास के आधार पर स्पष्ट करना चाहें तो हमें उसके पूर्व सृष्टि के विकास की प्रक्रिया को किसी सीमा तक समझना होगा। क्योंकि सृष्टि विकास की इस प्रक्रिया में भौतिक एवं वानस्पतिक विकास के पश्चात् ही जैविक और आध्यात्मिक विकास का क्रम आता है।

### १९. अवतारवाद का दर्शन

अवतारवाद की अवधारणा की तात्त्विक पूर्व मान्यता ( Postulate ) यह है कि परमसत् चेतन है, क्योंकि एक चेतन सत्ता ही विश्व के प्राणियों के प्रति करुणाशील होकर उनके उद्धार के लिए प्रयत्नशील हो सकता है। साथ ही उस परमसत्ता का “परिणामी” होना आवश्यक है क्योंकि यदि परमतत्त्व चैतन्य होते हुए भी निर्विकार और कूटस्थ होगा तो भी ‘अवतार की अवधारणा’ सम्भव नहीं है। क्योंकि ऐसी अपरिणामी शुद्ध चेतन सत्ता का शरीर धारण करना सम्भव नहीं है। शरीर धारण करना और विश्व के प्राणियों के सुख-दुःख से प्रभावित होकर उनके प्रति करुणाशील होना किसी परिणामी चेतन सत्ता के तात्त्विक अवधारणा में ही युक्तिसंगत हो सकता है। निर्विकार चेतन तत्त्व करुणा, संकल्प या इच्छा से भी रहित होता है और बिना इच्छा के उसका अवतरण और शरीर धारण सम्भव नहीं होगा। अतः अवतारवाद की अवधारणा का यह अनिवार्य फलित है कि परमतत्त्व—परम कारुणिक चेतन एवं परिणामी है। यही कारण है कि अवतारवाद की धारणा रामानुज, वल्लभ, मध्व आदि के दर्शनों में ही युक्तिसंगत सिद्ध है। शंकर के अनुसार परमसत्ता चैतन्य तो है किन्तु वह निर्विकार है अतः उसमें अवतरण जो कि स्वतः ही एक परिवर्तन है सम्भव नहीं होता। शंकर के निरपेक्ष अद्वैतवादी दार्शनिक चौखटे में अवतारवाद की अवधारणा को सुसंगत बनाने के लिए अवतार को माया से युक्त मात्र व्यावहारिक सत्ता मानना होगा। अवतारवाद की अवधारणा के लिए यह भी आवश्यक है कि परमतत्त्व या ईश्वर सगुण एवं साकार भी है। यही कारण था कि परवर्ती निर्गुणधारा के सन्तो ने अवतारवाद की समा-

लोचनार्ये की हैं । अवतारवाद की अवधारणा उसी दर्शन में अधिक सुसंगत बन पड़ती है जहाँ परमतत्त्व को चैतन्य भेद युक्त ( चाहे वह स्वगत भेद ही क्यों न हो ) तथा करुणाशील, सगुण और साकार माना जाता है ।

पुनः अवतारवाद की अवधारणा ( Teleological Creation ) के सिद्धान्त प्रयोजनशील सृष्टि में सुसंगत हो सकते हैं । भौतिकवाद में अथवा उन दर्शनों में जहाँ सृष्टि को निष्प्रयोजन एवं स्वाभाविक (Natural) माना गया है, अवतारवाद को अवधारणा समीचीन सिद्ध नहीं होती है क्योंकि परमसत्ता अथवा ईश्वर का अवतरण किसी प्रयोजन विशेष को लेकर ही होता है । सृष्टि की रचना, पालन और संहार तथा समय-समय पर अवतार लेकर उसको दुष्टों एवं दुर्जनों के अत्याचार से मुक्त करना तथा धर्म की संस्थापना करना यह सभी उस परमतत्त्व की या ईश्वर के प्रयोजनशीलता पर ही निर्भर करते हैं । अवतारवाद का दर्शन परमतत्त्व ईश्वर में और उसकी सृष्टि में एक किसी विशिष्ट प्रयोजन को देखता है और यह मानता है कि सृष्टि में स्रष्टा का कोई प्रयोजन निहित है । स्रष्टा और उसकी सृष्टि उद्देश्यहीन अन्ध प्रक्रिया नहीं है अपितु स्रष्टा और उसकी सृष्टि दोनों ही सप्रयोजन हैं यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि सृष्टि की प्रक्रिया में स्रष्टा की इच्छा या संकल्प है तो वह पूर्ण नहीं कहा जा सकता । किन्तु यहाँ हम इस आक्षेप के पक्ष और विपक्ष के तर्कों की समीक्षा नहीं करते हुए मात्र इतना ही कहना चाहेंगे कि जब भी हम अवतारवाद की अवधारणा को स्वीकार करके चलेंगे तो हमें निश्चित ही सृष्टि प्रक्रिया और उसके पालन में किसी प्रयोजनशीलता को स्वीकार करना होगा, चाहे उसे हम ईश्वर की लीला ही क्यों न मानें । संक्षेप में, अवतारवाद का दर्शन परमसत्ता को चैतन्य परिणामी, करुणाशील, सगुण और साकार मानकर चलता है, साथ ही यह भी मानता है कि विश्व की सृष्टि में स्रष्टा का प्रयोजन निहित है ।

दूसरे अवतारवाद के दर्शन में किसी सीमा तक नियतिवाद के तत्त्व समाविष्ट होते हैं क्योंकि अवतारवादी दर्शन ईश्वर को विश्व का नियामक और संचालक मानता है । यदि ईश्वर विश्व का नियामक है तो हमें विश्व घटनाक्रम में किसी सीमा तक नियति का तत्त्व मानना होगा । गीता<sup>१</sup> में श्रीकृष्ण स्वयं यह कहते हैं कि मैं इस विश्व को ठीक उसी प्रकार चला रहा

## १. गीता, अध्याय १८



जैसे कि कठपुतली की गतिविधियां उसके चालक द्वारा संचालित होती हैं। रामचरितमानस में अनेक स्थानों पर इस प्रकार से नियतिवाद के दर्शन होते हैं। उसमें कहा गया है कि—

उमा दारु योषित को नाई, सबहि नचावत राम गोसाई ।

अथवा

होईहैं वही जो राम रचि राखा, को कर तरक बड़ावहि साखा ।

अवतारवादी दर्शन में कभी-कभी तो यह नियतिवाद का पक्ष इतना प्रबल हो जाता है कि स्वयं अवतारवाद भी नियति का एक घटना-क्रम बन जाता है तथा सर्वसमर्थ परमतत्व भी उन्हीं स्थितियों से गुजरता है जिनसे एक सामान्य मानव को गुजरना होता है। अवतारवादी विचारकों ने राम-कृष्ण आदि के जीवन की अनेक घटनाओं का तर्कसंगत समाधान अन्ततः नियति की अवधारणा में खोजने का प्रयास किया है।

अवतारवाद के दर्शन में पुरुषार्थ का तत्त्व कम होकर नियति की प्रधानता इसलिए भी हो जाती है कि मनुष्य किसी ऐसे उद्धारक में विश्वास करने लगता है जो कष्टनाशक होकर उसे दुःख, पीड़ा और अत्याचार से मुक्त करावेगा। अवतारवादी दर्शन मनुष्य को ईश्वर का आश्रित बनाता है और उसे पूर्णतया ईश्वर के प्रति समर्पित होने की बात कहता है। आश्रितता और समर्पण को इस भावना में पुरुषार्थ का तत्त्व प्रधान नहीं बन पाता। यद्यपि गीता में हमें आत्मा द्वारा आत्मा के उद्धार का संकेत मिलता है किन्तु उससे आगे बढ़कर गीता में स्वयं कृष्ण यह कहते हैं कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥<sup>१</sup>

तब हम पुरुषार्थ की प्रधानता नहीं देखते। अवतारवाद का दर्शन केवल हमें इतना ही सिखाता है कि हमें ईश्वरीय इच्छा का एक यन्त्र बनकर कार्य करना है।

पुनः अवतारवाद की अवधारणा में ज्ञान, भक्ति और कर्म में भक्ति ही प्रधान स्थान को प्राप्त करती है। यदि ज्ञान और कर्म के महत्त्व को स्वीकार भी करें, फिर भी हमें इतना तो मानना होगा कि उसमें भक्ति

का तत्त्व प्रधान होता है। उसमें ज्ञान और कर्म दोनों ही भक्ति के आधीन होते हैं। अतः यह मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए कि अवतारवाद का दर्शन मुख्यतः भक्तिमार्ग का दर्शन है। उसमें भक्ति का स्वर ही प्रमुख है; वहाँ ज्ञान की प्राप्ति भी ईश्वरीय करुणा पर निर्भर है। अवतारवाद की अवधारणा में व्यक्ति का कार्य तो केवल इतना ही है कि वह ईश्वरीय लीला में उसकी इच्छा के अनुरूप उस लीला का पात्र बने और ईश्वरीय इच्छा के अनुसार अपने दायित्वों का निर्वाह करे। व्यक्ति के स्वतन्त्र इच्छा एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रणाली का उसमें कोई स्थान नहीं।

यद्यपि इस कमी के बावजूद अवतारवाद के दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह दुःख, पीड़ा और अत्याचार की दशा में भी साहस और संबल प्रदान करता है एवं उसे निराश होने से बचाता है। जो साधक अवतार के इस सिद्धान्त में निश्चल धारणा रखता है, वह निराश नहीं होता है। वह यह मानकर चलता है कि ईश्वरी सत्ता उसके साथ है और वह निश्चय ही उसका उद्धार करेगी। अतः हमें इतना तो अवश्य मानना होगा कि अवतारवाद एक निराशावादी दर्शन न होकर एक आशावादी दर्शन है।

## २०. अवतार का प्रयोजन

प्रारम्भ से ही अवतारवाद प्रयोजन से निहित रहा है। भगवान् ने अपनी इच्छा से शरीर धारण कर विभिन्न लीलाएँ की हैं और उनके विभिन्न शरीर धारण का समस्त कार्य-काल किसी न किसी प्रयोजन से सम्बद्ध रहा है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्रायः उनके सभी प्रयोजनों को समाविष्ट करने का प्रयास किया है।

सर्वप्रथम वैदिक विष्णु और इन्द्र आदि देवताओं के प्राचीन कार्य की व्याख्या की गई है, अवतार की अवधारणा में इनको विष्णु के अवतारों एवं उनके सहायकों पर आरोपित किया गया। विशेषकर भक्त, भूमि, भूसुर (ब्राह्मण), सुरभि (गाय) और सुर<sup>१</sup> आदि शब्दों से वैदिककाल में विष्णु के सम्बन्ध में कहे गये कुछ मन्त्रों से साम्य प्रतीत होता है।

१. भगत भूमि भूसुर, सुरहित लागि कृपाल ।

करत चरित धरि मनुज-तनु, सुनत मिटहि जंजाल ॥

—तुलसीदास, ग्रन्थावली, पृ० ९५, दो० १२३

ऋग्वेद में भू शब्द से विष्णु के तीन पादों का क्रम मिलता है जिसके कारण उनको त्रिविक्रम कहा गया है।<sup>१</sup> कुछ मन्त्रों में विष्णु को जगत् का रक्षक एवं समस्त धर्मों का धारक कहा गया है।<sup>२</sup> विष्णु के कार्यों के बल पर ही यजमान अपने व्रतों का अनुष्ठान करते हैं, वे इन्द्र के सखा कहे गए हैं।<sup>३</sup> स्तुति करने वाले और मेधावी मनुष्य विष्णु के उस परम पद से अपने हृदय को प्रकाशित करते हैं।<sup>४</sup> एक मन्त्र में विष्णु से उन्मत्त शृंगवाली और शीघ्रगामी गायों के स्थान में जाने के लिए प्रार्थना की गई।<sup>५</sup> इसी प्रकार एक मन्त्र में देवताओं को विष्णु का अंश कहा गया है।<sup>६</sup> इन्द्र जब शम्बरासुर को ९९ दृढ़ पुरियों को नष्ट करते हैं तब विष्णु उनकी सहायता करते हैं।<sup>७</sup>

महाकाव्य काल में विष्णु के अवतरण का मुख्य प्रयोजन देव-शत्रु का वध करना है।<sup>८</sup> किन्तु गोस्वामी जी के अनुसार विष्णु के अवतार राम का मुख्य प्रयोजन विप्र, धेनु, सुर, सन्त आदि सभी के निमित्त असुरों का

१. अतोदेवा अवन्तु नो यतो विष्णु विचक्रमे ।  
पृथिव्याः सप्त धामाभिः ॥ —ऋग्वेद १/२२/१६
२. त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाम्यः ।  
अतो धर्माणि धारयन् ॥ —वही, १/२२/१८
३. विष्णोः कर्माणि पश्चत य तो व्रतानि चस्पर्श इन्द्रस्य युज्यः सखाः ।  
—वही, १/२२/२९
४. तद् विप्रातो विपन्यवो जागृवंशसः समिन्यते । विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥  
—वही, १/२२/२१
५. ता वां वास्तुन्युशासि गमर्ध्वै यत्र गावौ भूरि ऋङ्गा अयासः ।  
अत्राह तदुक्तायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥  
—वही, १/१५/४६
६. अस्य देवस्य मीड हुषो वया विष्णोरेषण्य प्रमृयेहर्बिभिः ।  
विदेहि रुद्रीं हृद्वियं महित्यं यासिहं वत्तिरश्विनाबिरावत् ॥  
—वही, १/४०/५
७. ऋग्वेद, ९/९९/५
८. 'वधाय देव शत्रूणां नृणां लोके मनः करु ।  
एव मुक्तस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुंगवः ॥'  
—वाल्मीकि रामायण, १/१५/२५

वध करना है।<sup>१</sup> गीता में धर्म के पतन का कारण असुरों का उत्थान कहा गया है और धर्म की रक्षा ही मुख्य प्रयोजन है। इस प्रकार गीता में धर्मोत्थान के लिए अवतार को आवश्यक माना गया है।<sup>२</sup> गीता और रामचरितमानस में पुनः साधुओं के परित्राण, दुष्टों के विनाश और धर्म की संस्थापना को युग-युग में आवश्यक माना गया है।<sup>३</sup> वैदिक, महाकाव्य और गीता तीनों में ही असुरों का विनाश मूलरूप में उनके अवतार का प्रयोजन रहा है, फिर भी इन पर समय-समय पर सम्प्रदाय विशेष का स्पष्ट प्रभाव प्रदर्शित होता है। वैदिक काल में विष्णु पहले महान् देवता के रूप में थे अन्त में वे उपास्य रूप में ग्रहीत होते गए और इनका सम्बन्ध भक्ति, भक्त और भाव से होता गया, जिसके फलस्वरूप विष्णु या उनके अवतार का मुख्य प्रयोजन अहेतुक<sup>४</sup> अथवा भक्तों के प्रेमवश<sup>५</sup> या भक्तिवश<sup>६</sup> प्रतीत होता है। इस प्रकार अवतारवाद और भक्ति का समन्वय पुराणों में जगह-जगह देखने को मिलता है। भक्त के निमित्त अवतारवाद की अवधारणा यद्यपि अधिक प्रचलित हुई फिर भी पुराणों में वेद, ब्राह्मण, देवता, पृथ्वी और गोरक्षा को भावना विद्यमान रही है।

१. “विप्र धेनु सुरसंत हित लीन्ह मनुज अवतार ।  
असुर मारि थापहि सुरन्ह राखहि निज श्रुति सेतु ॥”  
जगविस्तारहि विपद जस राम जन्मकर हेतु ॥” —रामचरितमानस ।
२. “यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।  
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥” —गीता, ४/७
३. “परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।  
धर्मं संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥” —बही, ४/८  
“जब जब होई धरम की हानी । बाढहि असुर अधम अभिमानो ।  
करहि अनोति जाइ नहि बरनी । सीदहि विप्र धेनु सुत घरनी ।  
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा । हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा ॥”  
—रामचरितमानस ।
४. हेतु रहित जग जगु उपकारी । तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ।  
—बही
५. हरि व्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम तें प्रकट होहि मैं जाना ।  
—बही
६. व्यापक विश्व रूप भगवाना । तेहि धरि देह चरित कृत नाना ।  
सो केवल भगतन हित लागी । परम कृपाल प्रमत अनुरागी ॥  
—बही

२४८ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर अवतारवाद में भक्ति का प्राधान्य रहा है तो दूसरी ओर विष्णु और उनके रामकृष्णादि उपास्य रूपों का भी प्रचलन रहा है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप एक ओर विष्णु ने असुरों का संहार किया तो दूसरी ओर जय-विजय राक्षस विष्णु-पार्षद एवं द्वारपालों के अवतार माने गये। “भागवत” की एक कथा के अनुसार सनकादि के शाप के कारण उनका अवतार हुआ।<sup>१</sup>

इस प्रकार अवतार का मुख्य प्रयोजन असुरों का विनाश एवं धर्म की संस्थापना करना रहा है।

## २१. अवतार को धार्मिक एवं सामाजिक उपादेयता

१. किसी व्यक्ति को ईश्वरीय अवतार अथवा ईश्वरीय अंश मानकर उसके उद्देश्यों एवं तार्किक सिद्धान्तों की प्रमाणिकता दा जा सकती है, क्योंकि ईश्वर का अवतार होने से उसके वचन प्रमाण होंगे।

२. किसी व्यक्ति को ईश्वर का अवतार मानकर उसके प्रति धार्मिक आस्था को बलवती बनाया जा सकता है।

३. किसी सम्प्रदाय या धार्मिक परम्परा में धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं को उसके आधार पर पुष्ट किया जा सकता है तथा मनुष्य को उसके प्रति अधिक श्रद्धालु बनाकर किसी धार्मिक सम्प्रदाय को जीवित या खड़ा किया जा सकता है।

४. किसी व्यक्ति के ईश्वरावतार होने पर उसके आसपास उपासकों एवं भक्तों का ऐसा समूह खड़ा हो जाता है, जो उन भक्तों में एक विशेष प्रकार की सामाजिक चेतना को जागृत करता है, उसके प्रति आस्थावान व्यक्ति आपस में एक दूसरे के प्रति भाई-चारे का व्यवहार करते हैं और इस प्रकार एक समाज सृजित होता है।

५. मनुष्य स्वभावतः जब भी कठिनाई, पीड़ा या अत्याचार का शिकार होता है तो किसी आश्रय या सहारे की खोज करता है और ईश्वर की ओर विशेष रूप से; ऐसी स्थिति में ईश्वर की अवधारणा उसे मनोवैज्ञानिक संबल प्रदान करती है। उसे यह विश्वास होता है कि कोई ऐसी शक्ति है जो उसके अथवा मानव समाज के उद्धार हेतु पृथ्वी पर अवतरित होगी।

---

१. भागवत ३/१५

## २२. अवतार और लोक कल्याण

हिन्दू परम्परा, विशेष रूप से गीता में ईश्वरीय अवतार का प्रयोजन लोक कल्याण माना गया है। गीता में इस लोक कल्याण की भावना को लोक संग्रह शब्द द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। गीता में श्रीकृष्ण स्वयं अपने अवतार का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि "हे अर्जुन ! जब जब संसार में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अवतार ग्रहण करता हूँ, मैं साधु पुरुषों के उद्धार के लिए, दुष्ट जनों के विनाश के लिए, युग-युग में प्रकट होता रहता हूँ" उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अवतार का मूलभूत प्रयोजन सत् पुरुषों का कल्याण करना ही है, दुष्टों का विनाश और धर्म की स्थापना भी सज्जनों के कल्याण के लिए ही की जाती है। गीता के अनुसार लोक कल्याण के लिए कर्म करना बन्धन का कारण नहीं है। श्रीकृष्ण लोकहित के लिए अर्जुन को कर्म करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं<sup>१</sup>, हे पार्थ, मुझे तीनों लोकों में कुछ भी करना शेष नहीं है किंचित् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है तो भो मैं कर्म करता रहता हूँ क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कदाचित् कर्म न करूँ तो मेरा अनुसरण करके प्रजा भी मेरा अनुसरण करेगी, अर्थात् निष्क्रिय हो जायेगी।<sup>२</sup> यदि मैं कर्म न करूँ तो लोक की सारी व्यवस्था नष्ट हो जावेगी और मैं वर्णसंकर करने वाला तथा इस समस्त प्रजा का हनन करने वाला बनूँगा।<sup>३</sup> क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जिस प्रकार का आचरण करता है अन्य जन भी उसी का अनुसरण करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष द्वारा किया गया कार्य लोक में प्रमाणभूत होता है और दूसरे लोग उसका अनुवर्तन करते हैं। इस दृष्टि से बिना किसी आकांक्षा और अपेक्षा, लोकमंगल के लिए कर्म करना आवश्यक है। इसी

१. "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥"—गीता, ३/२१

२. "न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।

नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥"—बही, ३/२२

३. "यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥"—बही, ३/२३

४. "उत्सोदियुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥"—बही, ३/२४

तथ्य को और स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस प्रकार कर्म में आसक्त हुए संसारी, अज्ञानी जन जैसे कर्म करते हैं उसी प्रकार विद्वान् को भी लोक कल्याण के लिए अनासक्तभाव से कर्म करना चाहिए।<sup>१</sup> गीता स्पष्टरूप से इस बात का भो प्रतिपादन करती है कि लोककल्याण के लिए ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह लोगों को कर्म से विमुख न करे अपितु उन्हें योग्य विधि से कर्म करने हेतु प्रेरित करे।<sup>२</sup> इस प्रकार सामान्य रूप से समग्र हिन्दू धर्म का विशेष रूप से गीता का यह संकेत है कि लोक मंगल के लिए कर्म करना ईश्वर का और ज्ञानी जनों का अनिवार्य कर्तव्य है। यद्यपि व्यक्ति लोकमंगल के लिए कर्म नहीं करता है तो वह लोक का विनाश करने वाला माना जाता है। ईश्वर भी लोकमंगल के लिए समय-समय पर अवतार लेकर लोक के हित का साधन करते हैं।<sup>३</sup> उसके भी मूलभूत दो उद्देश्य हैं प्रथम तो लोक का कल्याण करना और दूसरा ससार के मम्मूख एक आदर्श स्थापित करना जिससे लोग लोककल्याण से विमुख न बनें। श्रीकृष्ण का यह कहना कि यदि लोकमंगल के लिए कार्य न करूँ तो लोक का विनाश करने वाला बनूँ, बहुत ही महत्वपूर्ण संकेत देता है। वह एक ओर स्वयं लोकमंगल को साधता है तो दूसरी ओर अपने जीवन में लोगों के सामने एक ऐसा आदर्श उपस्थित कर देता है जिससे अन्य जनों के लिए भी लोकमंगल की प्रेरणा मिले।

### २३. अवतारवाद में भक्तितत्त्व या श्रद्धा का प्राधान्य

गीता में श्रद्धा या भक्ति को प्रथम स्थान दिया गया है। गीताकार का कथन है कि श्रद्धावान ही ज्ञान प्राप्त करता है अथवा ज्ञान का अधिकारी है।<sup>४</sup> यद्यपि ज्ञान की महिमा का विशद विवरण गीता में

१. "सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत  
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥"—गीता, ३/२५
२. "न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।  
जोषयेत्सर्वकर्मणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥"—वही, ३/२६
३. "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।  
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥"—वही ३/२०
४. "तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।  
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥"—वही, १०/१०

उपलब्ध है फिर भी ज्ञान श्रद्धा से ऊपर अपना स्थान प्राप्त नहीं कर सका बल्कि श्रद्धा पर आश्रित माना गया, श्रद्धाशील को ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि निरन्तर मेरे ध्यान में लीन और प्रीतिपूर्वक भजने वाले लोगों को मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझको प्राप्त कर लेते हैं।<sup>१</sup> इस प्रकार हम ज्ञान को श्रद्धा का प्रतिफल कह सकते हैं। अतः गीता का मन्तव्य है कि यदि साधक श्रद्धा या भक्ति का सम्बल लेकर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़े तो उसे ईश्वरीय दया के रूप में ज्ञान प्राप्त हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि श्रद्धायुक्त भक्तजनों पर कृपा करने के लिए मैं स्वयं उनके अन्तःकरण में प्रवेश कर ज्ञानरूपी प्रकाश से अज्ञानजन्य अन्धकार को नष्ट कर देता हूँ।<sup>२</sup>

भक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होता है और भक्ति या समर्पण भाव से किया गया कर्म भी बन्धन नहीं होता है। निष्काम कर्म वस्तुतः समर्पण या भक्ति से निःसृत कर्म है।

वस्तुतः गीता में कर्म और ज्ञान को भक्ति से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। गीता कहती है कि कर्मफल को ईश्वर को अर्पित करते हुए जीव को कर्म करना चाहिए।

“स्वकर्मणा तमभ्यर्च्यं सिद्धिं विन्दति मानवः।”<sup>३</sup>

“स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।”<sup>४</sup>

अपने-अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य सिद्धि या मुक्ति को प्राप्त करता है। कर्म करते समय उसकी भावना यह होनी चाहिए कि वह अपने कर्मों द्वारा भगवान् की अर्चना (पूजा) कर रहा है अथवा देवी आदेश के रूप में कर्म कर रहा है। इसी में कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग का समन्वय है।

गीता में स्वयं श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मेरे लिए ही कर्म करने वाला, आसक्तिहीन, सब प्राणियों में वैर-रहित मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त

१. गीता, १०/१०

२. “तेषामेवानुक्तम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।”-वही, १०/११

३. वही, १८/४६

४. वही, १८/४५



होता है।<sup>१</sup> अतः “तू मेरे में मन लगा और मेरे में ही बुद्धि को लगा, इसके उपरान्त तू मेरे में ही निवास करेगा अर्थात् मेरे को ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।”<sup>२</sup> मेरा आश्रय लेने वाला पुरुष सारे कर्मों को करता हुआ भी मेरे अनुग्रह से शाश्वत पद को प्राप्त होता है।<sup>३</sup> हे अर्जुन, तुम सब धर्मों अर्थात् वर्णाश्रम धर्मों को त्यागकर सिर्फ मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सारे पापों से मुक्त कर दूंगा, तुम सोच मत करो।<sup>४</sup> यहाँ हमें भक्ति की प्रधानता स्पष्टरूप से दृष्टिगत होती है।

## २४. अवतारवाद के सन्दर्भ में नियति और पुरुषार्थ

दार्शनिक दृष्टि से अवतारवाद की अवधारणा के साथ नियति और पुरुषार्थ का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। अवतारवाद में सामान्यतया ईश्वर को विश्व का संचालक और नियामक मान लिया जाता है। जब ईश्वर विश्व का नियामक और संचालक है साथ ही सर्वशक्तिमान भी है तो फिर स्वाभाविक रूप से विश्व के सारे क्रिया-कलाप उसी की इच्छा या लीला के परिणाम हैं। गीता<sup>५</sup> में श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हे अर्जुन, ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में स्थित होकर सभी प्राणियों को उसी प्रकार भ्रमण कराता है जिस प्रकार यन्त्र पर आरूढ़ कठपुतली भ्रमण करती है, इसी बात को तुलसीकृत रामचरितमानस में निम्न शब्दों में कहा गया है—

उमा दारु जोषित को नाई। सबहि नचावत रामु गोसाईं।

हम उपयुक्त सिद्धान्त को स्वीकार करके यह मान लेते हैं कि समग्र विश्व ईश्वरीय इच्छा से संचालित है तो हमें अनिवार्य रूप से इस बात को भी स्वीकार करना हागा कि व्यक्ति को कोई स्वतन्त्रता नहीं है।

१. गीता, ११/५५

२. “मथ्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

निवसिष्यसि मथ्येव अत उद्वं न संशयः ॥”—वही

३. “सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्वचपाश्रयः।

मत्प्रसादादावाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥”—गीता, १८/५६

४. “सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥”—वही, १८/६६

५. “ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥”—वही, १८/६१

गीता में अनेक स्थानों पर अर्जुन को यह समझाया गया है कि ईश्वरीय इच्छा, काल अथवा प्रकृति के कारण अवश्य हैं, उसे तो अपने को ईश्वरीय इच्छा का निमित्त मात्र बनकर कार्य करना है, किन्तु यदि व्यक्ति को अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं है और वह स्वतन्त्र रूप से कुछ भी नहीं कर सकता है, तो ऐसी स्थिति में हम उसे अपने शुभाशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी भी नहीं बना सकते हैं, परिणामस्वरूप कर्मसिद्धान्त और ईश्वरीय दंड व्यवस्था निरर्थक हो जाती है। यदि ईश्वर अपनी इच्छा स्वयं को शुभाशुभ कर्मों में नियोजित करता है तो व्यक्ति अपने शुभाशुभ के लिए उत्तरदायी कैसे हो सकता है। इस प्रकार ईश्वरवाद, नियतिवाद का पर्यायवाची बन जाता है। जैन और बौद्धों ने ईश्वरवाद पर नियतिवाद के आरोप लगाये हैं। यह निश्चित ही किसी सीमा तक सत्य है कि ईश्वरवाद में पुरुषार्थ का मूल्यांकन सम्यक् प्रकार से नहीं हो पाता है, क्योंकि पुरुषार्थ की अवधारणा स्वतन्त्र प्रकृति की क्षमता पर ही विकसित होती है।

पुनः अवतारवाद में ईश्वरीय कृपा को बहुत महत्त्व दिया जाता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि ईश्वरीय कृपा से व्यक्ति के सभी काम सहज हो जाते हैं। यह बात भी सत्य है कि कृपा की अवधारणा में पुरुषार्थ का महत्त्व कम हो जाता है। प्रभु की जिस पर कृपा हो जाती है वह अप्रयास ही सब कुछ पा लेता है। रामचरितमानस में भी कहा गया है कि—

“मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिवर गहन।”

सूरदास ने भी अपने पदों में ईश्वरीय कृपा के बारे में कहा है—

“जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे, अन्धे को सब कुछ दर्शायो।”

इस प्रकार अवतारवाद में ईश्वर को नियामकता और ईश्वरीय कृपा ही ऐसे तत्त्व हैं जो पुरुषार्थ की अवधारणा को कुंठित करते हैं और व्यक्ति को भाग्यवादी या नियतिवादी बनाते हैं, किन्तु यह मानना कि अवतारवाद या ईश्वरवाद नियतिवाद का समर्थक है तथा पुरुषार्थ की अवधारणा को कुंठित करता है, समुचित नहीं है। यह सही है कि अवतारवाद में ईश्वर विश्व का नियामक और कृपालु है किन्तु उसकी नियामकता का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य को कोई स्वतन्त्रता ही नहीं है, ईश्वर ने मनुष्य को सीमित स्वतन्त्रता प्रदान की है और वह अपनी इस सीमित स्वतन्त्रता का सम्यक् उपयोग करते हुए पूर्ण स्वतन्त्र भी हो सकता है।

गीता में श्राकृष्ण अर्जुन का सब कुछ समझाने के बाद अन्त में कहने हैं कि—

“यथेच्छसि तथा कुरु ॥”<sup>१</sup>

जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर। अर्जुन को दी गई यह स्वतन्त्रता सभी मनुष्यों के लिए है और इसी आधार पर उसे पुरुषार्थ की प्रेरणा भी दी गई है। डा० राधाकृष्णन् ने गीता की व्याख्या में मनुष्य पर नियति का कितना शासन है और उसमें कितनी स्वतन्त्रता है उसको स्पष्ट करने के लिए ताश के खेल का उदाहरण दिया है। वे कहते हैं कि पत्ते हमें बाँट दिए गए हैं यहाँ तक हम पर नियति का शासन है किन्तु जो पत्ते हमें मिले हैं उनके द्वारा खेल खेलने को हमें स्वतन्त्रता है, एक अच्छा खिलाड़ी खराब पत्तों द्वारा भी खेल को जीत को ओर ले जाता है तो एक अच्छे पत्ते पाने वाला खिलाड़ी खराब खेल के कारण जीतो हुई बाजी हार जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वरवाद व्यक्ति को सम्पूर्ण स्वतन्त्रता को कुण्ठित नहीं करता अपितु व्यक्ति को सीमित स्वतन्त्रता देकर उसे पूर्ण स्वतन्त्रता की दिशा में स्वयं के पुरुषार्थ से बढ़ने की प्रेरणा देता है। ईश्वरीय कृपा भी पुरुषार्थ की विरोधी नहीं है। ईश्वरीय कृपा अकारण ही किसी व्यक्ति पर नहीं बँटती है। यह तो व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ होता है कि वह उस कृपा को अर्जित कर लेता है। ईश्वरीय कृपा को अर्जित करना, यही व्यक्ति का पुरुषार्थ है। अतः ईश्वरवाद या अवतारवाद न तो एकान्त रूप से नियतिवाद का समर्थक है और न पुरुषार्थवाद का ही विरोधी है। एक कहावत है कि ईश्वर उन्हीं की मदद करता है जो अपनी मदद करते हैं—अर्थात् जो स्वयं प्रयत्न करता है।

“God helps those, who help themselves.”



## तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणा : तुलनात्मक अध्ययन

### १. अवतार, तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणाओं का

#### तुलनात्मक विवेचन

भारतीय साहित्य का प्राचीनतम भाग वेद है। यह सुनिश्चित सत्य है कि वेदों का काल लगभग १००० ई० पू० तक है। यह बहुदेववाद का युग है। वेदों में यद्यपि हमें विष्णु का नाम मिलता है किन्तु वैदिक विष्णु इन्द्र, प्रजापति आदि के समान एक देवता मात्र हैं। वैदिक काल में भी मनुष्य जाति की रक्षा और कल्याण के लिये विभिन्न देवताओं की उपासना की जाती थी। आगे चलकर अनेक देवताओं में एक देव प्रमुख बना और वही परवर्ती युग में आकर अवतारवाद का आधार बना। प्रारम्भ में इन्द्र और प्रजापति को महत्त्व मिला, किन्तु आगे चलकर विष्णु प्रधान देव बन गये और विभिन्न अवतारों रूपों का सम्बन्ध उनसे जोड़ा गया। विष्णु के जिन विभिन्न अवतारों की चर्चा हमें उपलब्ध होती है, उनमें वराह अवतार और उनके पृथ्वी के उद्धार सम्बन्धी कथानक का सन्दर्भ हमें अथर्ववेद में मिलता है। मत्स्य, कूर्म और वामन के आख्यान तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मणों में भी मिलते हैं, यद्यपि इनमें मत्स्य, कूर्म और वामन का सम्बन्ध विष्णु की अपेक्षा प्रजापति से जोड़ा गया है। ऋग्वेद और बृहदारण्यक उपनिषद् में इन्द्र के द्वारा माया रूप ग्रहण करने की चर्चा भी हुई है। सम्भवतः इसी आधार पर आगे चलकर अवतारों की कल्पना विकसित हुई होगी। औपनिषदिक साहित्य में यद्यपि स्पष्टरूप से हमें अवतारवाद की अवधारणा प्राप्त नहीं होती, किन्तु केनोपनिषद् में ब्रह्म के यक्ष रूप में प्रकट होने का हमें उल्लेख मिलता है। वस्तुतः अवतारवाद की अवधारणा का विकास भागवत धर्म के साथ ही हुआ, चाहे उसके बीज वैदिक और औपनिषदिक साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे हुए रहे हों। ऐतिहासिक दृष्टि से अवतारवाद की अवधारणा का विकास ई० पू० दूसरी शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी के बीच ही हुआ है। यही काल जैनों में तीर्थंकरों की अवधारणा के विकास का और बौद्धों में बुद्ध और बोधिसत्व की अवधारणा के विकास का है। वे सभी साहित्य

जिनमें अवतार, तीर्थंकर और बुद्ध के उल्लेख उपलब्ध होते हैं और उनके जीवन वृत्तों का वर्णन मिलता है इसी अवधि के बीच रचा गया। रामायण, महाभारत, हरिवंशपुराण और विष्णुपुराण का यही काल है और इसी प्रकार जैनपरम्परा के आचारांग के द्वितीय श्रुत्रस्कन्ध, कल्पसूत्र तथा समवायांग और भगवती के कुछ अंश जिसमें तीर्थंकर सम्बन्धी अवधारणाओं का विवरण उपलब्ध होता है इसी काल की रचनायें हैं। बौद्ध परम्परा में दीघनिकाय, महायानसूत्र, लंकावतारसूत्र भी इसी काल की रचनायें हैं।

हिन्दू परम्परा में २४ अवतारों, बौद्धों में २४ बुद्धों तथा जैनपरम्परा में २४ तीर्थंकरों की अवधारणा का जो विकास हमें उपलब्ध होता है वह किस परम्परा ने किससे ग्रहण किया यह बता पाना तो अत्यन्त कठिन है किन्तु यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह सभी धारणायें लगभग साथ-साथ विकसित हातो रहीं हैं। यद्यपि सम्भावना यही अधिक है कि अवतारवादी अवधारणा के आधार पर ही विभिन्न कालक्रमों में जैनों में तीर्थंकरों के होने और बौद्ध परम्परा में बुद्धों के होने की अवधारणा का विकास हुआ है।

वस्तुतः हिन्दू परम्परा की अवतारवादी अवधारणा को ही जैनों ने तीर्थंकर के रूप, बौद्धों ने बुद्ध और बोधिसत्व के रूप में अपने-अपने दार्शनिक विचारों के आधार पर विकसित किया है। क्योंकि जैन और बौद्ध परम्परा के प्राचीनतम साहित्य में बुद्ध और महावीर का मानवीय रूप ही अधिक स्पष्ट होता है और जैन एवं बौद्ध साहित्य के गम्भीर और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया गया अध्ययन बहुत स्पष्टरूप से हमारे सामने यह स्पष्ट कर देता है कि उनमें तीर्थंकर और बुद्ध की लोकोत्तरता की अवधारणा का प्रवेश कालक्रम में धीरे-धीरे हुआ है। जैन और बौद्ध धर्मों में भक्ति को अवधारणा का विकास भी परवर्ती ही प्रतीत होता है और यह मानने में भी हमें कोई संकोच नहीं होना चाहिए, इस सम्बन्ध में उन पर भागवत धर्म का प्रभाव है। इसी प्रकार तीर्थंकरों और बुद्धों तथा बोधिसत्वों के जीवन में जिन अलौकिक तत्त्वों का प्रवेश हुआ उस पर भी हमें भागवत धर्म के प्रभाव की सम्भावना है। क्योंकि जैन और बौद्ध दोनों ही धर्म मूलतः सन्यास-मार्गी और मानवतावादी रहे हैं। यह बात अलग है कि बौद्ध धर्म में प्रज्ञा को और जैन धर्म में तपस्या को अधिक महत्त्व दिया गया है किन्तु भक्ति की अवधारणा,

बुद्धों एवं तीर्थकरों का देवीकरण तथा इन परम्पराओं में विभिन्न देवी-देवताओं का प्रवेश यह सब हिन्दू परम्परा का ही इन पर प्रभाव है। यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं है कि जैन और बौद्ध श्रमण परम्परा का भागवत धर्म पर कोई प्रभाव न पड़ा हो। हिन्दू धर्म और विशेष रूप से भागवत धर्म में कर्मकाण्ड और यज्ञवाद का विरोध, अहिंसा एवं तप तथा त्याग की अवधारणाओं का विकास यह सब जैन और बौद्ध परम्पराओं का प्रभाव है। वस्तुतः भागवत धर्म, वैदिक और श्रमण धर्मों के समन्वय से ही विकसित हुआ है, जिसमें भक्ति की धारा और देववाद वैदिक परम्परा से तथा अहिंसा और साधना श्रमण परम्पराओं से आई है। वैष्णव धर्म में शूद्रों के प्रति जो थोड़ी-बहुत उदारता आई और उन्हें ईश्वर भक्ति का जो अधिकार मिला वह भी श्रमण परम्परा का प्रभाव है। जैन परम्परा के ऋषभदेव और बौद्ध परम्परा के बुद्ध का जो अवतारों की सूची में प्रवेश हुआ है, वह केवल इनकी लोकप्रियता और प्रभाव को लेकर ही हुआ है। वस्तुतः इसी बहाने जैन और बौद्ध परम्परा के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया। यद्यपि ऋषभदेव और बुद्ध सम्बन्धी भागवत के विवरणों के मूल में धर्म समभाव के स्थान पर साम्प्रदायिक दुराग्रह ही अधिक है, क्योंकि श्रीमद्-भागवत में जहाँ ऋषभदेव और बुद्ध के जीवन-वृत्तों का उल्लेख है वहीं उनके तप-त्याग प्रधान और प्रज्ञा प्रधान का स्वरूप प्रकट नहीं हुआ है, किन्तु उसके साथ यह कहकर कि ये अवतार मूलतः लोगों को वास्तविक धर्म से च्युत करने के लिये ही हुए हैं, इनकी छवि को धूमिल किया गया है। यह कार्य यद्यपि एकपक्षीय नहीं है, जैन और बौद्धों ने भी राम और कृष्ण को अपने महापुरुषों की श्रेणी में रखकर भी उन्हें तीर्थकर या बुद्ध से निम्न स्तर का ही माना है। जैनकथा साहित्य में एक ओर कृष्ण को अरिष्टनेमि का उपासक बताया और उसे तीसरे नकं तक भेज दिया, तो दूसरी ओर उसे वासुदेव और भावी तीर्थकर के रूप में भी मान्य किया। जहाँ तक राम के जीवनवृत्त का प्रश्न है, जैन और बौद्ध परम्पराओं ने सदैव ही उसे सम्मान की दृष्टि से देखा है फिर भी इतना तो अवश्य है कि उन्हें तीर्थकर अथवा बुद्ध का दर्जा नहीं दिया गया। जैन परम्परा ने हिन्दू परम्परा के चौबीस अवतारों में से कुछ को अपनी परम्परा में स्वीकृत कर लिया है। राम और कृष्ण को तो ८वें बलदेव और ९वें वासुदेव के रूप में जैन परम्परा में आत्मसात् किया ही गया है, साथ ही साथ

“इसिभासियाइ” में नारायण, नारद, इन्द्र तथा उत्तराध्ययन में सनत्कुमार, कपिल आदि की गणना भी अर्हत् ऋषियों के रूप में कर ली गई।

बौद्ध परम्परा में दशरथ जातक ( ४६१ ), देवधम्मजातक ( ५१६ ), ज्ञापितजातक ( ५१३ ), सामजातक ( ५४० ) में रामकथा का बौद्धरूप दृष्टिगत होता है<sup>१</sup> और कुणालजातक ( ५३६ ), घटजातक ( ३५५ ) में कृष्ण सम्बन्धी विवरण उपलब्ध होते हैं।<sup>२</sup> ललितविस्तर में विष्णु और नारायण के उल्लेख मिलते हैं<sup>३</sup> इसके अतिरिक्त सुखावती व्यूह, करण्डव्यूह आदि में भी हमें नारायण के उल्लेख मिलते हैं।<sup>४</sup>

इस प्रकार तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणाओं में परस्पर एक दूसरे का प्रभाव देखा जा सकता है।

## २. तीर्थंकर और बुद्ध—दार्शनिक दृष्टि से समानता और अन्तर

बुद्ध की अवधारणा अवतारवाद से भिन्न है, यद्यपि वह किसी सीमा तक तीर्थंकर की अवधारणा के अधिक निकट बैठती है। फिर भी हमें यह समझ लेना होगा कि तीर्थंकर और बुद्ध को अवधारणाएँ भी बिल्कुल समान नहीं हैं, उनमें यहाँ तक तो समानता है कि प्रत्येक तीर्थंकर और प्रत्येक-बुद्ध का भिन्न और स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है, फिर भी बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद और क्षणिकवाद जैन दर्शन के परिणामी नित्यवाद से भिन्न होने के कारण दोनों अवधारणाओं में भी भिन्नता आ जाती है। जहाँ जैन दर्शन में कोई एक आत्मा अपने आध्यात्मिक विकास के माध्यम से तीर्थंकरत्व की ऊँचाई तक पहुँचती है, वहाँ बौद्ध दर्शन में चित्त सन्तति की एक धारा आध्यात्मिक ऊँचाइयों की ओर अग्रसर होते हुए बुद्धत्व को प्राप्त करती है। तीर्थंकर एवं बुद्ध को अवधारणाओं में मूल-भूत अन्तर उनके आत्मवाद सम्बन्धी अवधारणाओं पर है। जैन धर्म के अनुसार कोई एक आत्मा किसी जन्म में सम्यक्त्व का बोध पाकर अपनी आध्यात्मिक साधना द्वारा तीर्थंकर नामगोत्र का बन्ध करती है, फिर

१. पाणि साहित्य का इतिहास, पृ० २९३-२९४

२. वही, पृ० २९४

३. ललितविस्तर, पृ० १२६, मूल ७,६ और ७,१४, पृ० १६५, मू० ७

४. सुखावती व्यूह, पृ० १७,२५; बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० १५०; करण्डव्यूह के आधार पर

यह तीर्थंकर के रूप में जन्म लेती है और अन्त में अपनी साधना द्वारा मुक्ति को प्राप्त करती है। यद्यपि बौद्ध दर्शन भी यह मानता है कि बोधि-बीज रूप कोई चित्त सन्तति अपना आध्यात्मिक विकास करते हुए और विविध जन्मों में विविध पारमिताओं की साधना करते हुए बुद्धत्व की प्राप्ति करती है। फिर भी बौद्ध दर्शन की भाषा में यह कहना कठिन है कि जिस चित्त ने बोधिसत्व का उत्पाद किया वही चित्त परिनिर्वाण का लाभ करता है। पुनः जैन दर्शन में तीर्थंकर अपने परिनिर्वाण के बाद भी अपना अस्तित्व रखते हैं, वहाँ बौद्ध दर्शन में यह प्रश्न अव्याकृत करके ही छोड़ दिया है कि परिनिर्वाण के बाद बुद्ध का क्या होता है।

यद्यपि बौद्ध धर्म में जो त्रिकायवाद का सिद्धान्त है उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि परिनिर्वाण के बाद बुद्ध का सम्भोगकाय समाप्त हो जाता है, फिर उनका धर्मकाय और स्वभावकाय अविशिष्ट रहता है यद्यपि यह प्रश्न भी उलझन भरा है कि धर्मकाय से उनका क्या तात्पर्य है। धर्मकाय से उनका तात्पर्य यदि उनके धर्म के अस्तित्व से है तो यह बात हमें किसी सीमा तक जैन धर्म में भी उपलब्ध हो जाती है जैन धर्म के अनुसार भी तीर्थंकर के परिनिर्वाण के बाद उनका धर्मसंघ बना रहता है, यद्यपि जैन धर्म में धर्मसंघ या धर्म देशना का अस्तित्व व्यक्ति के अस्तित्व से भिन्न है।

### (अ) तीर्थंकर एवं बुद्ध की अन्य समानता

१. कुछ अन्धक और उत्तरापथक बौद्धों की मान्यता है कि भगवान् के उच्चार-प्रस्राव ( मल-मूत्र ) का गन्ध अन्य गन्धों से विशिष्ट है ऐसी परम्परा जैनपरम्परा में भी है, जहाँ यह माना गया है कि तीर्थंकरों का उच्चार-प्रस्राव एक विशिष्ट गन्धवाला होता है।

२. कथावस्तु के १८वें वर्ग के अनुसार भगवान् बुद्ध ने एक शब्द भी नहीं कहा, यह मत या इस मत को मानने वाले बौद्ध-लोकोत्तरवादी कहलाते हैं। जैनों के दिग्म्बर सम्प्रदायों की भी मान्यता थी कि तीर्थंकर कैवल्य की प्राप्ति के पश्चात् बोलता नहीं मात्र भाषा वर्गणा के पुद्गल विरते हैं जिससे एक विशिष्ट प्रकार की ध्वनि निःसृत होती है। सम-वशरण ( प्रवचन-सभा ) में उपस्थित सभी प्राणी अपनी-अपनी भाषा में उसका अर्थ ग्रहण कर लेते हैं।

३. बौद्धों की मान्यता है कि चरम-भविक ( अन्तिम जन्मवाला ) बोधिसत्व तुषित देवलोक से बुद्ध होने के लिए मनुष्य लोक में अवतीर्ण



होता है। जैनों की भी यह कल्पना है कि जिस आत्मा ने तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध किया होता है वह देवलोक से चलकर मनुष्य लोक में जन्म ग्रहण करती है, यद्यपि जैन परम्परा में यह आवश्यक नहीं माना गया कि तीर्थंकर की आत्मा देवलोक से ही अवतीर्ण होती है वह नरकलोक से भी मनुष्यलोक में तीर्थंकर के रूप में अवतीर्ण हो सकती है।

पाँचवीं-छठीं शताब्दी में कुछ बौद्धों ने यह कल्पना भी की, कोई आदिबुद्ध ( आदिकल्पिक बुद्ध ) होता है, जिनसे अन्य बुद्धों का प्रादुर्भाव हो सकता है। यद्यपि इस विचार धारा को तैथिक अर्थात् Heretic विचार कहा गया, किन्तु ऐसा लगता है कि यह धारणा मुख्यतया अवतार-वाद की धारणा के निकट है और शायद अवतार की धारणा के अनुसार ही यह आदि बुद्ध का विचार बौद्ध धर्म में आया हो।

४. बौद्ध धर्म में यह अवधारणा है कि भावी बुद्ध पूर्वबुद्ध के सम्मुख यह प्रणिधान करता है कि "मैं बुद्ध होऊँगा" और फिर अन्य जन्मों में दस पारमिताओं की साधना करता हुआ अन्त में बुद्ध रूप में जन्म लेता है। जैन परम्परा में थोड़ी भिन्नता के साथ इस बात को स्वीकार किया गया। उसमें यह माना गया है कि भविष्य में तीर्थंकर होने वाली आत्मा प्रथम किसो तीर्थंकर अथवा प्रबुद्ध आचार्य आदि से प्रतिबोधित हो समत्व को प्राप्त करती है और उसके बाद अनेक जन्मों में तीर्थंकर नामकर्म के उपाजर्ज के १६ अथवा २० बातों की साधना करते हुए अन्त में तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का उपाजर्ज करता है और उसके बाद तीसरे जन्म में तीर्थंकर के रूप में जन्म लेता है।

५. बुद्ध और तीर्थंकर में सामान्य मानवों की अपेक्षा कुछ विशिष्ट लक्षणों की कल्पना की गई है। दीघनिकाय में ही यह कल्पना कर ली गई है कि बोधिसत्व जब तुषित देवलोक से च्युत हो माता के गर्भ में आते हैं तो एक विशिष्ट प्रकार का प्रकाश समस्त लोक को अभिभूत कर देता है।

मनुष्य और अमनुष्य उस समय हिंसा का भाव नहीं रखते हैं। यही बात जैनधर्म में तीर्थंकर को लेकर कही गई है, वहीं यह बताया गया है कि जब तीर्थंकर का जन्म होता है तब समस्त विश्व प्रकाश से अभिभूत हो जाता है, यहाँ तक कि नरक क्षेत्र में जहाँ गहन अन्धकार है वहाँ भी एक क्षण के लिए प्रकाश उद्भाषित हो जाता है तथा सभी प्राणी वैरभाव-को छोड़ देते हैं।

६. बुद्ध के गर्भावक्रान्ति, सम्यक् सम्बोधि और निर्वाण के काल को पालि-त्रिपिटक में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। जैनपरम्परा में तीर्थंकर की गर्भावक्रान्ति, जन्म, दीक्षा, कैवल्य प्राप्ति और परिनिर्वाण को उसी प्रकार से कल्याणक रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है।

७. जिस प्रकार पालिनिकाय में यह माना जाता है कि बुद्ध जागृत ही माता के गर्भ में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार जैनपरम्परा में भी यह माना जाता है कि तीर्थंकर जब माता के गर्भ में प्रवेश करते हैं तो वे अवधि-ज्ञान से सहित होते हैं वे यह जानते हैं कि मैं देवलोक से च्युत होकर माता के गर्भ में प्रवेश करूँगा, वे यह भी जानते हैं कि मैंने देवलोक से च्युत होकर माता के गर्भ में प्रवेश किया, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वे च्युत-काल को नहीं जान पाते हैं। इस प्रकार दोनों ही परम्परायें इतना तो मानती हैं कि बुद्ध और तीर्थंकर अपने गर्भकाल एवं जन्मों के समय जागृत प्रज्ञा ( अवधिज्ञान ) वाले होते हैं।

८. बौद्ध परम्परा में यह माना जाता है कि बुद्ध की माता बुद्ध के गर्भ में प्रवेश के पूर्व अर्ध स्वप्निल अवस्था में एक श्वेत हस्ति को अपनी कुक्षि में प्रवेश करते देखती हैं। जैनपरम्परा के अनुसार तीर्थंकर के गर्भ में आने के समय माता हस्ति, सिंह, वृषभ आदि १४ अथवा १६ स्वप्न देखती हैं। यह भी माना जाता है कि वे स्वप्न में देखे जाने वाले प्राणी या वस्तुएँ स्वर्ग से उतर कर माता के मुँह में प्रवेश करती हैं।

९. जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराएँ इस बात को भी स्वीकार करती हैं कि गर्भकाल में तीर्थंकर की माता को कोई कष्ट न हो इसके लिए देव उनकी रक्षा करते हैं। यद्यपि चारों दिशाओं में चार देव पुत्रों के रक्षा करने की बात जैन आगम साहित्य में हमें कहीं देखने को नहीं मिलती। फिर भी बौद्ध परम्परा के साथ जैनपरम्परा भी यह मानती है कि तीर्थंकर की गर्भावक्रान्ति के पश्चात् तीर्थंकर की माता बुद्ध की माता के समान सदाचारी और शीलवान होती है।

१०. दोनों परम्पराओं में यह बात भी सामान्यतया स्वीकृत है कि तीर्थंकर गर्भावास में माता की जिस कुक्षि में निवास करते हैं वह श्लेष्मा रुधिर आदि गन्दगियों से रहित होती है।

११. थोड़े बहुत अन्तर से दोनों परम्परायें इस बात को भी स्वीकार करती हैं कि तीर्थंकर और बुद्ध के गर्भावक्रान्ति के पश्चात् उनका परिष्कार धन-धान्य से समृद्ध हो जाता है।

१२. बुद्ध के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि जब वे माता की कुक्षि से बाहर निकलते हैं तो उन्हें पृथ्वी पर आने से पूर्व ही देव पुत्र ले लेते हैं और देवलोक से दो उदक धारार्ये उनका और उनकी माता का अभिषेक करती हैं। जैन परम्परा में यद्यपि यह बात कुछ प्रकारान्तर से स्वीकार की गई है। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर का जन्म होने पर इन्द्र एवं देवगण उन्हें मेरु पर्वत पर ले जाकर उनका अभिषेक करते हैं।

### (ब) तीर्थंकर एवं बुद्ध का अन्तर

अन्य समानताओं के बावजूद भी दोनों परम्पराओं में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर भी दिखाई देते हैं, जिन बातों को लेकर जैन और बौद्ध परम्पराओं में अन्तर है, वे निम्न हैं—

१. जहाँ बौद्ध परम्परा यह मानती है कि बोधिसत्व की माता बोधिसत्व को जन्म देकर सातवें दिन स्वर्गवासी हो जाती है, जैन परम्परा को यह स्वीकार नहीं।

२. बौद्ध परम्परा में यह उल्लिखित है कि बोधिसत्व की माता खड़े-खड़े प्रसव करती है, वहाँ जैन परम्परा में ऐसे किसी नियम का उल्लेख नहीं है।

३. जहाँ बौद्ध परम्परा के अनुसार बोधिसत्व अपने जन्म के साथ ही सात कदम उत्तर दिशा की ओर चलता है और लोक में अपने श्रेष्ठता का उद्घोष करता है, ऐसा उल्लेख जैन परम्परा में हमें कहीं देखने को नहीं मिलता है।

४. जन्म के अतिरिक्त अन्य कुछ प्रसंग भी ऐसे हैं जिनमें दोनों परम्पराओं में कुछ समानता और कुछ भेद हैं। जैन मान्यता के अनुसार तीर्थंकर के अभिनिष्क्रमण के पूर्व देवता आकर उनसे लोक कल्याण के लिए प्रव्रजित होने की प्रार्थना करते हैं जबकि बौद्ध मान्यता में बुद्ध की प्रव्रज्या के समय नहीं अपितु उनके अर्हत् बनने के बाद महाब्रह्मा लोकमंगल के लिए उनसे धर्मचक्र प्रवर्तन के हेतु प्रार्थना करते हैं।

५. बौद्ध परम्परा में जहाँ बुद्ध के सशरीर तुषित देवलोक और शुद्धा-वास देवलोक में जाने का उल्लेख है, वहाँ जैन परम्परा में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है कि तीर्थंकर सशरीर देवलोक को जाता है। इसके विपरीत जैन परम्परा में यह माना जाता है कि तीर्थंकर के प्रवचन को सुनने

के लिए तथा उनकी प्रवचन सभा को रचना करने के लिए देव स्वर्ग से भूतल पर आते हैं। बौद्धों की यह मान्यता है कि बुद्ध ने जब श्रावस्ती में प्रातिहार्य दिखाये तो उनका एक प्रातिहार्य ऐसा भी था—जिसमें देवगण उनकी सभा में उपस्थित होते हैं।

६. जहाँ बौद्ध परम्परा में पूरण काश्यप आदि तीर्थिकों के आग्रह पर बुद्ध द्वारा स्वयं प्रातिहार्य दिखाने की बात कही गई, वहाँ जैन परम्परा में स्वयं तीर्थङ्कर द्वारा किसी प्रातिहार्य का दिखाने की कोई चर्चा नहीं है। स्मरणाय है कि जैसे बौद्ध परम्परा में भी भिक्षु के लिए चमत्कार दिखाना निषिद्ध है। यद्यपि जैन परम्परा यह मानती है—तीर्थङ्कर की महत्ता को स्थापित करने के लिए देवगण प्रातिहार्य दिखाते हैं।

### ३. बुद्ध और तीर्थकर को अवधारणा में अलौकिकता का समान विकास

पालि-त्रिपिटक की अपेक्षा भी परवर्ती महायान साहित्य में बुद्ध के सम्बन्ध में अनेक अलौकिकताओं का प्रवेश हुआ है। बुद्ध और तीर्थङ्कर की अलौकिकता की चर्चा के प्रसंग में हम देखते हैं कि दोनों परम्पराओं में इनका क्रमिक विकास हुआ है। पालि-त्रिपिटक के प्राचीनतम अंश सुत्तनिपात आदि में बुद्ध के जीवन की चर्चा का कुछ उल्लेख होते हुए वहाँ उनके सम्बन्ध में किन्हीं अलौकिकताओं को कोई विशेष चर्चा नहीं है। पालि-त्रिपिटक के प्राचीनतम अंश बुद्ध को एक तपस्वी साधक के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं, जो अपनी साधना के द्वारा अन्त में ज्ञान को प्राप्त करता है। जैन आगम साहित्य के प्राचीनतम अंश आचारांग में हम यही बात देखते हैं कि उसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में महावीर के जीवनवृत्त के कुछ अंशों का उल्लेख है परन्तु वहाँ उनकी अलौकिकता की कोई चर्चा नहीं है, उसमें वे कठोर साधक या महान् तपस्वी के रूप में ही प्रस्तुत हैं किन्तु इसी में जोड़ा गया परवर्ती अंश जो आचारचूला के नाम से जाना जाता है, में महावीर के जीवन चरित्र में अनेक अलौकिकताएँ आ गईं। उसी प्रकार कल्पसूत्र में भी उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ अलौकिकताओं का उल्लेख है। क्रमशः जैन एवं बौद्ध दोनों के परवर्ती साहित्यिक ग्रन्थों, दोनों में बुद्ध और तीर्थङ्कर को पुरे तौर से अलौकिक बना दिया गया।

#### ४. तीर्थंकर एवं बुद्ध के उद्देश्य की समानता

यदि हम तीर्थंकर और बुद्ध के प्रयोजन या उद्देश्य की दृष्टि से विचार करें तो दोनों के उद्देश्य समान हैं। दोनों अपनी आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के साथ-साथ लोक कल्याण के समान उद्देश्य को लेकर चलते हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि तीर्थंकर का प्रवचन लोक पीड़ा को दूर करने के लिए ही होता है, इसी प्रकार बुद्ध का उद्देश्य भी प्राणियों के दुःख को दूर करना है। इस उद्देश्यगत समानता के साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि बुद्ध और तीर्थंकर की यह लोक कल्याण की भावना निषेधात्मक या निष्क्रिय ही है क्योंकि वे मात्र मार्ग के प्रस्तोता हैं। जैन और बौद्ध दोनों ही परम्परायें इस बात को स्वीकार करके चलती हैं कि व्यक्ति का उत्थान और पतन एवं कल्याण या अकल्याण अपने प्रयत्नों से होता है, बुद्ध और तीर्थंकर तो मात्र उपदेशक हैं। इस दृष्टि से विचार करें तो अवतार की अवधारणा तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणा से थोड़ी भिन्न है क्योंकि अवतार केवल सन्मार्ग का उपदेश ही नहीं देता बल्कि अपने भक्त की पीड़ा को दूर करने के लिए तथा दुष्टों के विनाश के लिए सक्रिय कार्य करता है। बुद्ध और महावीर जीवनपर्यन्त लोगों को सन्मार्ग का उपदेश देते रहे लेकिन वे राम और कृष्ण की तरह अत्याचारियों के दमन के लिए सक्रिय होकर सामने नहीं आये, क्योंकि यह बात उनके अहिंसावादी दर्शन और निवृत्तिमार्ग के ढांचे के अनुरूप नहीं थी, फिर भी इस सन्दर्भ में तीर्थंकर और बोधिसत्व की अवधारणा में एक स्पष्ट अन्तर है। तीर्थंकर अपने पूर्व जीवन में भी मुख्यरूप से निवृत्तिमार्गी साधना को अपनाने के कारण सक्रिय होकर दुष्टों के या अत्याचारियों के दमन के लिए कार्य नहीं करता, यद्यपि जातक कथाओं से हमें यह ज्ञात होता है कि बोधिसत्व भी दुष्टों के या अत्याचारियों के दमन का कार्य तो नहीं करता, किन्तु जन-जन के सेवा का आदर्श और कृत्य है अतः उसे निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता।

#### ५. महाविदेह, सुखावती एवं गोलोक की कल्पना

यद्यपि जैन एवं बौद्ध दोनों ने यह माना कि भरतक्षेत्र में अलग-अलग समय में एक काल-चक्र में २४ तीर्थंकर या २४ बुद्ध होते हैं किन्तु इसके साथ ही दोनों परम्पराओं में मनुष्य ने कुछ ऐसे क्षेत्रों को मान लिया है

जहाँ सदैव तीर्थंकर एवं बुद्ध विद्यमान रहते हैं। बौद्धों का सुखावती और जैनों का महाविदेह क्षेत्र अपने वर्णन की दृष्टि से बहुत कुछ समानता रखता है। जिस प्रकार बौद्धों की यह कल्पना है कि सुखावती व्यूह में दुःख का लवलेश नहीं होता तथा सदैव बुद्ध का सान्निध्य उपलब्ध रहता है। उसी प्रकार जैनों की भी कल्पना है कि महाविदेह क्षेत्र में सदैव ही चतुर्थ आरा वर्तमान रहता है तथा सदैव तीर्थंकरों का सान्निध्य उपलब्ध रहता है।

बुद्ध क्षेत्र के रूप में जो सुखावती व्यूह की कल्पना है या जैन में महाविदेह की कल्पना है उसी प्रकार हिन्दू परम्परा में विष्णु-लोक की कल्पना है। यद्यपि सुखावती व्यूह की महाविदेह की अपेक्षा विष्णु लोक से अधिक निकटता है यहाँ यह मान लिया गया है कि जो अमिताभ बुद्ध का भक्त होता है और उसका नाम लेता है वह सुखावती-व्यूह में जन्म लेता है। यह परम्परा ठीक वैसी है जैसे कि हिन्दू परम्परा में विष्णु का नाम लेने वाला विष्णु लोक में जन्म लेता है।

## ६. पूर्व बुद्धों एवं पूर्व तीर्थंकरों की अवधारणा का समसामयिक विकास

बुद्धों और तीर्थंकरों के सम्बन्ध में एक बात हमें जैन और बौद्ध दोनों में समान रूप से मिलती है कि जैन परम्परा में कल्पसूत्र और बौद्ध परम्परा में दीघनिकाय के महापदानसुत्त में पूर्व-तीर्थंकरों एवं पूर्व बुद्धों का उल्लेख है। यद्यपि कल्पसूत्र में २४ तीर्थंकरों का नामोल्लेख आ गया है फिर भी वहाँ मुख्यरूप से ४ तीर्थंकरों का ही जीवनवृत्त वर्णित है। महापदानसुत्त में भी केवल ७ मानुषी बुद्धों का उल्लेख मिलता है। दोनों ही परम्पराओं में तीर्थंकरों एवं बुद्धों के जीवन-वृत्त आदि दोनों की वर्णन शैली में बहुत कुछ समानता है। दोनों ही परम्पराओं में तीर्थंकरों एवं बुद्धों के वंश, माता-पिता, प्रमुख भिक्षु-भिक्षुणियों के नाम, भिक्षु-भिक्षुणियों की संख्या, प्रमुख उपासक-उपासिकाओं के नामों का ही उल्लेख मिलता है। इससे ऐसा लगता है कि दोनों ही परम्पराओं में पूर्व बुद्ध और पूर्व तीर्थंकरों की कल्पना का एक समसामयिक विकास हुआ है। इस प्रसंग में दोनों ही परम्पराओं में एक दूसरे का प्रभाव देखा जाता है।

## ७. अवतारों, तीर्थंकरों और बुद्धों की संख्या सम्बन्धी अवधारणा का क्रमिक विकास

अवतारों, तीर्थंकरों और बुद्धों की संख्या के प्रश्न के सन्दर्भ में हमें हिन्दू, जैन और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों के अध्ययन से तथा उनके ऐतिहासिक क्रम के अध्ययन से सुस्पष्ट हो जाता है कि इनकी संख्या में क्रमशः वृद्धि होती रही है। हिन्दू परम्परा में वेदों में वराह, अश्विनो कुमार और विष्णु के उल्लेख प्राप्त होते हैं, तैत्तिरीयसंहिता में इनके साथ ही साथ मत्स्य, कूर्म, नरसिंह और वामन का उल्लेख भी प्राप्त हो जाता है। उपनिषद् युग में उनमें कपिल का नाम जुड़ गया और महाकाव्य में राम और कृष्ण के नाम भी जुड़ जाते हैं। प्रारम्भ में इनकी संख्या १०, फिर २२, २४, ३९ और आगे चलकर अनेकानेक अवतारों की कल्पना है।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ आचारंग (ई०पू० ४ शती) में केवल महावीर का उल्लेख हमें मिलता है दूसरे प्राचीन ग्रन्थ ऋषिभाषित (ई०पू० २ शती) में तथा उत्तराध्ययन (ई०पू० प्रथम शताब्दी) में महावीर और पार्श्व के उल्लेख हैं। फिर कल्पसूत्र में २४ तीर्थंकरों के नामोल्लेख के साथ ही साथ ऋषभ अरिष्टनेमि, पार्श्व एवं महावीर के कथानक उपलब्ध होते हैं। इसमें भी मात्र महावीर का जीवनवृत्त ही विस्तार के साथ उपलब्ध है। परवर्ती साहित्य में सभी तीर्थंकरों के जीवनवृत्त भी उल्लिखित हैं। समवायांग के परवर्ती अंश में भूत और भावो तीर्थंकरों के भी उल्लेख मिलते हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में एक साथ अधिक से अधिक १७० कम से कम बीस तीर्थंकरों के होने का उल्लेख उपलब्ध है। आगे चलकर मनुष्य लोक के विभिन्न क्षेत्रों के भूत, वर्तमान और भविष्य काल के असंख्य तीर्थंकरों की अवधारणा हमारे सामने आती है।

बौद्ध परम्परा में भी प्रथम शाक्य मुनि बुद्ध का उल्लेख उसके बाद पिटक साहित्य के महत्वपूर्ण ग्रन्थ दीघनिकाय और संयुत्तनिकाय में ७ पूर्ववर्ती बुद्धों का उल्लेख उपलब्ध होता है। लंकावतारसूत्र में २४ बुद्धों की अवधारणा मिलती है, किन्तु उसमें आगे चलकर यह मान लिया गया कि जिस प्रकार गंगा के बालू कणों की गणना असम्भव है उसी प्रकार बुद्धों की संख्या की गणना करना असम्भव है। अन्त में यह मान लिया गया है कि बुद्ध भी अनन्त हैं।

इस प्रकार तीनों ही परम्पराओं में क्रमशः अवतार, तीर्थंकर और बुद्ध के संख्या के सन्दर्भ में विकास देखा जाता है।

## ८. तीर्थंकर और अवतार

हिन्दू परम्परा में जो स्थान ईश्वर के अवतारों का है, वही स्थान जैन परम्परा में तीर्थंकरों का है। फिर भी हमें स्पष्टतया समझ लेना होगा कि तीर्थंकरों की अवधारणा और अवतारों की अवधारणा में अनेक समानताओं के होते हुए मूलभूत विभिन्नताएँ हैं।

### १. धर्म संस्थापक

हिन्दू परम्परा में और विशेषरूप से गीता में ईश्वरीय अवतार को धर्म का संस्थापक कहा गया है।<sup>१</sup> इसी प्रकार जैनधर्म में भी तीर्थंकर को धर्मतीर्थ का संस्थापक कहा गया है।

शक्रस्तव ( देविन्दथुई ) में तीर्थंकर को धर्म का आदि करने वाला, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाला, धर्म का दाता, धर्म का नेता और धर्म का सारथि कहा गया है।<sup>१</sup> जैन आचार्यों ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि समय-समय पर धर्म की स्थापना के हेतु तीर्थंकरों का जन्म होता रहता है। धर्म की संस्थापना का कार्य अवतार और तीर्थंकर दोनों ही समान रूप से करते हैं। यद्यपि यहाँ दोनों में एक महत्वपूर्ण अन्तर भी दिखाई देता है। जहाँ गीता में कृष्ण अपने को धर्म का संस्थापक कहते हैं, वहीं वे अपने को दुष्टों का दमन करने वाला भी कहते हैं, न केवल कृष्ण अपितु राम आदि सभी अवतारों के सन्दर्भों में धर्म की संस्थापना के साथ-साथ दुष्ट जनों का संहार और गो, ब्राह्मण आदि का संरक्षण भी आवश्यक मान लिया गया है। जबकि जैन परम्परा में तीर्थंकर मात्र धर्म का संस्थापक है, दुष्टों का विनाश एवं पराभव उसका कार्य नहीं है। हमें ऐसा लगता है कि जैनधर्म में तीर्थंकर के साथ दुर्जनों के

१. गीता ४/७-९

१. "नमोत्थुण अरिहंताणं, भगवंताणं ।  
आइगराणं, तित्थयराणं, सयंसुबुद्धाणं ॥  
धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनाययाणं,  
धम्म-सारहीणं, धम्मवर-चाउरंत-चक्कवहीणं ॥"



विनाश की बात इसलिए नहीं जोड़ी गई कि उसके अहिंसा के सिद्धान्त पर सम्भवतः खरोंच आती प्रतीत हुई होगी। उसे धर्ममार्ग का उपदेशक तो बताया किन्तु न तो उसे सज्जनों का संरक्षक, न दुर्जनों का विनाशक। सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों का विनाश उसके निवृत्ति मार्ग के चौखटे में उपयुक्त नहीं थे अतः उसने तीर्थंकर को मात्र धर्म का संस्थापक माना, न कि दुष्टों का विनाशक और सज्जनों का रक्षक। लोक परित्रांत तीर्थंकरों के जीवन का लक्ष्य अवश्य रहा है मात्र सन्मार्ग के उपदेश के द्वारा न कि भक्तों के मंगल हेतु दुर्जनों का विनाश करना। तीर्थंकर धर्म का संस्थापक होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से सक्रिय नहीं कहा जा सकता। अवतार की अवधारणा में जो सक्रियता हमें परिलक्षित होती है, वह सक्रियता तीर्थंकर की अवधारणा में नहीं है। वह सामाजिक दुर्घटनाओं का मूक दर्शक के रूप में ही धर्ममार्ग का उपदेशक है। अतः वह “परित्राणाय साधुनाम” की बात नहीं कहता।

## २. भक्तों का उपास्य

जिस प्रकार हिन्दू धर्म में अवतार उपास्य के रूप में पूजित हैं उसी प्रकार जैन धर्म में भी तीर्थंकर को उपास्य माना गया है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—

“मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुह।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ १८/२५

अर्थात् तू मेरे में मन लगा, मुझे ही नमस्कार कर, मैं तुझे सर्व पापों से मुक्त कर दूंगा। आचारांग में यही बात “आणाय मामगम धम्मं” कहकर अपनी आज्ञा के पालन में ही धर्म की उद्घोषणा की गई है। जिस प्रकार गीता में श्रीकृष्ण भक्त के सभी पापों को नष्ट करने वाले कहे गये हैं, उसी प्रकार जैन परम्परा में तीर्थंकर को सभी पापों का नाश करने वाला कहा गया है। एक गुजराती जैन कवि ने कहा है—

“पाप पराल को पुंज वण्यो अतिमानो मेरु आकारो।

ते तुम नाम हुतासन सेती, सहज ही प्रजलत सारो॥”

अर्थात् पाप चाहे मेरु का आकार समूह ही क्यों न हो, प्रभु के नाम रूपी अग्नि से सहज ही विनष्ट हो जाता है।

इस प्रकार दोनों ही परम्परायें उसे उपास्य के रूप में ग्रहण करती हैं और यह मानती हैं कि उसका नाम हमारे कोटि जन्मों के पापों का

प्रक्षालन कर सकता है। दोनों परम्पराओं में उसे उपास्य मानते हुए भी और उसके नाम में पाप प्रक्षालन की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी मूलभूत दृष्टि से अन्तर है। हिन्दू परम्परा में अवतार एक सक्रिय व्यक्ति है, वह खुले दिल से अपने भक्त को आश्वासन देता है कि तू मेरे प्रति समर्पित हो जा। मैं तेरे सम्पूर्ण पापों से मुक्ति दिला दूँगा। जबकि जैन-परम्परा में तीर्थंकर एक निष्क्रिय व्यक्ति है। वह अपनी ओर से कोई आश्वासन नहीं देता, वह तो स्पष्ट रूप से कहता है कि कृत कर्मों के फल भोग के बिना मुक्ति नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने शुभाशुभ कर्मों का लेखा-जोखा स्वयं ही पूरा करना है। चाहे तीर्थंकर के नाम रूपी अग्नि से पापों का प्रक्षालन होता हो किन्तु तीर्थंकर में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि वह अपने भक्त को पीड़ाओं से उबार सके, उसके दुःख कम कर सके, उसको पापों से मुक्ति दिला सके। जबकि हिन्दू परम्परा में उन्हें उपास्य के रूप में तो स्वीकार करती है, किन्तु जैनधर्म का तीर्थंकर उस अर्थ में अपने भक्त का त्राता नहीं है, जिस अर्थ में हिन्दू धर्म का अवतार है।

आचार्य समन्तभद्र ने बहुत स्पष्ट रूप में इस बात को स्वीकार किया था कि हम तेरी स्तुति इसलिए नहीं करते कि उस स्तुति के करने या नहीं करने से तू कोई हित या अहित करेगा। वे कहते हैं—

“न पूजयार्थंस्त्वयि वीतरागे,  
न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।  
तथापि ते पुण्य गुण-स्मृतिर्नः।  
पुनातु चेतो दुरितांजनेभ्यः ॥”

अर्थात् तेरी प्रशंसा करने से भी कोई लाभ नहीं क्योंकि तू वीतराग है। अतः स्तुति करने पर प्रसन्न नहीं होगा। तेरी निन्दा करने में भी कोई भय नहीं है क्योंकि तू तो विवान्तवैरे है। अतः निन्दा करने पर नाराज नहीं होगा। फिर हम तेरी स्तुति किस लिये करें। कवि कहता है कि तेरे पुण्य गुणों का एक ही लाभ है कि उन गुणों के स्मरण के द्वारा हमारा चित्त दुर्गुणों से पवित्र हो जाता है। इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए श्रीमद् देवचन्द्र ने कहा है—

“अज-कुल-गत केशरी लहेरे,  
निज पद सिंह निहाल ।  
तिम प्रभुभक्ति भवि लहेरे,  
आतम शक्ति संभाल ॥

अर्थात् जिस प्रकार भेड़ों के समूह में पला हुआ सिंह-शावक वास्तव में सिंह को देखकर अपने स्वरूप को पहचान लेता है, उसी प्रकार भक्त-आत्मा भी प्रभु की भक्ति द्वारा अपने आत्मस्वरूप को पहचान लेता है। यह बोध तो स्वयं भक्त को करना है, उपास्य वहाँ निमित्त मात्र है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही परम्पराओं में क्रमशः अवतार एवं तीर्थंकर को उपास्य मानते हुए भी उनके उपासना की फलश्रुति में ही अन्तर है। हिन्दूधर्म का अवतार अपने भक्त की पीड़ा दूर करने में समर्थ है, जबकि जैनधर्म का तीर्थंकर अपने भक्त के उद्धार में पूर्णतया असमर्थ है। एक और उल्लेखनीय बात जो हमें मिलती है, वह यह है कि जहाँ हिन्दूधर्म में ईश्वर या अवतार सक्रिय है और वह भक्त को निष्क्रिय होने का उपदेश देता है। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि तू सब कुछ मुझ पर छोड़ दे मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा, तू चित्त यज्ञ कर, तू मेरी इच्छा का निमित्त मात्र बन जा।<sup>१</sup>

वहाँ जैनधर्म का तीर्थंकर स्वयं निष्क्रिय होकर भक्त को प्रेरणा देता है कि तू सक्रिय हो, तेरा उत्थान और पतन मेरे हाथ में नहीं, तेरे ही हाथ में निहित है। इस प्रकार दोनों धर्मों में अवतार एवं तीर्थंकर के प्रति उपास्यभाव होते हुए भी मूलभूत दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि परवर्ती जैन साहित्य में अनेक स्थलों पर इस प्रकार के उद्गारों को जिसमें भक्त भगवान् ( तीर्थंकर ) से दुःखों को मुक्त करने एवं सुख-शान्ति देने की याचना करता है। प्राचीनतम जैन स्तोत्र उवसग्गहर एवं मानतुङ्ग के भवतामरस्तोत्र में तीर्थंकर के नाम को सर्व आपदाओं का शामक बतलाया गया है। चाहे यह स्तुतियाँ या उद्गार एक भावुक मन को सन्तोष देते हों, किन्तु जैनधर्म की दार्शनिक मान्यताओं की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं।

१. “सर्वधमन्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।  
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यमि मा शुचः ॥

### ३. अवतारवाद बनाम उत्तारवाद

यद्यपि दोनों ही धर्मों में अवतार एवं तीर्थंकर के समय-समय पर जन्म ग्रहण करने की बात कही गई है और प्रथमतः इस आधार पर उनमें एक समानता मानी जा सकती है किन्तु अवतार के पुनः पुनः जन्म ग्रहण या पुनः पुनः शरीर धारण करने की अवधारणा और तीर्थंकरों के काल क्रम में पुनः उत्पन्न होने की अवधारणाएँ मूलतः भिन्न नहीं हैं। अवतारवाद की अवधारणा में ईश्वर लोकमंगल के लिए पुनः पुनः शरीर धारण करता है, जबकि तीर्थंकर की अवधारणा में वही आत्मा पुनः जन्म धारण नहीं करती। तीर्थंकर की अवधारणा में समय-समय पर एक भिन्न आत्मा परमात्मा शक्ति से युक्त हो लोकमंगल हेतु मार्ग निर्देशन करती है। अवतारवाद एक ही सत्ता के अवतरण का सिद्धान्त है जबकि तीर्थंकर की अवधारणा किसी आत्मा के परमात्म तत्व के रूप में विकसित होने का सिद्धान्त है। जैनधर्म की मान्यता यह है कि सामान्य आत्माओं में से ही कोई एक अपने आध्यात्मिक विकास को क्रमिक यात्रा को करते हुए, तीर्थंकर के गरिमामय पद को प्राप्त कर लोकमंगल हेतु अपने जीवन को समर्पित करता हुआ निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार तीर्थंकर की अवधारणा में प्रत्येक तीर्थंकर की आत्मा भिन्न-भिन्न है। सिद्धावस्था में भी प्रत्येक तीर्थंकर अपना भिन्न अस्तित्व रखता है। उसका अपने पूर्वगामी या पश्चगामी तीर्थंकर से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। उनसे मात्र समरूपता है वे समान उच्च गुणों के साधक हैं। योग्यता को दृष्टि से समान होते हुए भी वे भिन्न व्यक्ति हैं। अवतारवाद में आत्मा या परमात्मा ऊपर से नीचे जाता है जबकि तीर्थंकर की अवधारणा में कोई परमात्मतत्व की ऊँचाइयों को प्राप्त कर लेता है। एक में अवतरण है तो दूसरे में उन्नयन है अतः दोनों अवधारणाएँ बाह्यतः समान होने पर भी मूलतः भिन्न-भिन्न हैं।

### ४. “अयं आत्मा ब्रह्म” अथवा “अहं ब्रह्मास्मि”

कहकर हिन्दू धर्म में जीवात्मा और परमात्मा के मध्य ऐक्य स्वीकार किया गया है। उसी प्रकार जैनधर्म में ‘अप्पा सो परमप्पा’ कहकर आत्मा और परमात्मा के बीच एकत्व स्थापित किया गया है। यहाँ भी शाब्दिक बाह्य समानता के आधार पर इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि दोनों का दृष्टिकोण एक है क्योंकि हिन्दू धर्म में “अयं आत्मा ब्रह्म”

के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी यह माना गया है कि जीवात्मार्थे मृत्युलोक में उसी परमात्मा का आंशिक प्रकटन हैं।<sup>१</sup>

हिन्दू धर्म में विशेषरूप से अद्वैत वेदान्त में अपने जागतिक अस्तित्व के पूर्व एवं निर्वाण पश्चात् सामान्य वैयक्तिक आत्मा की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यद्यपि कुछ हिन्दू दर्शनों में प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार भी किया गया है, फिर भी उसे परमात्मा से भिन्न कोटि का एवं उसके सेवक के रूप में स्वीकार किया गया है। हिन्दू धर्म में जो यह कहा गया है कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा है या प्रत्येक आत्मा ब्रह्म है। जीव और ब्रह्म की समरूपता का सूचक नहीं है। जीव तो उसकी अभिव्यक्ति का एक अंश है और कथमपि उसके समकक्ष नहीं है। जबकि जैन-धर्म में “अप्पा सो परमप्पा” की बात जो कही गई है उसका आशय कुछ भिन्न ही है। वहाँ प्रत्येक आत्मा अपनी क्षमता की दृष्टि से परमात्म स्वरूप ही है, दूसरे शब्दों में प्रत्येक आत्मा परमात्मा बीज है। जैनधर्म यह मानता है कि प्रत्येक आत्मा अपना आध्यात्मिक विकास करते हुए परमात्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक आत्मा सत्ता की दृष्टि से परमात्मा है। अतः जहाँ हिन्दू धर्म में प्रत्येक जीवात्मा परमात्मा की अभिव्यक्ति है वहीं जैनधर्म में प्रत्येक आत्मा स्वयं परमात्मा है। जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक मुक्त आत्मा परमात्मा है और वह स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व रखता है, इसी प्रकार जहाँ हिन्दू धर्म में एक परमात्मा है, वहाँ जैनधर्म में एक ही नहीं अपितु अनेक परमात्मा हैं। इस प्रकार दोनों अवधारणायें बाह्यतः समानतायें रखते हुए मूलतः भिन्न-भिन्न हैं।

## ९. अवतारवाद एवं तीर्थंकर की अवधारणा : व्यक्ति स्वतन्त्रता के सन्दर्भ

यद्यपि अवतार और तीर्थंकर दोनों को ही व्यक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ और उच्चतम माना गया है फिर भी दोनों के दर्शन में एक मूलभूत अन्तर यह भी है कि जहाँ अवतारवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुंठित करता है, वहाँ तीर्थंकरत्व की अवधारणा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुंठित नहीं करती। अपितु वह कहती है कि तू अपने बन्धन के लिए स्वयं उत्तर-

१. “ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः।

मन. षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

दायी है, तू अपने बन्धनों को तोड़ और हमारे समान हो जा। अवतार-वाद की अवधारणा मनुष्य को ईश्वरीय इच्छा या ईश्वरीय लीला के एक पात्र से अधिक कुछ नहीं रहने देती, उसके अनुसार व्यक्ति का उद्धार केवल ईश्वरीय कृपा पर निर्भर है। वह स्वयं ईश्वरीय इच्छा का एक यन्त्र है जैसा कि रामचरितमानस में कहा गया है—

“होई हैं वही जो रामरचि राखा ।  
को करि तरक बढ़ावे साखा ॥”

अथवा “उमा दारु योशित की नाही ।  
सबहि नचावत राम गोसाईं ॥”

अर्थात् जो भी कुछ होना है वह ईश्वरीय इच्छा के अधीन है। व्यक्ति का कार्य केवल उसकी भक्ति करना है। ईश्वरवाद या अवतार-वाद में व्यक्ति सदैव ही भक्त बना रहेगा, वह भगवान् का दर्जा कभी प्राप्त नहीं कर सकता। अवतार भक्त को यह सान्त्वना देता है कि मैं तुझे सर्व पापों से मुक्त कर दूँगा। किन्तु वह व्यक्ति को कभी यह नहीं कहता कि मैं तुझे अपने समान बनाऊँगा। अवतारवाद में उपास्य-उपासक, स्वामी-सेवक का भाव सदैव बना रहता है, चाहे वह मुक्ति की दशा ही क्यों न हो। जबकि तीर्थङ्कर या बुद्ध की अवधारणा इससे भिन्न है। तीर्थङ्कर का सन्देश होता है कि तुम में भी वही परमात्म तत्त्व अथवा जिनत्व सोया पड़ा है, उठो, प्रयत्न करो और यदि तुम्हारे प्रयत्न सम्पन्न दिशा में होंगे, तो तुम एक दिन स्वयं हमारे समान बन जाओगे। तीर्थङ्करत्व की अवधारणा में व्यक्ति की स्वतन्त्रता कुंठित नहीं होती बल्कि स्वतन्त्र होने के लिए आह्वान किया जाता है। जैन दर्शन के अनुसार मुक्ति की अवस्था में महावीर की आत्मा और एक सामान्य साधक की आत्मा में कोई अन्तर नहीं होता। सभी मुक्त जीव समकक्ष हैं उनमें न कोई छोटा न बड़ा, न कोई स्वामी न सेवक। अवतारवाद की शिक्षा में दीनता की शिक्षा है, वहाँ याचकता का भाव है जबकि तीर्थ-ङ्करत्व की शिक्षा वीरत्व की शिक्षा है, वह याचना नहीं बल्कि अधिकार की बात कहती है। वह मांगने से भी नहीं मिलती, उसे स्वयं के पुरुषार्थ के द्वारा पाना होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अवतार-वाद का दर्शन परतन्त्रता का दर्शन है। अवतारवाद आध्यात्मिक ऊँचा-इयों पर भी एक राजतन्त्र की कल्पना करता है जबकि तीर्थङ्करत्व का दर्शन एक प्रजातन्त्र की अवधारणा को प्रस्तुत करता है। तीर्थङ्करत्व के

दर्शन में सभी राजा हैं, सभी समान हैं, उनमें राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य ऐसा कोई भी द्वैत नहीं है।

## १०. तीर्थंकर एवं अवतार की समानता

जैन साहित्य में तीर्थंकर अपने उपास्य रूप में अधिक ग्राह्य होने के कारण अपने सम्प्रदाय में देवाधिदेव परमात्मा के रूप में ग्रहीत हुए। जैनधर्म में तीर्थंकर के सहस्र विभिन्न नामों का उल्लेख विष्णु के सहस्र नाम के समान हुआ है। पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में इन्हें अनेक स्थलों पर पौराणिक देवों की अपेक्षा विष्णु से अभिहित किया है। महापुराण में ऋषभ की प्रार्थना करते हुए उन्हें आदि वराह के रूप में पृथ्वी का उद्धारक कहा गया है।<sup>१</sup> इसी प्रकार विष्णु के वराहावतार में उनसे पृथ्वी के उद्धार की प्रार्थना की गई है। मधु और माधव को मारने वाले वे दोनों लोकों के स्वामी मधुसूदन कहे गए हैं।<sup>२</sup> इसी प्रकार विष्णु को भी मधुसूदन कहा गया है। ऋषभ को गोवर्धनधारी<sup>३</sup>, परमहंस और केशव<sup>४</sup> कहा गया है। अजितनाथ तीर्थंकर को (वसुवई) श्री और (वसुमई) पृथ्वी का पति कहा गया है।<sup>५</sup> अवतार परम्परा में दोनों विष्णु की पत्नियाँ मानी गई हैं। एक तीर्थंकर को गोपाल (गोवालु) नाम से अलंकृत किया गया।<sup>६</sup>

१. "वैयंगववाई जयकमल जोणि आईवराह उद्धरिय रवोणि"—महापुराण जी०, १.१०.५.१०

२. "जयमाहव तिहुवणमाहवेस; महुसूयण डसिय महुं विसेस।  
वही, जी० १.१०.५.१४

३. "गोवद्धण" का अर्थ श्री वेद्य ने ज्ञानवर्धन किया है, किन्तु अन्य स्थलों पर कृष्ण से सम्बन्धित गोवर्द्धन के लिए भी 'गोवद्धण' का प्रयोग हुआ है। जैसे महापुराण जी० ३.८५.१२ द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ९१ 'गिरि गोद्धणउ गोवद्धणेण उच्चाइउ'।

४. 'जयालोअणि ओइय परमहंस योवद्धण केसव परमहंस।'  
वही, पृ० १.१०.४.१५

५. 'वसुवइवमुमई कंताकंते।'—वही, २.३८.१८.१०

६. "जई तुहुं गोवालु णियारिचंडु तो काई णत्थि करि तुज्ज दंडु।"

—महापुराण, पृ० २.४८.१०.२

उद्धृत—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ९२

कृष्ण कथा के प्रसंग में कंस को जब पता चलता है कि यह शेषशय्या पर सोने वाला, शंख बजाने वाला तथा धनुष धारण करने वाला उनका शत्रु है।<sup>१</sup> तो कंस इन्हीं प्रतिज्ञाओं के धारण करने वाले से अपनी कन्या के विवाह की घोषणा करता है।<sup>२</sup> यहाँ पर कृष्ण ने उन प्रतिज्ञाओं का पालन किया है।<sup>३</sup> किन्तु सत्यभामा के व्यंगात्मक वचनों के फलस्वरूप तीर्थंकर नेमिनाथ ने भी उक्त तीनों प्रतिज्ञाओं का प्रदर्शन किया।<sup>४</sup> शेषशायी, पंचजन्य शंख एवं शार्ङ्गधनुष इन तीनों का स्पष्ट सम्बन्ध वैष्णव परम्परा में विष्णु से लिया जाता है। अर्थात् इन तथ्यों के आधार पर ही महापुराण में तीर्थंकर को विष्णु के सदृश या तद्रूपित कहा गया है।

### अवतार प्रयोजन

सामान्यतः पुराणों में विष्णु के अवतार के साथ-साथ उनके अवतरण का लक्ष्य निहित होता है, इसी लक्ष्य के फलस्वरूप साधारण जन्म और अवतार में अन्तर है, किन्तु सिद्धान्ततः जैन परम्परा में उच्चकोटि के अवतारवाद को मान्यता नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि जैन-परम्परा में अवतरण की अपेक्षा साधनात्मक उत्क्रमण पर बल दिया गया है। यद्यपि जैनपरम्परा में तीर्थंकरों के दिव्य एवं अवतारानुरूप जन्मों के वर्णन में प्रयोजन विशेष का कोई संकेत नहीं मिलता है फिर भी महा-

१ “गायो मिज्जई विसहर समणे जो जलयरुआऊरइ वयणे

जो सारंगकोठि गुण पावई, सो तुज्जु वि जमपुरि पहु दावइ ।”

महा० पुराण जी० ३.८५.१७.११-१२

द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ९२

२. “जो फणि सयणि सुयई घणु णावइ; संखु ससासे पूरिवि दावइ ।

तहुं पहु देइ देसु दुहियइ सहं, ता घाइयउ णिवहु संइ महं महं ॥”

वही, जी०, पृ. ८५, १८, ९-१० : द्रष्टव्य वही, पृ० ९२

३. वही, जी० ३, पृ० ८५, २२-२४

४. “इय जं सर दुश्वयणीणं हउ तं लगउ तह अहिमाणमउ ।

णारायणं पहरणंसाल जहि परमेसरु पत्तउ अत्ति तहिं ॥

चप्पिउ कुप्परेहि फणिसयणु षणाविउ वाम पाएणं ।

घणु करि णिहिउ संसुआऊरिउ जगु बहिरिउं णियाएणं ॥”

वही, जी० ३, पृ० ८८, १९ दो० १९ और २०

—द्रष्टव्य : मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० ९२



पुरुषों के जन्मों के साथ कालान्तर में उनके द्वारा समाज के उत्थान का लक्ष्य ही प्रयोजन के रूप में स्वाभाविक ढंग से आरोपित हो जाते हैं। ऋषभ आदि तीर्थंकरों के जन्मों के साथ भी इस प्रकार के साम्प्रदायिक प्रयोजनों का समावेश निहित है। “भागवत” में आदितीर्थंकर ऋषभदेव को विष्णु का अवतार माना गया है, क्योंकि वहाँ वे मुनि धर्म प्रकट करने एवं मोक्षमार्ग की शिक्षा देने के लिए अवतरित हुए हैं।<sup>१</sup> इन्हीं प्रयोजनों का समावेश जैन धर्म में भी मिलता है। प्रायः सभी तीर्थंकरों का मुख्य प्रयोजन श्रमण धर्म एवं मोक्ष की शिक्षा रहा है। “तिलोयपण्णत्ति” में सभी तीर्थंकरों को मोक्षमार्ग का नेता कहा गया है।<sup>२</sup> हरिवंशपुराण में ऋषभदेव को असि, मसि एवं कृषि आदि समस्त रीतियों का अन्वेषक एवं धर्मतीर्थ का प्रथम प्रवर्तक कहा गया है।<sup>३</sup> महापुराण में कहा गया है कि ऋषभदेव ने श्रमण धर्म का प्रवर्तन करने के लिए, उनके दरबार में इन्द्र की नीलंजना नाम की अप्सरा, जो नृत्य करते हुए मर जाती है, जीवन की क्षणभंगुरता को बताया है।<sup>४</sup> इस प्रकार उनका अवतार प्रयोजन स्पष्ट लक्षित होता है। जीवन की नश्वरता के फलस्वरूप इनके विरक्त होने पर इन्द्र आदि देवता इनको जैन धर्म के प्रवर्तन के लिए प्रोत्साहित करते हैं<sup>५</sup> और इसके निमित्त वह दिगम्बर वृत्ति अपनाकर जैनधर्म का प्रचार करते हैं।<sup>६</sup>

इससे स्पष्ट होता है कि तीर्थंकरों के जन्म लेने या अवतरित होने का मुख्य प्रयोजन जैन मुनियों के आचरण का आदर्श प्रस्तुत करना, आचार एवं नियम पालन की शिक्षा देना तथा जैनधर्म का प्रचार करना रहा है।

१. भागवत ५/३/२०; ५/६/१२

२. तिलोयपण्णत्ति —४, ९२८

३. हरिवंशपुराण पृ० ११६, ८/९२

४. महापुराण ६, ४

५. “उट्ठिय देव महाकुल कलयलि पुणु वंदारएहि णिय णहयलि ।  
चल्लिउ अणुभग्नो सिय सेविइ णाहिणराहिउ संह मरु एविइ ॥  
तुरिउ चलंतु खलंतु विसंतुलु णीससंतु चलभोक्कलकांतलु ॥”

—महापुराण, ७, २३-२४

६. “मोह जालु जिह भेल्लिवि अंबरु झति महामुणि हवउ दियंबरु ॥”

—वही, ७.२६.१५

## ११. तीर्थकर और अवतार का अन्तर

जैन साहित्य में उल्लिखित तीर्थङ्करों का आविर्भाव वैष्णव अवतारवाद से कुछ अर्थों में भिन्न है। वैष्णव अवतारवाद में विष्णु स्वयं अवतार धारण करते हैं। उनको यह पद किसी साधना के बल पर प्राप्त नहीं हुआ है, अपितु वे स्वयं ब्रह्म हैं, स्रष्टा, पालक एवं संहारक हैं। इसके विपरीत जैन परम्परा में तीर्थङ्कर पद साधना द्वारा प्राप्त होता है और कोई अन्य विभिन्न जन्मों में साधना के द्वारा इस पद को प्राप्त करता है। “परमात्मप्रकाश” के अनुसार प्रत्येक आत्मा तत्त्वतः परमात्मा है किन्तु कर्म-बन्धन के कारण उसका परमात्मा स्वरूप आवरित है। कर्मबन्धन से मुक्त होने से ही वह परमात्मा बन जाता है।<sup>१</sup> “प्रवचनसार” के अनुसार आत्मा में ईश्वर बनने की शक्ति होती है, जो कर्मक्षीण होने पर पूर्णता को प्राप्त होती है।<sup>२</sup>

तीर्थङ्कर के पूर्व जन्मों को देखने से उनके क्रमिक आध्यात्मिक विकास का भान होता है। जैसे तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ पूर्वजन्म में पहले श्री शर्मा नामक राजपुत्र थे, द्वितीय जन्म में साधना के फलस्वरूप श्रीधर नामक देवता बने और तृतीय जन्म में तपस्या के फलस्वरूप अजितसेन नामक चक्रवर्ती हुए। इस प्रकार अन्य तीर्थङ्करों ने भी अपनी विभिन्न जन्मों में साधना के बल पर तीर्थङ्करत्व प्राप्त किया है। इस आधार पर इनकी उत्क्रमणशील प्रकृति के दर्शन होते हैं। तीर्थकरत्व मूलरूप में साधना के द्वारा साधक के विकास का सूचक है।

## १२. बुद्ध और अवतार

बौद्ध धर्म में बुद्ध का वही स्थान है जो हिन्दू धर्म में अवतार और जैनधर्म में तीर्थङ्कर का है। बौद्ध धर्म में अनेक बुद्धों की कल्पना ठीक उसी प्रकार की गई है जिस प्रकार हिन्दू धर्म में अनेक अवतारों की की गई है। हिन्दू धर्म के अवतारवाद के समान ही बौद्ध धर्म यह मानता है कि जन-साधारण को धर्म का उपदेश देने के लिए समय-समय पर बुद्धों का आविर्भाव होता रहा है। फिर भी जैसा तीर्थङ्कर एवं अवतार की तुलना करते समय देखा है कि दोनों इस बात में एक मत होते हुए भी कालक्रम में तीर्थङ्कर और अवतार होते रहते हैं, इस बात में यह भेद रखते हैं, जहाँ अवतार एक ही ईश्वर का अनेक बार अनेक रूपों में

१. परमात्मप्रकाश, पृ० १०२

२. प्रवचनसार मू० ९२-९३

अवतरण है, जबकि प्रत्येक तीर्थंकर एवं बुद्ध भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व होते हैं, जो कुछ पूर्व काल में हो चुका है वही परवर्ती काल अथवा भविष्य में बुद्ध नहीं होता। बल्कि एक नया व्यक्तित्व बुद्धत्व की ऊँचाई पर पहुँचकर नया सन्मार्ग देता है।

ललितविस्तर में बुद्धों के सम्बन्ध में जो विवेचन है वह अवतारवाद की अवधारणा के काफी निकट है। जिस प्रकार हिन्दू परम्परा में अवतरित होने वाले रूप को मायिक कहा गया है।<sup>१</sup> उसी प्रकार ललितविस्तर के अनुसार बुद्ध भी नित्यलोक से अवतरित होनेवाले मायिक रूप हैं।<sup>२</sup> जिस प्रकार वैष्णव धर्म में विष्णु को भी समस्त देवताओं का गुरु कहा गया है, उसी प्रकार ललितविस्तर में सम्यक् सम्बुद्ध को देवताओं का गुरु एवं भगवान् कहा गया है। जिस प्रकार वैष्णव धर्म में देवता, ब्राह्मण आदि विष्णु से अवतार ग्रहण करने की प्रार्थना करते हैं उसी प्रकार ललितविस्तर में भी भिक्षुगण, मनुष्य और देवता आदि सभी बुद्ध से अवतरित होने की प्रार्थना करते हैं। दोनों में ही अवतार का प्रयोजन भी एक सा ही प्रतीत होता है। जिस प्रकार गीता में अवतार प्रयोजन साधु जनों की रक्षा, दुष्टों का विनाश और धर्म संस्थापना है उसी प्रकार बौद्ध धर्म में भी देवता, बुद्ध से प्रार्थना करते हुए कहते हैं—“हे बुद्ध ! तुम त्रिरत्न के ज्ञाता और मार के संहारक हो। तुम शीघ्र अवतरित होकर जिन और मार को अपने करतल से नष्ट करो और देवता और ब्राह्मणों पर कृपा करने के लिए अवतार धारण करें।”<sup>३</sup>

इससे यह स्पष्ट लक्षित होता है कि ललितविस्तर नामक बौद्ध ग्रन्थ में बुद्ध के अवतरण की जो कल्पना है उसका वैष्णव अवतारवाद से बहुत साम्य है। ललितविस्तर में बुद्ध के ८४ गुणों का उल्लेख है उनमें कतिपय गुण पौराणिक अवतारों की कोटि के हैं। हिन्दू परम्परा में जिस प्रकार विष्णु प्रत्येक युग में जन्म धारण करते हैं उसी प्रकार बुद्ध भी प्रत्येक कल्प में जन्म धारण करते हैं।<sup>४</sup>

वैष्णव सामूहिक, अवतारवाद के सदृश बौद्ध साहित्य में भी यह मान्यता है कि सैकड़ों देवपुत्र जम्बूद्वीप में प्रकट होकर प्रत्येक बुद्धों की उपासना

१. गीता, ४/६-७

२. ललितविस्तर, पृ० २३

३. वही, पृ० २४

४. वही, पृ० २५-२८

करते हैं, जिस प्रकार वैष्णव धर्म में विष्णु अवतीर्ण होने के पूर्व देवताओं से परामर्श करते हैं उसी प्रकार बुद्ध के अवतीर्ण होने के पूर्व तुषित देव-लोक में देव, नाग, बोधिसत्व आदि एकत्र होते हैं ।

सामान्यतया यह माना जाता है कि अवतार देवयोनि, पशुयोनि और मानवयोनि किसी में से भी सम्भव है जब कि बुद्ध केवल मनुष्य योनि में ही जन्म लेते हैं । सामान्यतया अवतार के लिए कोई जातिगत बन्धन नहीं है यद्यपि अवतारों में अधिकांशतः ब्राह्मण और क्षत्रियवंश से सम्बन्धित हैं । बुद्ध भी तो ब्राह्मण और क्षत्रिय वंश में जन्म लेते हैं ।<sup>१</sup> इस प्रकार इस सम्बन्ध में अवतार और बुद्ध में आंशिक समानता मानो जा सकती है । ललितविस्तर में यह भी माना गया है कि बुद्ध जम्बूद्वीप के मध्यदेश में योग्य वंश का चुनाव कर ही जन्म लेते हैं ।<sup>२</sup> यद्यपि अवतार के सम्बन्ध में हमें ऐसा कोई नियम देखने को नहीं मिलता है । इन सब आधारों पर हम यह कह सकते हैं कि बुद्ध और अवतार की अवधारणाओं में काफी साम्य है, वे एक दूसरे से प्रभावित हुई हैं । महायान की बुद्ध सम्बन्धी अवधारणा तो निश्चय ही वैष्णव धर्म से प्रभावित है ।

### १३. उत्तरकालीन बुद्ध की अवधारणा और अवतारवाद से उसकी समानता

जिस प्रकार बौद्ध धर्म में बुद्ध पद-चित्तों की पूजा की जाती है, उसी प्रकार हिन्दू परम्परा में विष्णु-पद को पूजा की जाती है । सद्धर्मपुण्डरीक में तथागत बुद्ध के लिए सर्वत्र भगवान् शब्द का प्रयोग किया गया है, कहीं-कहीं उन्हें पुष्पोत्तम शब्द से भी अभिहित किया गया है ।<sup>३</sup> ललित-विस्तर में विष्णु और नारायण शब्द का भी उल्लेख मिलता है । उसमें शक्र, ब्रह्मा, महेश्वर एवं सभी देवसमूहों को बुद्ध का उपासक बताया गया है<sup>४</sup> तथा बुद्ध को नारायण कहा गया है ।<sup>५</sup> पुनः २६वें अध्याय में उन्हें महानारायण भी कहा गया है ।<sup>६</sup> साथ ही उन्हें नारायण के सदृश्य शक्ति-

१ ललितविस्तर, पृ० ३७

२. वही, पृ० ७५

३. सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० १६; ४६

४. ललितविस्तर (अनुवाद), पृ० १००

५. वही, पृ० १०४, १०९, १४०

६. वही, पृ० ५६०

युक्त भी माना गया है।<sup>१</sup> बुद्ध नारायण के समान अच्छेद्य और अभेद्य काय वाले हैं।<sup>२</sup> २३वें अध्याय में उनको भगवत् स्वरूप कहा गया है।<sup>३</sup> आगे चलकर बुद्ध को साक्षात् नारायण का अवतार ही माना है।<sup>४</sup>

इससे स्पष्ट होता है कि ललितविस्तर के काल तक बुद्ध का नारायण के साथ तादात्म्य माना जाने लगा था। साथ ही इस काल के महायानी साहित्य पर नारायण का यथेष्ट प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इससे ऐसा लगता है कि प्रथम शती पूर्व की रचना ललितविस्तर में ही बुद्ध को ही नारायण मान लिया गया था। सम्भव है कि इसी आधार पर वैष्णव पुराणों में आगे चलकर बुद्ध को विष्णु या नारायण का अवतार मान लिया गया हो, क्योंकि बुद्ध साहित्य में वे बहुत पहले से ही नारायण नाम से अभिहित किये जा चुके थे। विदित होता है कि बौद्ध ग्रन्थ मञ्जुश्रीमूलकल्प में बुद्ध को स्वयं विष्णु के चित्तों से युक्त कहा गया है। बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर में नृसिंह और कृष्ण, लंकावतारसूत्र में राम, तथागत गुह्यक में ह्यग्रीव और मञ्जुश्रीमूलकल्प में वराह का उल्लेख मिलता है।<sup>५</sup> यहाँ पर ये सभी विष्णु के अवतार की अपेक्षा बुद्ध के ही आविर्भाव माने गये हैं। लंकावतारसूत्र में बुद्ध के बलि के रूप में आविर्भाव का उल्लेख मिलता है<sup>६</sup>, जो सम्भवतः वामन अवतार का ही परिवर्तित रूप माना जा सकता है।

## १४. अवतारवाद और पैगम्बरवाद

इस्लाम धर्म में भी हिन्दू अवतारवाद की “सम्भवामि युगे युगे” की अवधारणा के तत्त्व विद्यमान हैं, क्योंकि इस्लाम धर्म भी यह मानता है कि प्रत्येक युग में पैगम्बर मानव के रूप में प्रकट होता है या जन्म लेता है। पैगम्बर के भी जन्म लेने या प्रकट होने का प्रयोजन वही होता है,

१. ललितविस्तर (मूल), पृ० १२४, १२६, १४७, १९४
२. “नारायणस्य यथा काय अच्छेद्यभेदा” —ललितविस्तर (मूल), पृ० ३९२
३. वही, पृ० ४७३
४. “जातं लक्षणपुण्यतेजभरितं नारायणस्थाभवत्” —वही, पृ० १२४/७
५. ललितविस्तर, पृ० ५३९, १९१; लंकावतारसूत्र, पृ० १६६; तथागतगुह्यक, पृ० ७१; “घोररूपो महाघोरो वराहाकारसम्भवः”—मञ्जुश्रीमूलकल्प, पृ० १५३ द्रष्टव्यः मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० १२, १३
६. लंकावतारसूत्र, पृ० २८८ : द्रष्टव्य—वही

जो हिन्दू धर्म का अवतार का प्रयोजन है, अर्थात् अधर्म का नाश करना और धर्म की स्थापना करना।<sup>१</sup> इस्लाम धर्म में पैगम्बर की परम्परा का का शुभारम्भ मुहम्मद से नहीं हुआ बल्कि सर्वप्रथम खुदा ने आदम के नपस् का निर्माण किया तदनन्तर उसी की अनुकृति स्वरूप मुहम्मद ने नपस् को बनाया।<sup>२</sup> इस प्रकार इस्लाम धर्म में भी आदम से लेकर मुहम्मद तक पैगम्बरों की एक लम्बी परम्परा है जो आंशिक रूप से हिन्दू धर्म की अवतारवाद की परम्परा के अनुरूप है। हिन्दू परम्परा में “गीता” के कृष्ण स्वयं अवतरित होकर धर्म की स्थापना एवं साधुजनों की रक्षा करते हैं उसी प्रकार इस्लाम धर्म में कुरान के अनुसार अल्लाह समय-समय पर पैगम्बरों को भेजते हैं और वे हर कौम के लोगों को उनके दुष्कृत कर्मों के परिणामों से डराते हैं, हिदायत देते हैं और सारे कौम के लड़ाई झगड़ों का फैसला भी करते हैं।<sup>३</sup> इस प्रकार स्थानगत और संस्कृतिगत वैषम्य होते हुए भी आन्तरिक एकता लक्षित होती है।

इस समानता के बावजूद भी इस्लाम धर्म में पैगम्बर के अवतरण या जन्म हिन्दू परम्परा के अवतार से भिन्न है। हिन्दू धर्म की अवतार की अवधारणा ईश्वर के जन्म या अवतरण को मानती है, जबकि इस्लाम धर्म में पैगम्बरवाद हुलूल या जन्म विरोधी होने के कारण अल्लाह का जन्म या अवतरण स्वीकार नहीं करता है। सम्भवतः इसीलिए इस्लाम धर्म में मुहम्मद को अल्लाह का अवतार न कहकर, उनको पैगम्बर कहा है। लेकिन फिर भी अवतार से साम्य रखनेवाले “निर्माण”, प्राकट्य और प्रतिरूप शब्द इस्लामी सम्प्रदायों में प्रयुक्त हुए हैं। शेख शाहबुद्दीन के अनुसार अल्लाह ने अपने स्वरूप से आदम का निर्माण किया। इन्होंने आदम को ब्रह्मा का प्रतिरूप माना है।<sup>४</sup> इस प्रतिरूपता के सिद्धान्त में हिन्दू अवतारवाद में गाथा की जो कल्पना है उसी का पुट है मुस्लिम सूफी चिन्तकों ने प्रतिरूपता की अवधारणा को अपनाया है। वे भी

१. स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टीसिज्म, पृ० १०६

२. वही, पृ० ११९ कु० २, सू० ४८

३. कुर्आनशरीफ, पृ० ३६१ सूरा १० आयत ४८ : पृ० ४१९, सू० १३ आ० ९; पृ० ७२३ सू० ३५ आ० २५

४. दी अबारिफुलामा रिफ पृ० १२५ : द्रष्टव्य—मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ. २६४

हिन्दू दर्शन की तरह 'अहं ब्रह्मास्मि' का उद्घोष करते हैं। पैगम्बर को ईश्वर के प्रतिरूप मानने के लिए तार्किक रूप में कहा गया है कि पैगम्बर "मीम" अक्षर से युक्त होने के कारण अहमद (ससीम) है और "मीम" रहित होने पर अहद (असीम) कहलाता है।<sup>१</sup> यहाँ "मीम" को हम माया या आवरण मान सकते हैं। कुछ हदीसों के आधार पर इस्लाम में पूर्णावतार के सदृश पूर्ण-आविर्भाव माना गया है; वहदत से लेकर आजम तक सभी आविर्भावों में वह "खातुम" या "खासिम" कहा गया है।<sup>२</sup>

इससे स्पष्ट है कि इस्लाम में अवतार विरोध की भावना होते हुए भी ऐसे अनेक तत्त्व मिलते हैं, जिनका हिन्दू अवतारवाद से अत्यधिक साम्य है। दोनों विचारधाराओं में मूलभूत अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ हिन्दू परम्परा स्वयं ईश्वर के अवतरण को स्वीकार करती है वहाँ इस्लाम में यह माना गया है कि अल्लाह या ईश्वर अपने प्रतिनिधि के रूप में पैगम्बर को भेजता है, पैगम्बर अल्लाह का प्रतिनिधि है, स्वयं अल्लाह नहीं। यही पैगम्बर और अवतारवाद का मूलभूत अन्तर है।

## १५. बुद्ध एवं पैगम्बरवाद

बौद्ध धर्म के बोधिसत्व की अनन्त करुणा इस्लाम धर्म में भी दिखाई देती है। जिस प्रकार महायान में बुद्ध को महाकरुणा से युक्त माना गया है<sup>३</sup>, उसी प्रकार इस्लाम में अल्लाह को भी अत्यन्त क्षमाशील एवं सृष्टि के प्राणियों के प्रति करुणा से युक्त कहा गया है।<sup>४</sup> अल्लाह के करुणामय रूप को "अलरहमान" कहते हैं। अपने इसी रूप में वह जीवों पर दया करता है। करुणा को दृष्टि से दोनों धर्मों के उपास्य बुद्ध और अल्लाह में साम्य दृष्टिगत होता है। शेख शाहबुद्दीन अपनी पुस्तक "दि अवारिफुल मारिफ" में कहते हैं कि पैगम्बर वे हैं जो महायानी बोधि-सत्त्वों के सदृश निर्वाण प्राप्त करने या सिद्ध होने के बाद जनकल्याण

१. सिक्रेट आफ अनलहक, पृ० ७३ : द्रष्टव्य—म०सा०अ०, पृ० २६४।

२. वही, पृ० ८३ : द्रष्टव्य—वही।

३. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० १०६।

४. स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टीसिज्म, पृ० ९९।

उद्धृत: मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० २६५।

के लिए पृथ्वी पर भेजे जाते हैं।<sup>१</sup> इस प्रकार प्रयोजन की दृष्टि से पैगम्बर और बोधिसत्व में समानता है। बौद्ध धर्म में जिस प्रकार प्रत्येक बुद्ध अपने ही निर्वाण की चिन्ता करते हैं, उसी प्रकार इस्लाम धर्म में शेख भी अपने साध्य की सिद्धि के बाद जनकल्याण के लिए कोई कार्य नहीं करते हैं। इस प्रकार बौद्ध धर्म और इस्लाम में क्रमशः प्रत्येक बुद्ध और शेख "स्वान्तः सुखाय" की साधना करते हैं किन्तु बोधिसत्व और पैगम्बर सिद्ध या "इनसानुलामिल" होने के बाद भी जनकल्याण किया करते हैं।

जिस प्रकार बौद्ध धर्म में अतोत, अनागत और वर्तमान बुद्धों की स्थिति मानी गई है उसी प्रकार सूफो साधकों ने पैगम्बरों का त्रैकालिक अस्तित्व स्वीकार किया है।<sup>२</sup> पुनः बुद्ध के समान ही सभी पैगम्बरों में धर्म सन्देश या धर्म शिक्षा की भावना दिखाई देती है। अतः बुद्ध और पैगम्बरों के प्रयोजनों में समानता है।

यद्यपि बुद्ध और पैगम्बर की अवधारणा में कुछ अन्तर भी हैं—जहाँ बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी है वहाँ इस्लाम ईश्वरवादी है अतः पैगम्बर ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। बुद्ध अपनी स्वानुभूति के आधार पर प्राप्त सत्य का सन्देश देते हैं, जबकि पैगम्बर ईश्वर के सन्देशवाहक हैं। बुद्ध अपना सन्देश सुनाते हैं जबकि पैगम्बर ईश्वर का सन्देश सुनाते हैं। बुद्ध स्वयं की साधना के बल पर बुद्ध के रूप में उत्पन्न होते हैं, जबकि पैगम्बर ईश्वर (अल्लाह) के द्वारा उत्पन्न होते हैं। बुद्ध स्वयं सत्य का साक्षात्कार करते हैं, जबकि पैगम्बर को सत्य का दर्शन अल्लाह कराता है। अतः बुद्ध और पैगम्बर की अवधारणा में किञ्चित् समानता और किञ्चित् भेद है।



१. दि अवारिफुल मारिफ, पृ० १३३ : उद्धृत—मध्यकालीन साहित्य में अवतार-वाद, पृ० २६५।

२. सूफ़ीमत साधना और साहित्य, पृ० ३५१।



## उपसंहार

भारतीय धर्मों में अवतार, बुद्ध और तीर्थंकर की अवधारणाएँ अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। जहाँ हिन्दू धर्म में उपास्य के रूप में अवतार को स्थान मिला है, वहाँ बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म में क्रमशः बुद्ध और तीर्थंकर को उपास्य माना गया है। ये तीनों अवधारणाएँ भारतीय धर्म दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

प्रत्येक धर्म के लिए दो बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। सर्वप्रथम तो उसमें एक धर्मप्रवर्तक होता है, जो धर्म-साधना तथा आचार की पद्धति निर्धारित करता है। इस प्रकार धर्म-प्रवर्तक उस धर्म के धार्मिक और सामाजिक नियमों और मर्यादाओं का संस्थापक होता है। उस धर्म के अनुयायियों के लिए उसके वचन प्रमाण होते हैं। पुनः सभी धर्मों में साधना का एक आदर्श होता है, इसे हम धार्मिक जीवन का साध्य भी कह सकते हैं। संसार के सभी धर्मों में यह दोनों तत्त्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः जो धर्म का प्रवर्तक होता है, वही धार्मिक साधना का आदर्श और साध्य भी होता है। ईश्वरवादी धर्मों में जहाँ एक ओर ईश्वर को अवतार के रूप में धर्म का प्रवर्तक कहा गया है, वहीं उसकी प्राप्ति को धार्मिक जीवन का साध्य भी मान लिया गया है। अनीश्वरवादी धर्मों में भी उसके प्रवर्तक को न केवल धर्म-प्रवर्तक के रूप में देखा गया, अपितु उसे धार्मिक साधना के उच्चतम आदर्श के रूप में भी स्वीकार किया गया और समग्र धर्म-साधना को उस आदर्श या ऊँचाई तक पहुँचाने के लिए एक साधन माना गया। जैन और बौद्ध धर्मों में तीर्थंकर और बुद्ध धर्म-प्रवर्तक के साथ-साथ धार्मिक साधना के आदर्श भी माने गये। इस प्रकार प्रत्येक धर्म का प्रवर्तक धार्मिक जीवन का साध्य भी बन गया। जैन धर्म में यह केन्द्रीय तत्त्व तीर्थंकर के रूप में, बौद्ध धर्म में बुद्ध के रूप में, हिन्दू धर्म में अवतार के रूप में, इस्लाम में पैगम्बर के रूप में तथा ईसाई धर्म में ईश्वर-पुत्र के रूप में स्वीकार किया गया।

जैन धर्म में तीर्थंकर धर्म संस्थापक के साथ-साथ धार्मिक साधना का आदर्श भी है। “शक्रस्तव” नामक प्राकृत स्तोत्र में तीर्थंकर को धर्म का आरम्भ करने वाला, धर्म का दाता, धर्म का उपदेशक, धर्म का नेता और

धर्म का सारथी कहा गया है। इस प्रकार जैन धर्म में साधना का केन्द्र-बिन्दु तीर्थंकर है। तीर्थंकर शब्द “तीर्थ” से बना है। तीर्थ शब्द के अनेक अर्थ हैं, यथा—घाट या नदी का तीर, जैन धर्म में धर्मशासन एवं चतुर्विध संघ को भी तीर्थ कहा गया है। इसी आधार पर संसाररूपी समुद्र से पार कराने वाले, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले अथवा श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—इस चतुर्विध संघ के संस्थापक को तीर्थंकर कहा गया है। तीर्थंकरत्व की प्राप्ति व्यक्ति की उच्च आध्यात्मिक साधना का परिणाम है। समवायांग में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कोई भी जोव तप-साधना के द्वारा तीर्थंकर नाम-कर्म का उपाजन कर तीर्थंकर बन सकता है। सामान्यतया तीर्थंकर और अरिहन्त दोनों को एक ही माना जाता है, परन्तु कुछ जैनाचार्यों ने इनमें अन्तर किया है। जैन धर्म में जीवन-मुक्त अवस्था के दो भेद हैं—प्रथम वे, जिनके विशेष पुण्योदय के कारण गर्भ, जन्म, दीक्षा, कैवल्य एवं निर्वाण कल्याणक (महोत्सव) मनाये जाते हैं, तीर्थंकर कहलाते हैं; दूसरे वे, जिनके ऐसे महोत्सव नहीं मनाये जाते, अर्हत् या सामान्य-केवली कहे जाते हैं। अर्हत् (सामान्य-केवली) और तीर्थंकर आध्यात्मिक श्रेष्ठता से समान होते हैं, अन्तर मात्र इतना है कि सामान्य-केवली स्वयम् अपनी मुक्ति का लक्ष्य लेकर साधना मार्ग में प्रवेश करता है, जबकि तीर्थंकर धर्म-तीर्थ की स्थापना का लक्ष्य लेकर आते हैं और संसार-सागर से स्वयं पार होने के साथ-साथ दूसरों को भी पार कराते हैं। इस प्रकार स्वहित और लोकहित की दृष्टि से ही इनमें अन्तर है। सामान्य केवली की अपेक्षा तीर्थंकर आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने के पश्चात् भी लोकहित में लगा रहता है। लोक-कल्याण ही उनके जीवन का ध्येय बन जाता है। जैन धर्म में प्रत्येक बुद्ध और सामान्य-केवली दोनों ही आत्म-कल्याण का आदर्श लेकर चलते हैं, दोनों में मात्र अन्तर यह है कि प्रत्येक बुद्ध किसी निमित्त से स्वयं वैराग्य को प्राप्त कर कैवल्य और निर्वाण लाभ प्राप्त करते हैं, जबकि सामान्य-केवली किसी उपदेश से साधना मार्ग में प्रवृत्त होकर अध्यात्म पूर्णता को प्राप्त होता है। एक स्वयं-सम्बुद्ध है तो दूसरा बुद्ध-बोधित है अर्थात् गुरु के सहारे चलने वाला। “समवायांग” में तीर्थंकर के ३४ विशिष्ट गुणों का विवेचन है। श्वेतांबर आगम “ज्ञाताधर्मकथा” में तीर्थंकरत्व प्राप्त करने के बीस कारण बतलाये गये हैं, जबकि दिग्म्बर साहित्य में १६ कारण बतलाये गये हैं। जैन मान्यता के अनुसार भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रत्येक अवसर्पिणा और उत्सर्पिणी काल में २४-२४ तीर्थंकर होते

हैं, जब कि विदेह क्षेत्र में सदैव २० तीर्थंकर रहते हैं। जैन धर्म में तीर्थंकर मात्र धर्ममार्ग का उपदेष्टा और साधना का आदर्श है। वह केवल मार्ग बताता है, प्रेरणा देता है, किन्तु साधना तो व्यक्ति को स्वयं करनी होती है। जैन धर्म का तीर्थंकर किसी पर कृपा नहीं कर सकता वह मार्गोपदेष्टा है, जो उसके द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर चलेगा वह अपने साध्य को प्राप्त करेगा। आचारांग के "आणाये मामगं धम्म" अर्थात् मेरी आज्ञा में धर्म है का तात्पर्य केवल आदेश के अनुसार आचरण करने से है। तीर्थंकर भक्त पर कृपा नहीं करते, वे तो मात्र मार्गोपदेष्टा और साधना के आदर्श हैं। श्रीमद् देवचन्द ने कहा है—

अज कुलगत केशरी लहेरे, निज पद सिंह निहाल।

तिम प्रभु भक्ती भवी लहेरे, आतम शक्ति संभाल ॥

अर्थात् जिस प्रकार भेड़ों के समूह में पला हुआ सिंह-शावक सिंह को देखकर अपने स्वरूप को पहचान लेता है, उसी प्रकार भक्त भी प्रभु की भक्ति के द्वारा अपने आत्मस्वरूप को पहचान लेता है। स्व-स्वरूप का बोध तो स्वयं साधक को करना है, उपास्य तो वहाँ निमित्त मात्र है। जैन धर्म में कृपा के स्थान पर पुरुषार्थ को महत्त्व दिया गया है। उसका तीर्थंकर तो वीतराग है, अतः उसके प्रसन्न या अप्रसन्न होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार जैन धर्म में कृपा का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। व्यक्ति को अपने कृत कर्मों के फल का भोग भी अवश्य करना है और अपने पुरुषार्थ से ही अपना आध्यात्मिक विकास करना है। अतः कृपा नहीं, पुरुषार्थ ही जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है और उसका तीर्थंकर एक उदासीन मार्गदर्शक मात्र है, जो अपने भक्त के लिए कुछ नहीं करता।

बौद्ध धर्म में बुद्ध को धर्मचक्र का प्रवर्तक तथा धर्म का शास्ता कहा गया है। मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय तथा कथावत्थु में बुद्ध को अनुत्पन्न मार्ग का प्रवर्तक, मार्ग-द्घोषा एवं मार्ग को जानने वाला कहा गया है। बुद्ध को श्रमण, बाह्याण, वेदज्ञ, भिषक्, निर्मल, विमल, ज्ञानी, विमुक्त आदि नामों से भी पुकारा गया है। बुद्ध शब्द का अर्थ है—जागृत। बौद्ध धर्म में भी प्रत्येक प्राणी वीर्य, प्रज्ञा और पुरुषार्थ द्वारा बुद्धत्व को प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक प्राणी बुद्ध-बीज है और बुद्धत्व की क्षमता से युक्त है। गौतम भी अपने पुरुषार्थ से ही सम्यक्-ज्ञान प्राप्त कर "भगवान् बुद्ध" या "सम्यक् संबुद्ध" बने। थेरवाद के अनुसार वे ज्ञान और प्रज्ञा के क्षेत्र

में अलौकिक होते हुए भी शारीरिक धर्मों की दृष्टि से अन्य मनुष्यों के समान ही माने गये थे, किन्तु क्रमशः उनके व्यक्तित्व में अन्य अलौकिकताओं को प्रवेश मिलता गया। हीनयान के बुद्ध का लक्ष्य अपने क्लेशों से मुक्ति पाकर अर्हत् पद प्राप्त करना होता है, जबकि महायान का बुद्ध संसार के सभी प्राणियों के निर्वाण लाभ के बाद ही स्वयं का निर्वाण चाहता है। यद्यपि बौद्ध धर्म नित्य आत्मतत्त्व को मानने से इन्कार करता है, फिर भी उसमें चित्तधारा को मानकर बोधिसत्व और बुद्ध की सत्ता को स्वीकार किया गया है। उसमें चित्तधारा एक ऐसा योजकसूत्र है, जिसके चित्तक्षण एक दूसरे से पृथक् होकर भी व्यक्तित्व की सर्जना कर देते हैं। बौद्धधर्म के अनुसार कोई भी व्यक्ति १० पारमिताओं की साधना के द्वारा बुद्धत्व को प्राप्त कर सकता है। निदानकथा के अनुसार निम्न ८ गुणों से युक्त व्यक्ति बुद्धत्व को प्राप्त हो सकता है—मनुष्य योनि, पुरुष लिंग, हेतु (बुद्ध-बोजत्व), शास्तादर्शन, प्रव्रज्या, गुण-सम्प्राप्ति, अधिकार और छन्दता। महायान सम्प्रदाय में बुद्धत्व की प्राप्ति का मूलाधार बोधिचित्त का उत्पाद है, क्योंकि बोधिचित्त का उदय होते ही प्राणी के अन्दर करुणा भाव की अनुभूति होने लगती है और यही करुणा भाव बुद्धचित्त की प्राप्ति का आवश्यक तत्त्व है। हीनयान और महायान के प्रारम्भिक ग्रन्थों में बुद्ध के रूपकाय और धर्मकाय की चर्चा उपलब्ध है, किन्तु आगे चलकर बुद्ध के रूपकाय को अनित्य और विनाशशील माना गया और धर्मकाय को स्वाभाविक और नित्य कहा गया। महायान में बुद्ध के रूपकाय को सम्भोगकाय और निर्माणकाय में विभाजित करके त्रिकायवाद की अवधारणा का विकास हुआ। जैनधर्म के समान बौद्ध धर्म में भी अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध और बुद्ध की अवधारणाएँ मिलती हैं। अर्हत् पथ का साधक बुद्ध के उपदेशों से प्रेरित होकर साधना के द्वारा दुःख-विमुक्ति और निर्वाणलाभ प्राप्त करता है। किन्तु बुद्ध और बोधिसत्व का साध्य अपनी दुःख-विमुक्ति के साथ संसार के प्राणियों की दुःख-मुक्ति भी होती है। बौद्ध धर्म में भी प्रारम्भ में ७, फिर २४ बुद्धों की अवधारणा प्रचलित हुई। बौद्ध धर्म में भक्ति की अवधारणा का विकास भागवत धर्म के प्रभाव का ही प्रतिफल है। यद्यपि प्रारम्भिक पालि ग्रन्थों में “सद्धा” का उल्लेख है फिर भी भक्ति-प्रधान नहीं है, किन्तु आगे चलकर जातकों तथा महायान ग्रन्थों में सर्वत्र भक्ति तत्त्व विद्यमान हैं। लोक-कल्याण ही बुद्धत्व का आदर्श है। बुद्ध ने स्वयं बोधि प्राप्त कर

लोक-कल्याण के लिए कार्य करना श्रेयस्कर समझा और सन्देश दिया कि हे भिक्षुओं ! बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोक की अनुकम्पा के लिए तथा देव और मनुष्यों के सुख के लिए परिचारण करते रहो ।

जहाँ तक हिन्दू धर्म में अवतार को अवधारणा का प्रश्न है, अवतार शब्द का सामान्य अर्थ होता है—नीचे उतरने वाला । किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में अवतार का अर्थ है—दैवीय शक्ति का दिव्य लोक से भूतल पर उतरना । हिन्दू धर्म में “अवतार” शब्द का प्रयोग आसुरी शक्तियों के विनाश, साधुजनों के रक्षण एवं धर्म स्थापनार्थ ईश्वर के शरीर धारण के अर्थ में किया गया है । ऋग्वेद में प्रयुक्त “अवतार” शब्द का अर्थ विनाश या संकट दूर करने वाला है । सामान्यतया अवतरण का अर्थ विष्णु अर्थात् ईश्वर के अवतरण से है, किन्तु प्रारम्भ में अवतार की अवधारणा का तात्पर्य मुख्यतः इन्द्र तथा प्रजापति के अवतार से था, कालान्तर में वह विष्णु पर आरोपित हो गया । अवतारवाद का प्रारम्भिक परिचय महाभारत और पुराणों में मिलता है । महाभारत में पहले विष्णु के ६ अवतार—वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण की चर्चा हुई है । पुनः अगले अध्याय में ६ के साथ ४ अवतार—हंस, कूर्म, मत्स्य और कल्कि को मिलाकर १० की संख्या पूरी की गयी है । विष्णु-पुराण में दशावतार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु अग्नि, वराह, नृसिंह, देवीभागवत, हरिवंश, वायु और ब्रह्मपुराणों में १० अवतारों की सूचियाँ कुछ अन्तर के साथ मिलती हैं । भागवत में विष्णु के अवतारों की अनेक सूचियाँ मिलती हैं, जिसमें २४ अवतारों की अवधारणा भी है । विष्णु शब्द को व्युत्पत्ति विश् अर्थात् प्रवेश करना अथवा अश् अर्थात् व्याप्त करना धातु से की गयी है । ऋग्वेद में विष्णु को सौर देवता कहा गया है और वे सूर्य के ही रूप हैं । कठोपनिषद् में विष्णु को व्यापक या व्यमनशील कहा गया है । आचार्य यास्क के अनुसार रश्मियों द्वारा समग्र संसार को व्याप्त करने के कारण सूर्य ही विष्णु नाम से अभिहित हुए हैं । महाभारत, मत्स्य, ब्रह्म और श्रीमद्भागवत में भी सूर्य ही विष्णु के प्रत्यक्ष रूप माने गये हैं । इस विराद् भावना के कारण पुराणों में विष्णु का महत्त्व स्वीकार किया गया है । विष्णु के अवतार की अवधारणा के प्रारम्भिक रूप का दर्शन हमें महाभारत और वाल्मीकि रामायण में होता है । इन दोनों महाकाव्यों में अवतार की

अवधारणा का मूल उद्देश्य आसुरी शक्ति का विनाश ही विदित होता है। अवतार का मुख्य उद्देश्य यहाँ दैत्यों का संहार है। वाल्मीकि रामायण में राम को दैत्यों के संहार के मुख्य प्रयोजन के कारण विष्णु का अवतार कहा गया है। महाभारत के अनुसार भी दैत्यों का संहार करने के लिए विष्णु ने श्रीकृष्ण के रूप में अंशावतार ग्रहण किया है। गीता के चतुर्थ अध्याय में भी अवतार की अवधारणा मिलती है। विशेषता यह है कि महाभारत कृष्ण को पूर्णावतार न कहकर अंशावतार ही कहती है। गीता में ईश्वर के अवतार का प्रयोजन धर्म की स्थापना, साधुओं की रक्षा और दुष्टों का विनाश करना कहा गया है। विष्णुपुराण एवं भागवत में भी अवतार का प्रयोजन धर्म की रक्षा एवं भूभार-हरण है। अवतारवाद की अवधारणा का मनोवैज्ञानिक पक्ष यह है कि वह मनुष्य को आत्मविश्वास दिलाता है कि वह नितान्त एकाकी नहीं है, कोई अदृश्य शक्ति उसकी सहायक है और उसे कष्टों से मुक्त करने में प्रयत्नशील रहती है। मनुष्य में यह आस्था या विश्वास जागृत करना ही मनोविज्ञान के दृष्टिकोण में अवतारवाद का मूल उत्स है, क्योंकि श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन से कहते हैं कि तू मेरे में मन लगा, मुझे ही नमस्कार कर, मैं तुझे सर्वपापों से मुक्त कर दूंगा। इस प्रकार हिन्दू धर्म का अवतार भक्तों के योगक्षेम का वाहक और लोककल्याण का कर्ता है।

संक्षेप में तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार सभी के जीवन का मूलभूत लक्ष्य धर्म की संस्थापना या धर्म का प्रवर्तन है। फिर भी तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणाओं से भिन्न अवतार की अवधारणा का लक्ष्य न केवल धर्म की संस्थापना है अपितु साधुजनों की रक्षा तथा दुष्टों का विनाश भी है। इस प्रकार जहाँ तीर्थंकर और बुद्ध मूलतः धर्म संस्थापना के लक्ष्य को लेकर चलते हैं, वहाँ अवतार धर्म संस्थापना के साथ दुष्टों का नाश और साधुजनों की रक्षा का लक्ष्य भी अपने सामने रखता है। पुनः तीर्थंकर और बुद्ध मूलतः व्यक्ति के सर्वोच्च आध्यात्मिक विकास के परिचायक हैं। इन दोनों अवधारणाओं में व्यक्ति को परमात्म-स्वरूप एवं बुद्ध-बोज माना गया है और यह बताया गया है कि व्यक्ति अपने आध्यात्मिक विकास के द्वारा उसे प्राप्त भी कर सकता है, जबकि हिन्दू धर्म में व्यक्ति को ईश्वर का अंश माना गया है और उसमें एवं ईश्वर में एक अन्तर या दूरी मान ली गई है। उसकी भक्तिमार्गी परम्पराएँ स्वामी और दास की अवधारणा

से अपने को नहीं बचा सकी हैं। यद्यपि उपनिषदकार और शंकर जैसे विचारक “अहं ब्रह्मास्मि” का निनाद भी करते हैं। पुनः हिन्दू धर्म में जो दस अवतारों की कल्पना है वह किसी सीमा तक जैविक-विकास की परिचायक तो अवश्य है, किन्तु अवतारवाद मूलतः विकास की अवधारणा का विरोधी ही है। तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणा में व्यक्ति नीचे से ऊपर आध्यात्मिक विकास की दिशा में उत्क्रमण करता है, जबकि अवतार की अवधारणा में पूर्ण पुरुष ऊपर से नीचे की ओर आता है। इस प्रकार उत्तरण एवम् अवतरण के प्रश्न को लेकर ये विचारधारार्ये एक दूसरे से भिन्न हैं। तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणा व्यक्ति को यह आश्वासन देती है कि यदि वह आध्यात्मिक साधना के द्वारा प्रगति करे तो स्वयं भी तीर्थंकरत्व या बुद्धत्व को प्राप्त कर सकता है। जबकि अवतारवाद की अवधारणा में व्यक्ति अपनी साधना के द्वारा चाहे ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त कर ले, परन्तु ईश्वर नहीं बन सकता। अवतारवाद के अनुसार उपास्य और उपासक का भेद सदा बना रहना है जबकि तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणाएँ इस द्वैत को समाप्त करने की बात करती हैं, चाहे वह बौद्ध धर्म हो या जैन धर्म, दोनों ही व्यक्ति को सम्प्रभुता को स्वीकार करके चलते हैं, जबकि अवतारवाद उस सम्प्रभुता को स्वीकार नहीं करता।

पुनः जहाँ तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणाएँ पुरुषार्थवाद का समर्थन करती हैं वहाँ अवतारवाद में कृपा और नियति के तत्त्व प्रमुख बन जाते हैं। तीर्थंकर और बुद्ध दोनों ही व्यक्ति को सन्देश देते हैं कि तू अपना भाग्य का निर्माता है, अपने उत्थान-पतन के लिए स्वयं ही जिम्मेदार है, जबकि अवतार व्यक्ति को यह आश्वासन देता है कि तू मेरे प्रति पूर्णरूप से समर्पित हो जा, फिर तेरे कल्याण का दायित्व मेरा है। यद्यपि यह सत्य है कि तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार तीनों ही लोकमाल के लक्ष्य को लेकर आते हैं। किन्तु यदि हम विचारपूर्वक देखें तो न तो तीर्थंकर और न बुद्ध ही लोककल्याण में सक्रिय भागीदार बनते हैं। वे मात्र मार्ग-उपदेष्टा या पथप्रदर्शक बन कर रह जाते हैं। वे अपने उपासक को यह आश्वासन नहीं दे पाते कि तुम्हारे कल्याण का सम्पूर्ण दायित्व हमारा है, जबकि अवतार लोककल्याण विशेष रूप से अपने भक्तों के लोककल्याण का सक्रिय भागीदार होता है। वस्तुतः तीर्थंकर और बुद्ध की अवधारणाओं से अवतार की अवधारणा को यह भिन्नता, मूलतः उन धर्मों की निवृत्ति-

मूलक और प्रवृत्तिमूलक दृष्टि के कारण है। जैन और बौद्ध धर्म निवृत्ति-मूलक हैं। इसीलिए वे तीर्थंकर और बुद्ध को भी लोकमंगल का सक्रिय भागीदार नहीं बना सके। यद्यपि महायान ने इस दिशा में एक कदम आगे बढ़ाया है, जबकि हिन्दू धर्म मूलतः प्रवृत्तिमार्गी है अतः वह अपने ईश्वर या अवतार को लोककल्याण का सक्रिय भागीदार बना सका है। वह भक्त की पीड़ा दूर करने हेतु भागा चला जाता है।

यद्यपि तीनों ही धर्मों में अपने उपास्य के प्रति आस्था और श्रद्धा को आवश्यक माना गया है, फिर भी जैन धर्म और बौद्ध धर्म उतने आस्था प्रधान और भक्ति प्रधान नहीं बन सके, जितना कि हिन्दू धर्म। जहाँ बौद्ध धर्म में ज्ञान या प्रज्ञा को प्रधानता मिली, वहाँ जैन धर्म चारित्र्य या सदाचरण प्रधान बना, जबकि हिन्दू धर्म और विशेष रूप से वैष्णव धर्म में प्रारम्भ से अन्त तक श्रद्धा या भक्ति तत्व ही प्रधान बना रहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार की अवधारणा में बहुत कुछ समानता होते हुए भी मौलिक अन्तर है। हमें ऐसा लगता है कि अवतारवाद की अवधारणा के प्रभाव के कारण ही जैन और बौद्धधर्म में २४ तीर्थंकर या २४ बुद्धों की कल्पना आई होगी। जैनधर्म और बौद्धधर्म के साहित्य का अवलोकन करने पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि २४ तीर्थंकरों और २४ बुद्धों की अवधारणा का विकास ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में ही हुआ है, यही काल पांचरात्र सम्प्रदाय एवं वैष्णव धर्म के विकास का भी काल है। सम्भवतः बौद्ध धर्म में जो महायान का विकास हुआ है और त्रिकायवाद की अवधारणा आई, वह भी बहुत कुछ वैष्णव धर्म का ही प्रभाव रहा हो। यद्यपि कुछ लोग यह भी कहने का साहस कर सकते हैं कि महायान का विकास वैष्णव धर्म के विकास का कारण बना हो, किन्तु जैन और बौद्ध धर्म की मूलभूत निवृत्तिमार्गी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए, हमें यही कहना पड़ेगा कि उनमें तीर्थंकरों और बुद्धों का दैवीकरण बहुत कुछ हिन्दू परम्परा के प्रभाव के कारण ही हुआ है। पुनः तीर्थंकर और बुद्ध वीतराग और वीततृष्ण होने के कारण वे अपने भक्तों के कल्याण के सक्रिय भागीदार नहीं हो सकते, इसी की पूर्ति के लिए जहाँ जैन धर्म में शासन-रक्षक देवता के रूप में पद्मावती, अम्बिका और चक्रेश्वरी तथा यक्ष-यक्षी की कल्पना विकसित हुई, वहीं बौद्धधर्म में तारा आदि की अवधारणा विकसित हुई। मात्र यही नहीं, इन धर्मों में तीर्थंकर और बुद्ध को अतिमानवीय बनाने के लिए इन्द्र और देवताओं को उनका



उपास्य भी बना दिया गया। जिस प्रकार हिन्दू धर्म में अन्य सब देवताओं को ईश्वर के अधोन करने का प्रयत्न किया गया वैसा ही एक प्रयत्न जैन और बौद्ध धर्मों में भी हुआ, जिसके परिणामस्वरूप इन्द्र और दूसरे देवताओं को तीर्थंकर और बुद्ध के उपास्य के रूप में दिखाया गया।

वस्तुतः जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परायें एक ही परिवेश में विकसित हुई हैं, अतः मूल दृष्टिकोण में अन्तर होते हुए भी उन्होंने एक दूसरे से काफी कुछ ग्रहण किया है। उनमें किसी भी परम्परा को एक दूसरे से पृथक् करके नहीं समझा जा सकता है। प्रस्तुत तुलनात्मक अध्ययन यह बताता है कि तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार का अवधारणाओं में इन तीनों परम्पराओं ने एक दूसरे से बहुत कुछ ग्रहण किया है—

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धार्मिक जीवन को साधना के रूप में तीर्थंकर, बुद्ध, अवतार तथा पैगम्बर का अवधारणा को स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि बिना किसी धर्मप्रवर्तक और धार्मिक जीवन के यथार्थ को स्वीकार कर कोई भी धर्म अपना अस्तित्व नहीं रख सकता।



# परिशिष्ट

( तालिका )

इस्लाम धर्मग्रन्थ : कुर्आनि शरीफ में उपलब्ध पैगम्बरों के नाम

क्रम संख्या	पारा १, सूरा २		पा० ३, सू० २, ३		पा० ५, सू० ४		पा० ७, सू० ६		पा० १६, सू० १६		पा० २२, सू० २३		पा० २८, सू० ६१
	पा० ६, सू० ५	पा० ५, सू० ५	पा० ३, सू० ३	पा० ३, सू० ३	पा० ५, सू० ५	पा० ५, सू० ५	पा० ७, सू० ७	पा० ७, सू० ७	पा० १६, सू० १६	पा० १६, सू० १६	पा० २२, सू० २३	पा० २२, सू० २३	
१.	आदम	आदम	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
२.	इब्राहीम	इब्राहीम	इब्राहीम	इब्राहीम	इब्राहीम	इब्राहीम	इब्राहीम	इब्राहीम	इब्राहीम	इब्राहीम	इब्राहीम	इब्राहीम	इब्राहीम
३.	याकूब	—	याकूब	याकूब	याकूब	याकूब	याकूब	याकूब	याकूब	याकूब	याकूब	याकूब	याकूब
४.	इस्माईल	—	इस्माईल	इस्माईल	इस्माईल	इस्माईल	इस्माईल	इस्माईल	इस्माईल	इस्माईल	इस्माईल	इस्माईल	इस्माईल
५.	इसहाक	—	इसहाक	इसहाक	इसहाक	इसहाक	इसहाक	इसहाक	इसहाक	इसहाक	इसहाक	इसहाक	इसहाक
६.	मूसा	—	मूसा	मूसा	मूसा	मूसा	मूसा	मूसा	मूसा	मूसा	मूसा	मूसा	मूसा
७.	ईसा	—	ईसा	ईसा	ईसा	ईसा	ईसा	ईसा	ईसा	ईसा	ईसा	ईसा	ईसा
८.	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
९.	—	—	अयूब	अयूब	अयूब	अयूब	अयूब	अयूब	अयूब	अयूब	अयूब	अयूब	अयूब
१०.	—	—	यूनुस	यूनुस	यूनुस	यूनुस	यूनुस	यूनुस	यूनुस	यूनुस	यूनुस	यूनुस	यूनुस
११.	—	—	हारून	हारून	हारून	हारून	हारून	हारून	हारून	हारून	हारून	हारून	हारून
१२.	—	—	सुलेमान	सुलेमान	सुलेमान	सुलेमान	सुलेमान	सुलेमान	सुलेमान	सुलेमान	सुलेमान	सुलेमान	सुलेमान
१३.	—	—	दाऊद	दाऊद	दाऊद	दाऊद	दाऊद	दाऊद	दाऊद	दाऊद	दाऊद	दाऊद	दाऊद
१४.	—	—	—	यसूफ	—	—	—	—	—	—	—	—	—

— — — — —  
अहमद

— — — — —  
मुहम्मद

जकारिया  
यहिया — — —  
इदीस  
इसराईल — — —

जकारिया  
यहिया  
इलयास  
यसअ  
लूत — — — — —

— — — — —

— — — — —

— — — — —

१५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३.

## श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों के आधार पर

### तीर्थङ्कर परिचय तालिका

क्रमसंख्या	तीर्थंकर नाम	पिता का नाम	माता का नाम	जन्मभूमि	च्यवनस्थल	च्यवननक्षत्र
१	२	३	४	५	६	
१.	ऋषभदेव	नाभि	मरुदेवी	अयोध्या	सर्वार्थसिद्धि	उत्तराषाढा
२.	अजितनाथ	जितशत्रु	विजया	अयोध्या	विजयविमान	रोहिणी
३.	संभवनाथ	जितारी	सेना	श्रावस्तो	सतवाग्नैवेचक	मृगशीर्ष
४.	अभिनन्दन	संवर	सिद्धार्थ	अयोध्या	जयंतविमान	पुनर्वसु
५.	सुमतिनाथ	मेघ	मंगला	अयोध्या	जयंतविमान	मघा
६.	पद्मप्रभ	धर	सुसीमा	कौशाम्बी	नौवाग्नैवेयक	चित्रा
७.	सुपाश्र्वनाथ	प्रतिष्ठ	पृथ्वी	वाराणसी	छठाग्नैवेयक	विशाखा
८.	चन्द्रप्रभ	महासेन	लक्ष्मणा	चन्द्रपुरी	वैजयन्त	अनुराधा
९.	सुविधिनाथ	सुग्रीव	रामा	काकन्दो	अनन्तस्वर्ग	मूल
१०.	शीतलनाथ	दृढ़रथ	नन्दा	भद्विलपुर	प्राणतस्वर्ग	पूर्वाषाढा
११.	श्रेयांसनाथ	विष्णु	विष्णु	सिंहपुर	अच्युतस्वर्ग	श्रवण
१२.	वासुपूज्य	वसुपूज्य	जया	चम्पा	प्राणतस्वर्ग	शतभिषा

१३.	विमलनाथ	कृतवर्मा	सामा	कंपिलपुर	संहंसारस्वर्ग	उत्तराभाद्रपदं
१४.	अनन्तनाथ	सिंहसेन	सुजशा	अयोध्या	प्राणतस्वर्ग	रेवती
१५.	धर्मनाथ	भानु	सुन्नता	रत्नपुर	विजय	पुष्य
१६.	शान्तिनाथ	विश्वसेन	अचिरा	हस्तिनापुर	सर्वार्थसिद्धि	भरणी
१७.	कुंथुनाथ	सूर	श्री	हस्तिनापुर	सर्वार्थसिद्धि	कृत्तिका
१८.	अरनाथ	सुदर्शन	देवी	हस्तिनापुर	सर्वार्थसिद्धि	रेवती
१९.	मल्लिनाथ	कुम्भ	प्रभावती	मिथिला	जयंत	अश्विनो
२०.	मुनिसुन्नत	सुमित्र	पद्मावती	राजगृह	अपराजितविमान	श्रवण
२१.	नमिनाथ	विजय	वप्रा	मिथिला	प्राणतस्वर्ग	अश्विनी
२२.	अरिष्टनेमि	समुद्रविजय	शिवा सोरियपुर	सोरियपुर	अपराजितविमान	चित्रा
२३.	पार्वनाथ	अश्वसेन	वामा	वाराणसी	प्राणतस्वर्ग	विशाखा
२४.	महावीर	सिद्धार्थ	त्रिशला	कुंडपुर	प्राणतस्वर्ग	उत्तराफाल्गुनी

नोट :—तालिका स्पष्टीकरण निर्देश अगले पृष्ठों पर दर्शाया गया है।

क्रमसंख्या	जन्म तिथि	जन्म नक्षत्र	दोक्षा नक्षत्र	केवलज्ञान नक्षत्र	निर्वाण नक्षत्र	चेत्य वृक्ष
७	८	९	१०	११	१२	
१.	चैत्र कृ० ९	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	अभिजित	न्यग्रोध
२.	माघ सु० ८, १०	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	मृगशीर्ष	शक्तिपर्ण
३.	माघ सु० १४	मृगशीर्ष	अभिजित	मृगशीर्ष	आर्द्रा	शाल
४.	माघ सु० २	पुष्य	मृगशीर्ष	अभिजित	पुष्य	पियय
५.	वैशाख सु० ८	मघा	मघा	मघा	पुनर्वसु	प्रियंगु
६.	कार्तिक कृ० १२	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा	छत्राभ
७.	ज्येष्ठ शु० १२	विशाखा	विशाखा	विशाखा	अनुराधा	सिरोश
८.	पौष कृ० १२	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	ज्येष्ठा	नागवृक्ष
९.	मार्गशीर्ष कृ० ५	मूल	मूल	मूल	मूल	माली
१०.	माघ कृ० १२	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा	पिलकबु
११.	फाल्गुन कृ० ११	श्रवण	श्रवण	श्रवण	घनिष्ठा	तिन्दुक
१२.	फाल्गुन कृ० १४	शतभिषा	शतभिषा	शतभिषा	उत्तराभाद्रपद	पाटल
१३.	माघ सु० ३	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्रपद	रेवती	जम्बू
१४.	वैशाख कृ० १३	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	अश्वत्थ
१५.	माघ सु० ३	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्य	दधिपर्ण
१६.	ज्येष्ठ कृ० १३	भरणी	भरणी	भरणी	भरणी	नन्दि वृक्ष

१७.	वैशाख कृ० १४	कृत्तिका	कृत्तिका	कृत्तिका	कृत्तिका	पिलवबु
१८.	मार्गशीर्ष सु० १०	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	आम्र
१९.	मार्ग सु० ११	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	भरणी	अशोक
२०.	ज्येष्ठ कृ० ८	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण	चम्पक
२१.	श्रावण कृ० ८	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	बकुल
२२.	श्रावण शु० ५	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा	वेतस
२३.	पौष १०	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा	धातकी
२४.	चैत्र शु० १३	उत्तराफाल्गुनी	उत्तराफाल्गुनी	उत्तराफाल्गुनी	स्वाति	साल



क्रमसंख्या	वर्ण	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९
		लांछन	यक्ष	यक्षिणी	प्रथम गणधर	प्रथम आर्यिका	आयु	
१.	तप्तस्वर्ण	वृषभ	गोवदन	चक्रेश्वरी	उषभसेन	ब्राह्मी	८४ लाख पूर्व	
२.	तप्तस्वर्ण	गज	महायज्ञ	रोहिणी	सिहसेन	फलगू	७२ "	
३.	तप्तस्वर्ण	अश्व	त्रिमुख	प्रज्ञाप्त	चार	श्यामा	६० "	
४.	तप्तस्वर्ण	वानर	यक्षेश्वर	वप्रशृखल	वज्रनाभ	आजीता	५० "	
५.	तप्तस्वर्ण	क्रौंच (कुञ्चु)	तुम्बुरव	वज्राङ्कशा	चमर	कासवी	४० "	
६.	लाल	कमल	मातृङ्ग	अप्रतिचक्रेश्वरी	प्रद्योत	रति	३० "	
७.	तप्तस्वर्ण	स्वस्तिक	विजय	पुरुषदत्ता	विदर्भ	सोमा	२० "	
८.	श्वेतवर्ण	चन्द्र	अजित	मनोवैगा	दिन्न	सुमना	१० "	
९.	श्वेतवर्ण	मगर	ब्रह्म	काली	वराह	वारुणी	३ "	
१०.	तप्तस्वर्ण	श्रीवत्स	ब्रह्मेश्वर	ज्वालामालिनी	प्रभुनन्द	सुलसा	१ "	
११.	तप्तस्वर्ण	गंडा	कुमार	महाकाली	कौस्तुभ	धारिणी	८४ लाख वर्ष	
१२.	लाल	महिषि	रान्मुख	गौरी	सुभीग	धरणी	७२ "	
१३.	तप्तस्वर्ण	वराह	पाताल	गान्धारी	मन्दर	धरणीधरा	६० "	
१४.	तप्तस्वर्ण	श्येन	किन्नर	वैरोटी	यश	पद्मा	३० "	
१५.	तप्तस्वर्ण	वज्र	किंपुरुष	सोलसा	अरिष्ठ	शिवा	१० "	
१६.	तप्तस्वर्ण	हरिण	गरुड	मानसी	चक्रायुध	सुयी (श्रुती)	१ "	

१७.	तप्तस्वर्ण	छाग	गन्धर्व	महामानसी	संव/सयंभू	अंजुया/भावितारुमा	१५ हजार
१८.	तप्तस्वर्ण	नन्दावर्त	कुवेर	जया	कुम्भ	रखी	८४ "
१९.	नील (प्रियंगु)	कलश	वरुण	विजया	भिसय	बन्धुमती	५५ "
२०.	काला	कूर्म	भृकुटी	अपराजिता	मल्ली	पुष्पवती	३० "
२१.	तप्तस्वर्ण	नीलोत्पल	गोमेध	बहुरूपिणी	सुभ	अमिला	१० "
२२.	श्यामवर्ण	शंख	पाशवं	कूष्माण्डी	वरदत्त	जक्षिणी	१ "
२३.	प्रियंगु	सर्प	मातङ्ग	पद्मा	अजदिन्न	पुष्पचूला	१०० वर्ष
२४.	तप्तस्वर्ण	सिंह	गुह्यक	सिद्धयिनी	इन्द्रभूति	चन्दना	७२ वर्ष

क्रमसंख्या	साधु सं०	साध्वी सं०	स्वेताम्बर	दिगम्बर	स्वेताम्बर	दिगम्बर
	२०	२१	२२	२३	२४	२५
१.	८४ हजार	३ लाख	३ लाख ५० हजार	३ लाख	५ लाख ५४ हजार	५ लाख
२.	१ लाख	३ लाख ३० हजार	२ लाख ९८ हजार	३ लाख	५ लाख ४५ हजार	५ लाख
३.	२ लाख	३ लाख ३६ हजार	२ लाख ९३ हजार	३ लाख	६ लाख ३६ हजार	५ लाख
४.	३ लाख	६ लाख ३० हजार	२ लाख ८८ हजार	३ लाख	५ लाख २७ हजार	५ लाख
५.	३ लाख २० हजार	५ लाख ३० हजार	२ लाख ८१ हजार	३ लाख	५ लाख १६ हजार	५ लाख
६.	३ लाख ३० हजार	४ लाख २० हजार	२ लाख ७६ हजार	३ लाख	५ लाख ५ हजार	५ लाख
७.	३ लाख	४ लाख ३० हजार	२ लाख ५७ हजार	३ लाख	४ लाख ९३ हजार	५ लाख
८.	२ लाख ५० हजार	३ लाख ८० हजार	२ लाख ५० हजार	३ लाख	४ लाख ९१ हजार	५ लाख
९.	२ लाख	१ लाख २० हजार	२ लाख २९ हजार	२ लाख	४ लाख ७१ हजार	४ लाख
१०.	१ लाख	१ लाख मात्र ६	२ लाख ८९ हजार	२ लाख	४ लाख ५८ हजार	४ लाख
११.	८४ हजार	१ लाख ३ हजार	२ लाख ७९ हजार	२ लाख	४ लाख ४८ हजार	४ लाख
१२.	७२ हजार	१ लाख	२ लाख १५ हजार	२ लाख	४ लाख ३६ हजार	४ लाख
१३.	६८ हजार	१ लाख ८ सौ	२ लाख ८ हजार	२ लाख	४ लाख २४ हजार	४ लाख
१४.	६६ हजार	६२ हजार	२ लाख ६ हजार	२ लाख	४ लाख १४ हजार	४ लाख
१५.	६४ हजार	६२ हजार ४ सौ	२ लाख ४ हजार	२ लाख	४ लाख १३ हजार	४ लाख
१६.	६२ हजार	६१ हजार ६ सौ	२ लाख ९० हजार	२ लाख	३ लाख ९३ हजार	४ लाख

१७.	६० हजार	६० हजार ६ सौ	१ लाख ७९ हजार	१ लाख	३ लाख ८१ हजार	३ लाख
१८.	५० हजार	६० हजार	१ लाख ८४ हजार	१ लाख	३ लाख ७२ हजार	३ लाख
१९.	४० हजार	५५ हजार	१ लाख ८३ हजार	१ लाख	३ लाख ७० हजार	३ लाख
२०.	३० हजार	५० हजार	१ लाख ७२ हजार	१ लाख	३ लाख ५० हजार	३ लाख
२१.	२० हजार	४१ हजार	१ लाख ७० हजार	१ लाख	३ लाख ४८ हजार	३ लाख
२२.	१८ हजार	४० हजार	१ लाख ७१ हजार	१ लाख	३ लाख ३६ हजार	३ लाख
२३.	१६ हजार	३८ हजार	१ लाख ६४ हजार	१ लाख	३ लाख ३९ हजार	३ लाख
२४.	१४ हजार	३६ हजार	१ लाख ५९ हजार	१ लाख	३ लाख १८ हजार	३ लाख

३०४ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

तीर्थंकर परिचय तालिका निर्देश :

उपयुक्त ग्रन्थ—श्वेताम्बर : समवायांग ( सम० ); प्रवचनसारोद्धार ( प्रव० ); आवश्यकनिर्युक्ति ( आ० नि० ), सत्तरिसयद्वार ( सत्त० ), दिगम्बर : हरिवंशपुराण ( हरि० पु० ), उत्तरपुराण ( उ० पु० ) तिलोपपणत्ति ( ति०प० ) ।

परिचय तालिका उपरोक्त ग्रन्थों के आधार पर संकलित की गयी है। जिन ग्रन्थों में नाम-साम्य में विभेद हैं उसे अधोलिखित किया जा रहा है—

तीर्थंकर क्रमांक	तालिका कालम नं०	ग्रन्थ का नाम	क्या कहा गया है ?
३	२	उ० पु०	दृढ़राज्य
९	३	उ० पु०	जयरामा
१३	३	हरि० पु०	शर्मा
१४	३	उ० पु०	जयश्यामा
१८	३	दिग० ग्र०	मित्रा
२०	३	उ० पु०	सोमा
२४	३	दिग० ग्र०	प्रियकारिणी
४	४	आ० नि०	विनीता
५	४	आ० नि०	कोसलपुर
१०	४	उ० पु०	भद्रपुर
१६, १७, १८	४	सत्त० आ० नि०	गजपुरम
२२	४	उ० पु०	द्वारावती
३	५	उ० पु०	प्रथम ग्रैवेयक
६	५	उ० पु०, ति० प०	ऊर्ध्व ग्रैवेयक
९	५	उ० पु०	प्राणत स्वर्ग
१०	५	उ० पु०	आरण १५वाँ स्वर्ग
११	५	ति० पु०	पुष्पोत्तर विमान
९	३	आ० नि०	श्यामा

दिगम्बर ग्रन्थ—दिग० ग्र०, श्वेताम्बर ग्रन्थ—श्वे० ग्र०

तीर्थकर क्रमांक	तालिका कालम नं०	ग्रन्थ का नाम	क्या कहा गया है ?
११	३	उ० पु०	सुनन्दा
१३	३	उ० पु०, ति० प०	जयश्यामा
१६	३	दि० ग० ग्र०	ऐरा
१६	३	हरि० पु०	रक्षिता
२३	३	उ० पु०	ब्राह्मो
१	४	सत्त०, आ० नि०	इक्ष्वाकुभूमि
४	४	ति० प०	साकेतपुरी
५	४	ति० प०	साकेतपुरी
११	४	हरि० पु०	सिंहनादपुर
२०	४	हरि० पु०	कुशाग्रनगर
२२	४	ति० प०	शौरोपुर
३	५	ति० प०	अधोग्रैवेयक
७	५	उ० पु०, ति० प०	मध्य ग्रैवेयक
९	५	ति० प०	आरण युगल
१०	५	ति० प०	आरण युगल
१२	५	उ० पु०, ति० प०	महाशुक्र विमान
१३	५	ति० प०	शतारकल्प
१५	५	उ० पु०, ति० प०	सर्वार्थसिद्ध
१८	५	ति० प०	अपराजित
२०	५	उ० पु०	प्राणत
२२	५	उ० पु०	जेन
१५	६	दिग० ग्र०	रेवती
१	७	सत्त०	चैत्र कृ० ८
३	७	हरि० पु०, ति० प०	मार्ग सु० १५
४	७	दिग० ग्र०	माघ सु० १२
५	७	उ० पु०	चैत्र शु० ११
९	७	दिग० ग्र०	मार्ग कृ० १
१३	७	दिग० ग्र०	माघ शु० १४
१५	७	दिग० ग्र०	माघ शु० १३
१७	७	दिग० ग्र०	वैशाख शु० १

तीर्थंकर क्रमांक	तालिका कालम नं०	ग्रन्थ का नाम	क्या कहा गया है ?
२१	७	दिगं ग्र०	आषाढ़ कृ० १०
२२	७	हरिं पु०, ति० प०	वैशाख शु० १३
२३	७	दिगं ग्र०	पौष कृ० ११
४	८	दिगं ग्र०	पुनर्वसु
१३	८	दिगं ग्र०	पूर्वाभाद्रपद
३	९	दिगं ग्र०	ज्येष्ठा
९	९	दिगं ग्र०	अनुराधा
१२	९	दिगं ग्र०	विशाखा
३	१०	दिगं ग्र०	ज्येष्ठा
५	१०	दिगं ग्र०	हस्त
१२	१०	दिगं ग्र०	विशाखा
१४	५	उ० पु०, ति० प०	पुष्योत्तरविमान
१८	५	उ० पु०	जयंत
१९, २१	५	उ० पु०, ति० प०	अपराजितविमान
२०	५	ति० प०	आनतविमान
२४	५	उ० पु०, ति० प०	पुष्योत्तरविमान
२२, २४	६	दिगं ग्र०	उत्तराषाढ़ा
२	७	हरिं पु०	माघ सु० ९
३	७	उ० पु०	कार्तिक शु० १५
५	७	हरिं पु०, ति० प०	श्रावण शु० ११
६	७	दिगं ग्र०	कार्तिक कृ० १३
११	७	सत्त०	फाल्गुन कृ० १२
१४	७	दिगं ग्र०	ज्येष्ठ कृ० १२
१६	७	दिगं ग्र०	ज्येष्ठ कृ० १४
२०	७	दिगं ग्र०	आश्विन शु० १२
२१	७	ति० प०	आषाढ़ शु० १०
२२	७	उ० पु०	श्रावण शु० ६
३	८	दिगं ग्र०	ज्येष्ठा
१२	८	दिगं ग्र०	विशाखा
१८	८	दिगं ग्र०	रोहिणी

तीर्थंकर क्रमांक	तालिका कालम नं०	ग्रन्थ का नाम	क्या कहा गया है ?
४	९	दिग० ग्र०	पुनर्वसु
१०	९	दिग० ग्र०	मूल
२४	९	दिग० ग्र०	उत्तरा
४	१०	दिग० ग्र०	पुनर्वसु
१३	१०	दिग० ग्र०	उत्तराषाढा
२४	१०	दिग० ग्र०	मघा
१	११	दिग० ग्र०	उत्तराषाढा
३	११	दिग० ग्र०	ज्येष्ठा
५	११	दिग० ग्र०	मघा
१३	११	दिग० ग्र०	पूर्वभाद्रपद
२	१२	हरि० पु०	सप्तपर्ण
६	१२	हरि० पु०	प्रियंगु
१०	१२	हरि० पु०	प्लक्ष
१४	१२	हरि० पु०	पीपल
२३	१२	हरि० पु०	धव
७	१३	हरि०, पु०, ति० प०	हरितवर्ण
८	१३	हरि० पु०	गोर श्वेत
९	१३	हरि० पु०	शंख के समान
२०, २२	१३	दिग० ग्र०	नीलवर्ण
२३	१३	ति० प०, उ० पु०	हरित वर्ण
५	१४	ति० प०	चकवा
८	१४	ति० प०	अर्द्धचन्द्र
१२	१४	ति० प०	भैंसा
१४	१४	ति० प०	सेही
१	१७	सत्त०	पुण्डरीक
२	१७	ति० प०	केसरीसेन
५	१७	ति० प०	वज्र
६	१७	सत्त०	सुज्ज-सुद्योत
७	१७	हरि०	बली
८	१७	हरि० पु०	दत्त



तीर्थंकर क्रमांक	तालिका कालम नं०	ग्रन्थ का नाम	क्या कहा गया है ?
१	१७	हरि० पु०	विदर्भ
२	११	दिग० ग्र०	भरणी
४	११	दिग० ग्र०	पुनर्वसु
१२	११	दिग० ग्र०	अश्विनी
१	१२	हरि० पु०	वट
४	१२	हरि० पु०	सरल
९	१२	हरि० पु०	शाली
१३	१२	हरि० पु०	जामुन
२२	१२	हरि० पु०	मेढासोंगी
४	१३	उ० पु०	चन्द्रमा के समान
७, ८	१३	उ० पु०	चन्द्रमा के समान
८, ९	१३	ति० प०	कुन्द पुष्प
१९	१३	दि० ग्र०	स्वर्ण
२३	१३	हरि० पु०	श्यामल
१	१४	ति० प०	बैल
७	१४	ति० प०	नन्द्यावर्त
१०	१४	ति० प०	स्वस्तिक
१३	१४	ति० प०	सूकर
१८	१४	ति० प०	तगर कुसुम (मत्स्य)
१	१७	हरि० पु०, ति० प०	वृषभसेन
४	१७	ति० प०	वज्रचमर
५	१७	सम०	सुव्रत
६	१७	हरि० पु०, ति० प०	वज्रचमर
७	१७	ति० प०	बलदत्त
८	१७	ति० प०	वैदर्भ
९	१७	ति० प०	नाग
१०	१७	हरि० पु०	अनगार
११	१७	सत्त०	कुच्छुभ
११	१७	ति० प०	धर्म
१२	१७	ति० प०	मन्दिर

तीर्थंकर क्रमांक	तालिका कालम नं०	ग्रन्थ का नाम	क्या कहा गया है ?
१४	१७	हरि० पु०	जय
१५	१७	ति० प०	सेन
१९	१७	सम०	इन्द्र
२०	१७	सम०	कुम्भ
२१	१७	ति० प०	सुप्रभ
२३	१७	हरि० पु०, ति० प०	स्वर्यभू
३	१८	दि० ग्र०	धर्म श्री/धर्माया
८	१८	दिग० ग्र०	वरुणा
१०	१८	दिग० ग्र०	धरणा
१२	१८	दिग० ग्र०	वरसेना
१४	१८	दिग० ग्र०	सर्वश्री
१६	१८	दिग० ग्र०	हरिसेणा
१८	१८	हरि० पु०, ति० प०	कुन्थुसेना
१९	१८	हरि० पु०, ति० प०	मधुसेना
२०	१८	हरि० पु०, ति० पु०	पूर्वदत्ता
२१	१८	दिग० ग्र०	मागिणी
२२	१८	हरि० पु०, उ० पु०	यक्षी
२३	१८	हरि० पु०, ति० प०	सुलोका
१०	१७	ति० प०	कुन्थु
११	१७	हरि० पु०	कुन्थु
१२	१७	सम०, हरि० पु०	सुधर्मा
१३	१७	ति० प०	जय
१४	१७	ति० प०	अरिष्ठ
१८	१७	हरि० पु०	कुन्थु
१९	१७	हरि० पु०, ति० प०	विशाख
२१	१७	हरि० पु०	शोमक
२३	१७	सत्त०	आर्यदत्त
२	१८	दिग० ग्र०	प्रकुब्जा
५	१८	अनन्तमती	अनन्तमती
९	१८	दिग० ग्र०	घोषा

तीर्थंकर क्रमांक	तालिका कालम नं०	ग्रन्थ का नाम	क्या कहा गया है ?
११	१८	दिग० ग्र०	चारणा
१३	१८	दिग० ग्र०	पद्मा
१५	१८	दिग० ग्र०	सुत्रता
१७	१८	प्रव०, सत्त०	दामिणी
१८	१८	उ० पु०	यक्षिला
१९	१८	उ० पु०	बन्धुषेणा
२०	१८	उ० पु०	पुष्पदन्ता
२२	१८	प्रव०, सत्त०	जक्खदिन्ना
२२	१८	ति० प०	यक्षिणी
२३	१८	उ० पु०	सुलोचना
१	२१	दिग० ग्र०	३ लाख ५० हजार
३	२१	दिग० ग्र०	३ लाख ५० हजार
५,७	२१	दिग० ग्र०	३ लाख ३० हजार
११	२१	दिग० ग्र०	१ लाख २० हजार
१३	२१	दिग० ग्र०	१ लाख ३० हजार
१६	२१	दिग० ग्र०	६० हजार ३ सौ
२१	२१	दिग० ग्र०	४५ हजार
२४	२१	हरि० पु०	३५ हजार
३	२१	उ० पु०	३ लाख २० हजार
२	२१	दिग० ग्र०	३ लाख २० हजार
४	२१	दिग० ग्र०	३ला० ३०ह० ६सौ
९,१०	२१	दिग० ग्र०	३ लाख ८० हजार
१२	२१	दिग० ग्र०	१ लाख ६ हजार
१४	२१	दिग० ग्र०	१ लाख ८ हजार
१७	२१	दिग० ग्र०	६०ह० ३सौ पचास
२३	२१	उ० पु०	३६ हजार
४	२१	हरि० पु०	३ लाख ३० हजार
११	२१	ति० प०	१ लाख ३० हजार

## बौद्ध धर्म के चौबीस बुद्धों की विवरण तालिका

बुद्ध का नाम	जन्म स्थान	पिता का नाम	माता का नाम	बोधिवृक्ष	प्रधान-शिष्य	परिचारक	प्रधान शिष्यायें	धर्म-सम्मेलन उपस्थिति	१	२	३	४	५	६	७	८
दीर्घकर	रम्यवती	सुदेव	सुमेधा	पिप्पली	सुमंगल	तिष्य	सागत	१	१	कौण्डिन्य	मंगल	सुमन	रेवत	शोभित	अनोमदर्शी	पद्म
रम्यवती	सुदेव	सुमेधा	पिप्पली	सुमंगल	तिष्य	सागत	नन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	खेम	धन्यवती	सुधर्म	चन्द्रवती	चम्पक
सुमेध	८० हाथ	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	सुनन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	सुदत्त	विपुल	सुधर्म	असम	असम
सुमेध	८० हाथ	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	सुनन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	सिरीमा	विपुल	सुधर्मा	असमा	असमा
सुमेध	८० हाथ	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	सुनन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	नागवृक्ष	नागवृक्ष	नागवृक्ष	महासोण	महासोण
सुमेध	८० हाथ	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	सुनन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	शरण	वहण	असम	साल	साल
सुमेध	८० हाथ	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	सुनन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	भावितास्मा	ब्रह्मदेव	सुनेत्र	उपसाल	उपसाल
सुमेध	८० हाथ	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	सुनन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	उदेन	संभव	अनोम	वहण	वहण
सुमेध	८० हाथ	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	सुनन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	सोणा	भद्रा	नकुला	रामा	रामा
सुमेध	८० हाथ	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	सुनन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	उपसोणा	सुभद्रा	सुजाता	सुरामा	सुरामा
सुमेध	८० हाथ	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	सुनन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	अशोका	अनुपलब्ध	१ अरब	१० खरब	१० खरब
सुमेध	८० हाथ	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	सुनन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	अशोका	१० खरब	१० खरब	३ लाख	३ लाख
सुमेध	८० हाथ	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	सुनन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	अशोका	१० खरब	१० खरब	२ लाख	२ लाख
सुमेध	८० हाथ	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	सुनन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	अशोका	१० खरब	१० खरब	सिहराज	सिहराज
सुमेध	८० हाथ	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	सुनन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	अशोका	१० खरब	१० खरब	५८ हाथ	५८ हाथ
सुमेध	८० हाथ	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	१ लाख	सुनन्दा	१	१	रम्यवती	उत्तर	अशोका	१० खरब	१० खरब	१ लाख	१ लाख

बुद्ध का नाम	१	नारद	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
जन्म स्थान	नारद	पद्मोत्तर	सुमेध	सुजात	प्रियदर्शी	अर्थदर्शी	धर्मदर्शी	सिद्धार्थ	
पिता का नाम	धन्ववती	हंसवती	सुदर्शन	सुमंगल	अनोम	शोभित	शरण	वैभार	
माता का नाम	सुदेव	आनन्द	सुदत्त	उग्रत	चन्दा	सागर	शरण	जयसेन	
बोधिवृक्ष	अनोमा	सुजाता	सुदर्शना	प्रभावती	पियंगु	सुदर्शना	सुनन्दा	सुस्पर्शा	
प्रधान-शिष्य	महासोण	सालवृक्ष	महानीप	महावैणु	(ककुध)	चम्पक	बिम्बिजाल	कर्णिकार	
परिचारक	भद्रसाल	देवल	शरण	सुदर्शन	पालित	शान्त	(रक्तकुरबक)	सम्बल	
प्रधान-शिष्यायें	जितमित्र	सुजात	सर्वकाम	देव	सर्वदर्शी	उपशान्त	पद्म	सुमित्र	
धर्म-सम्मेलन उपस्थिति	वाशिष्ठ	सुमन	सागर	नारद	शोभित	अभय	पुष्यदेव	रेवत	
	उत्तरा	अमिता	रामा	नागा	सुजाता	धर्मा	सुनेत्त	सिवली	
	फाल्गुनी	असमा	सुरामा	नागसमाला	धर्मदत्ता	सुधर्मा	सेमा (खेमा)	सुरामा	
प्रथम	१० खरब	१० लाख	१ अरब	६० हजार	१० खरब	९८ लाख	१ अरब	१० खरब	
द्वितीय	९ अरब	९ अरब	९० करोड़	५० हजार	९० करोड़	८८ लाख	७० करोड़	९ खरब	
तृतीय	८ खरब	८ खरब	८० करोड़	४० हजार	८० करोड़	८८ लाख	८० करोड़	८ खरब	
बोधिसत्व	तपस्वी	जटिल	उत्तरमाणव	चक्रवर्ती	काश्यप	सुसीम	शक्र	मंगल	
	(ऋषि)	८८ हाथ	८८ हाथ	राजा	माणव	तापस	शक्र	तापस	
ऊँचाई	८८ हाथ	८८ हाथ	८८ हाथ	५० हाथ	८० हाथ	८० हाथ	८० हाथ	६० हाथ	
आयु (वर्ष में)	९० हजार	१ लाख	९० हजार	९० हजार	९० हजार	१ लाख	१ लाख	१ लाख	



## भागवत पुराण में अवतार की सूचियाँ

सं०	प्रथम स्कन्ध अध्याय-३	द्वितीय स्कन्ध अध्याय-७	दशम स्कन्ध अध्याय-२	दशम स्कन्ध अध्याय-४०	एकादश स्कन्ध अध्याय-४
१.	सनकादि	वराह	मत्स्य	मत्स्य	हर-नारायण
२.	वराह	सुयज्ञ	हयग्रीव	हयग्रीव	हंस
३.	नारद	कपिल	कच्छप	कच्छप	दत्तात्रेय
४.	नर-नारायण	दत्तात्रेय	नृसिंह	वराह	सनकादि
५.	कपिल	सनकादि	वराह	नृसिंह	ऋषभ
६.	दत्तात्रेय	नर-नारायण	हंस	वामन	हयग्रीव
७.	यज्ञ	राजा पृथु	राम	परशुराम	मत्स्य
८.	ऋषभदेव	ऋषभदेव	परशुराम	राम	वराह
९.	राजा पृथु	हयग्रीव	वामन	कृष्ण	कूर्म
१०.	मत्स्य	मत्स्य	कृष्ण	बुद्ध	नृसिंह
११.	कच्छप	कच्छप	—	कल्कि	वामन
१२.	धन्वन्तरि	नृसिंह	—	—	परशुराम
१३.	मोहिनी	चक्रपाणि	—	—	राम
१४.	नरसिंह	वामन	—	—	कृष्ण
१५.	वामन	हंस	—	—	बुद्ध
१६.	परशुराम	मनु	—	—	कल्कि
१७.	व्यास	धन्वन्तरि	—	—	—

| | | | | | |

| | | | | | |

| | | | | | |

परशुराम  
राम  
बलराम  
कृष्ण  
व्यास  
बुद्ध  
कल्कि

राम  
बलराम  
श्रीकृष्ण  
बुद्ध  
कल्कि  
हंस  
हयग्रीव

१६.  
१९.  
२०.  
२१.  
२२.  
२३.  
२४.



## पुराणों में दसावतार की सूची

क्रम सं०	अग्नि, वराह शिवपुराण	महाभारत	नरसिंह पुराण	देवीभागवत पुराण	हरिवंशपुराण	वायु, ब्रह्माण्ड पुराण	भागवत
१.	मत्स्य	मत्स्य	मत्स्य	—	—	—	मत्स्य
२.	कूर्म	कूर्म	कूर्म	धर्म	दशम	वैव्य (पृथु)	कूर्म
३.	वराह	वराह	वराह	दत्तात्रेय	दत्तात्रेय	—	वराह
४.	नरसिंह	नरसिंह	नरसिंह	—	वराह	मान्धाता	नरसिंह
५.	वामन	वामन	वामन	सोम	नरसिंह	नरसिंह	वामन
६.	परशुराम	परशुराम	परशुराम	परशुराम	वामन	परशुराम	परशुराम
७.	राम	राम	राम	राम	परशुराम (जामदग्न्य)	(जामदग्न्य)	राम
८.	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	कृष्ण	राम	राम	—
९.	बुद्ध	—	—	—	कृष्ण	कृष्ण	हयग्रीव बुद्ध
१०.	कल्कि	हंस कल्कि	हंस —	अर्जुन —	वेदव्यास कल्कि	वेदव्यास कल्कि	कल्कि

## सहायक ग्रन्थ सूचिका

### मूल ग्रन्थ

- आचारांगसूत्र ( प्रथम श्रुतस्कन्ध ) : मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), हि० श्रुतस्कन्ध, १९८०
- ऋग्वेद : पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, इण्डियन प्रेस लि०, प्रयाग, १९५४
- ऋग्वेद संहिता : सं० १९८३ वि०, अजमेर वैदिक यन्त्रालय
- ऋग्वेद संहिता : एफ० मेक्समूलर, भाग १, २, ३, ४, दी चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६६
- ऋग्वेद संहिता (प्रथम, द्वितीय ) : वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, १९८३ वि०
- ऋग्वेद-हिन्दी : रामगोविन्द त्रिवेदी, इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन) लि०, प्रयाग, १९५४
- कल्याण 'अग्नि-पुराण'-गर्ग-संहिता : अंक वर्ष ४४ संख्या १, सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर ।
- कल्याण 'अग्निपुराण'-गर्गसंहिता नरसिंह पुराण : वर्ष ४५, संख्या १, संपादक—हनुमान प्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर ।
- कल्याण 'देवीभागवत' : वर्ष ३४, संख्या १, जनवरी १९६०
- कल्याण 'संक्षिप्त वराह पुराणाङ्क' : वर्ष ५१, संख्या १, संपादक—हनुमान प्रसाद पोद्दार, मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर ।
- कल्याण 'संक्षिप्त विष्णु-पुराणांक' : वर्ष २८, अंक १, संपादक—हनुमान प्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, घनश्याम जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर ।
- कल्याण संक्षिप्त ब्रह्म-वैवर्त्तपुराणांक : वर्ष ३७, संख्या १, संपादक—हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर ।
- कुर्आन शरीफ : मुतर्जमः वरहाशियः, किताब घर, लखनऊ सातवाँ संस्करण, १९८५ ई०

३१८ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

- खुदकनिकाय : भिक्खु जगदीश काश्यप, विहार राज्य पालि पब्लिकेशन बोर्ड, प्रथम-१९५९, द्वितीय-१९५९, चतुर्थ भाग-१९६०, पंचम-१९६०
- गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर ।
- जातक : भदन्त आनन्द, कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम-षष्ठ, १९४२, १९४६, १९५१, १९५४, १
- जिनसहस्रनाम : पंडित, आशाधर भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण, फरवरी १९५४
- तत्त्वार्थसूत्र : संपादक—डॉ० मोहनलाल मेहता, श्री जमनलाल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५, १९७६
- धम्मपद : आनन्द कोसल्लानेन जगदीसकस्सपेन, उत्तम-भिक्खुना पकासितो, २४८१ बुद्धवच्छरे
- नन्दिसूत्रम् : सं० मुनिपुण्यविजय, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५, अहमदाबाद-९, १९६६
- पद्मपुराण : दौलतराम जी, वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली, प्रयाग, १९५०
- पाणिनि अष्टाध्यायी : भंडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९३५
- बुद्धचर्या : राहुल सांकृत्यायन, शिवप्रसाद गुप्त, सेवा उपवन, काशी, वि० १९८८
- बुद्धवंस-अट्ठकथा : संशो०—डॉ० पारसपति नाथ सिंह, नवनालन्दा महाविहार (विहार), वि० २०३३
- बुद्धवंसो : राहुल सांकृत्यायन, उत्तम भिक्खुनापकासितो, १९३७
- बोधिचर्यावितार : शान्तिदेव, बुद्धविहार, लखनऊ, प्रथम सं० १९५५,
- भगवद्गीता : शांकरभाष्य, १४वाँ संस्करण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०४२
- भागवत (प्रथम भाग, : पंचम संस्करण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२१  
द्वितीय भाग)

- मत्स्यपुराण (उत्तरार्ध) : वर्ष ५९ का कल्याण, गीताप्रेस, गोरखपुर, १९८५
- मत्स्यपुराण (प्रथम खण्ड, द्वितीय खण्ड) (वेदनगर) बरेली, १९७०
- महाभारतम् : सं० पं० रामचन्द्र शास्त्री प्रथम, १९३० ई० सन् शंकर नरहर जोशी, पूना
- यजुर्वेद-संहिता : दामोदर भट्ट, स्वाध्याय मंडल, औंध, सं० १९४८
- यजुर्वेद-संहिता : श्रीनिवास महाराज, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर-प्रकाशन, स्वाध्याय मण्डल, औंध, १९४८ वि०, १८४९
- लिंगपुराण (प्रथम खण्ड, द्वितीय खण्ड) (वेदनगर) बरेली, १९६९
- वाल्मीकि रामायण : सं०—वासुदेव शास्त्री, पांडुरंग जावाली, बम्बई चतुर्थ, १९३०
- विष्णुपुराण : छठा संस्करण, गीता प्रेस, सं २०२४
- विष्णुपुराण (प्रथम, द्वितीय खंड) : श्रीराम शर्मा, आचार्य संस्कृत संस्थान ख्वाजा कुनुब बरेली, द्वितीय संस्करण-१९६९, चतुर्थ संस्करण-१९६९
- शतपथब्राह्मण (प्रथम, द्वितीय भाग) : पं० चन्द्रधर शर्मणा, अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, सं० १९७४, १९९७
- संयुक्तनिकाय : भिक्षु जगदीश काश्यप एवं धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, प्रथम संस्करण, १९५४
- समवायांग : सम्पा० युवाचार्य श्री मधुकर मुनि, अनु० पं० हीरालाल जो शास्त्री, श्री आगम प्रकाशन समित ब्यावर, राजस्थान, १९८२
- सूत्रकृतांगसूत्र (प्रथम, द्वितीय श्रुतस्कन्ध) : आत्मज्ञान पोठ-मानसा, १९७९
- सूत्रकृतांग (प्रथम, द्वितीय श्रुतस्कन्ध) : सं० मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, राजस्थान, १९८२
- स्थानांगसूत्र : अनु० पं० हीरालाल शास्त्री, श्री आगम प्रकाशन ब्यावर, राजस्थान, १९८१

३२० : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

### सहायक ग्रन्थ

- अवतार : एनीबेसेण्ट, थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस,  
आड्यार, मद्रास, १९२५
- आवश्यक नियुक्ति : हरिभद्रसूरि, वि० सं० २०३८  
(भाग १)
- ईशदूत ईसा : स्वामी विवेकानन्द, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर,  
मार्च, ७६
- ईसा मसीह की वाणी : श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, जून, ७९
- ऋषभदेव-एक : देवेन्द्रमुनि शास्त्री, तारक गुरु जैन ग्रन्थालय,  
परिशीलन उदयपुर, राजस्थान, द्वितीय संस्करण, १९७७
- जीव से जिन की ओर : हरेन्द्र प्रसाद वर्मा, ज्ञानम-भागलपुर, १९७४
- जैन अंगशास्त्र के : डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२,  
अनुसार मानव प्रथम सं०, नवम्बर, १९७४  
व्यक्तित्व का विकास
- जैन तर्कभाषा (हिन्दी : अनु० पं० शोभा चन्द्र भारिल्ल, श्रीत्रिलोक रत्न  
अनुवाद सहित) स्थानक वासी जैन धार्मिक परोक्षा बोर्ड, पाथर्डी,  
अहमदनगर
- जैनत्व को झांकी : अमरमुनि, श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, षष्ठम  
संस्करण, १९७९
- जैनधर्म का मौलिक : हस्तीमल जी, जैन इतिहास समिति, जयपुर (राज-  
इतिहास (प्रथम, स्थान) प्रथम संस्करण, १९७४  
द्वितीय भाग)
- जैन, बौद्ध और गीता : डॉ० सागरमल जैन, प्राकृत भारती संस्थान, जय-  
का समाज दर्शन पुर, १९८२
- जैन बौद्ध और गीता : डॉ० सागरमल जैन, प्राकृत भारती संस्थान,  
का साधनामार्ग जयपुर (राजस्थान), १९८२
- जैनसिद्धान्त : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई  
दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९८३
- धर्म और दर्शन : विष्णुदेव उपाध्याय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस,  
प्रथम संस्करण १९७८
- नया नियम अर्थात् प्रभु : बाइबिल सोसायटी आफ इण्डिया, बंगलौर, १९७९  
यीशु का सुसमाचार

- निदानकथा (हिन्दी : महेश तिवारी, चौखम्बा संस्कृत सीरोज आफिस  
अनुवाद सहित) वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७०
- पारसी धर्म एवं सेमे- : डॉ० अरुण बनर्जी, आर्य भाषा संस्थान, वाराणसी,  
टिक धर्मों में प्रथम सं० १९८२  
मोक्ष की धारणा
- पारसी धर्म क्या : श्रीकृष्ण दत्त भट्ट, सर्वसेवा संघ प्रकाशन राजघाट,  
कहता है ? वाराणसी, पांचवाँ संस्करण, जून ८५
- बोधिचर्यावितार : शान्ति देव, बुद्धविहार, लखनऊ, प्रथम, १९५५
- बौद्धदर्शन : बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, गणेश दीक्षित,  
वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९४६
- बौद्ध दर्शन तथा अन्य : भरत सिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मेंडल कल-  
भारतीय दर्शन कत्ता, प्रथम संस्करण, वि० सं० २०११  
(द्वितीय भाग)
- बौद्ध धर्म के विकास : डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, हिन्दी समिति, सूचना  
का इतिहास विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, द्वितीय संस्करण,  
१९७६ ई०
- बौद्धधर्म दर्शन : आ० नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना,  
प्रथम संस्करण, ई० १९५६, वि० २०१३
- बृहद्देवता (प्रथम, : ए० ए० मैकडोनेल; हारवर्ड यूनिवर्सिटी, प्रथम  
द्वितीय) संस्करण, १९०४ ई०
- भगवद्गीता : राधाकृष्णन्, सरस्वती विहार, दिल्ली-११००३२,  
सातवाँ संस्करण, १९८० ई०
- भगवद्गीता रहस्य : बालगंगाधर तिलक, रामचन्द्र, बलवन्त तिलक,  
पुणे, सप्तम संस्करण, १९३३ ई०
- भगवतीसूत्र पर- : सम्पादक पं०-शोभाचन्द्र जी भारिल्ल, हितेच्छु  
श्री जवाहिराचार्य श्रावक मण्डल, रतलाम वीराब्द-२४७१,  
के व्याख्यान विक्रमाब्द-२००२
- भारतीय दर्शन : डॉ० राधाकृष्णन्, राज्यपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-६,  
(प्रथम भाग, प्रथम संस्करण (१९६६-६९)  
द्वितीय भाग)

३२२ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

भारतीय संस्कृति में  
जैनधर्म का  
योगदान : डॉ० हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन, साहित्य  
परिषद्, भोपाल, प्रथम संस्करण, १९६२ ई०

मध्यकालीन साहित्य  
में अवतारवाद : कपिलदेव पाण्डेय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी,  
प्रथम संस्करण-वि० सं० २०२०

मुहम्मद पैगम्बर की  
वाणी : श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, जून, ७८ ई०

यजुर्वेद भाषाभाष्य  
(द्वितीय भाग,  
भाषानुवाद) : श्री दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर,  
चतुर्थ संस्करण, वि० सं० १९८६

राम-कथा : कामिल बल्के, हिन्दी परिषद विश्वविद्यालय,  
प्रयाग, नवम्बर, १९५०

ललितविस्तर : अनु०-शान्ति भिक्षु शास्त्री, उत्तर प्रदेश हिन्दी  
संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण, १९८४

वचन बाबू जी  
महाराज भाग १ : राधा स्वामी ट्रस्ट, आगरा, तीसरा संस्करण,  
१९६१ ई०

विशुद्धि मार्ग (प्रथम,  
द्वितीय भाग) : भिक्षु धर्म रक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ,  
वाराणसी, १९५७

वेदवाणी : सम्पादक-ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, वेदवाणी कार्यालय,  
वाराणसी, वर्ष १४, अंक ४-८

वैदिक देवता, उद्भव  
और विकास—  
प्रथम खण्ड : डॉ० गयाचरण त्रिपाठी, भारतीय विद्या प्रकाशन  
दिल्ली-वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९८१

शिवपुराण की  
दार्शनिक तथा  
धार्मिक समालोचना : डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, हरिशंकर त्रिपाठी,  
डुमराव कालोनी, अस्सी, वाराणसी, १९७६

शिक्षा समुच्चय : लेखक श्री परशुराम शर्मा, दी मिथिला इन्स्टीच्यूट  
आफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज एण्ड रिसर्च इन  
संस्कृत लर्निंग, दरभंगा, १९६१

हरिवंशकथा : जिनसेन, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन दिल्ली-६,  
प्रथम, १९७०

कोश

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश : क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपोठ प्रकाशन,  
भाग १-४ प्रथम संस्करण, १९७१, प० व०-१९७२, श० ह०  
१९७३

संस्कृत हिन्दी कोश : बामन शिवराम आप्टे जी० पी० मलालशेकर,  
लन्दन,

डिक्शनरी आफ पालि जॉन मरे, अलबेमर्ले स्ट्रीट, डब्ल्यू० आई०  
प्रापर नेम्स भाग १, पब्लिश्ड फार दी गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया,  
ए० डी० भाग २ १९३७, १९३८

पालि-इंग्लिश : टी० डब्ल्यू भार एच वाई डेविड एण्ड विलियम  
डिक्शनरी स्टीडे दी पाली टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन ।







## शब्दानुक्रमणिका

अ	अतिशय, ३८
अंगिरस भारद्वाज, ३४	अतीत-बुद्ध, १५, १४३, १४४, १४८, १४९
अंगुत्तर निकाय, १०६, १०७, १२१	अथर्ववेद, ६५, १७४, १८०, १९५, १९६, १९८, २००, २०३, २१५, २२५, २२८, २५५
अंतकृत्दशांग, ८३	अथर्वसंहिता, २०१, २२६,
अंतकृद्दशा, ५०	अदिति, १८७, १९९, २३७
अकर्तृत्ववाद, ९३	अदीनशत्रु, ८०
अक्रियावाद, ९३, ९४	अद्वैतवादी, २४२
अंग्रमैन्धू, १८	अद्वयवज्र, १४६
अज्ञानवाद, ९३	अधिकार, १३२, २८७
अग्नि, ७६, १८६, १९२, १९८	अधिमुक्तिचर्याभूमि, १३७
अग्निदेव, ५८	अध्यात्म-रामायण, २०२
अग्निपुत्र, ५७	अध्यात्मवाद, ४
अग्निपुराण, ६२, ६५, १९३, १९५, २२२, २८८	अनन्तकोशीय, २३८
अग्निसेन, ५७	अनन्त, ५६, ७४
अचला, १३७, १३९	अनन्तज्ञान, ३८
अर्चिष्मती, १३७, १३८	अनन्तचतुष्टय, ९
अचेल-धर्म, ८५	अनन्त-जिन, ५६
अच्युतितः, १७०	अनन्तविजय, ५९
अक्षोम्य, १४६	अनन्तवीर्यं, ५८, ६०
अजित, ५६, ६७, १४२	अनल, २३७
अजितकेशकम्बल, ६७	अनागत, १४३
अजितकेशकम्बलि, ९४	अनागत बुद्ध, १५
अजितधेर, ६७	अनागत-वंश, १४४
अजितनाथ, २७४	अनागामी-भूमि, १३४, १३६
अजितवीर्यं, ६०	अनात्मवाद, ९३, १६९, २५८
अजितसेन, ५७	अनात्मवादी, १७०, १७२
अट्टकथा, ८४	
अस्तिपाहर्ष, ५७	

३२६ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

अनासक्ति, ६, २४१  
 अनासक्तवाद, २५०  
 अनिल, ५७, २३७  
 अनिवृत्ति, ५९  
 अनीश्वरवाद, ३, ८, २५, १६८,  
 १७६, २८३  
 अनीश्वरवादी धर्म, २८४  
 अनुयोगद्वार, ५१  
 अनुभूतसत्य, ६  
 अनुशासनपत्रं, १८१  
 अनोमदर्शी, १४८, १५३  
 अन्तरात्मा, १०  
 अन्तराभव, ११५  
 अन्तराय, ३१  
 अन्वपृथक्जन, १३४  
 अन्योन्यवाद, ९४  
 अपरिग्रह, २७  
 अपायापगमातिशय, ३८  
 अप्सरा, २३९  
 'अप्पा सो परमप्पा', २७१, २७२  
 अभयदेवसूरि, ४०  
 अमलप्रभ, ५८  
 अभिघर्मकोश, ११४  
 अभिघू, १४४  
 अभिनन्दन, ५६, ६८  
 अभिनिष्क्रमण, २६२  
 अभिनिष्क्रमण-महोत्सव, ३७  
 अभिमुक्ति, १३७  
 अभिमुखी, १३८  
 अभिषेक, १३६  
 अभिसमयालंकारालोक, ११८  
 अभिज्ञा, १३०  
 अमरकोश, २१४

अमलकम्पा, ८६  
 अमितज्ञानी (अनन्त), ५७  
 अमिताय, १४६  
 अमिताभ, १४६  
 अमिताभ बुद्ध, २६५  
 अम्बिका, २९१  
 अमोघसिद्धि, १४६  
 अयं आत्मा ब्रह्म, २७१  
 अयोध्या, ६०, ६७, ६८, ७४  
 अर, ५०, ५६  
 अरक, ७८, ७९  
 अरणि, २१४  
 अरनाथ, ७७  
 अरनेमि, ७९  
 अरविन्द, १७७  
 अरह, २९, ५३  
 अरहन्त, ११, २७, २८, ३१  
 अरिष्टनेमि, ३०, ४७, ५०, ५१, ५२,  
 ५३, ७९, ८१, ८२, ८३, २५७,  
 २६६  
 अरिहन्त, ३२, ४२, १३०, २८५  
 अरुणाभ, १९८  
 अरूपराग, १३६  
 अरूपसमाधि, १३१, १३२  
 अरूपावचर ध्यान, १३२  
 अर्जुन, १८६, १८८, १९०, २०३,  
 २१७, २४९, २५१, २५२,  
 २५३, २५४, २८९  
 अर्थदर्शी, १४८, १५६, १५७  
 अर्द्ध-पशु, २४१  
 अर्द्ध-मानव, २४१  
 अर्हन्त, ३२

अर्हत्, ३२, ८९, १०७, १११, ११४,  
 १४१, १४२, १४३, २०५,  
 २५८, २८५, २८७  
 अर्हत्पद, १०८, १२२, १२५, २८७  
 अर्हत्त्व, १३३  
 अर्हत्-भूमि, १३४, १३६  
 अर्हतावस्था, १०, १३६  
 अलरहमान, २८२  
 अलर्क, २२०  
 अल्लाह, २३, २४, २८१, २८२,  
 २८३  
 अली, २१०  
 अवद्गुण, १७७  
 अवचेतन मन, २३६  
 अवतरण, २९०  
 अवतरित, १७६  
 अवतार, २०९, २८८  
 अवतारार्थ, १७६  
 अवतारवाद, ३१, १००, १६५, १७३,  
 १७७, १८५, १८८, १९१,  
 २०२, २०५, २२५, २३२,  
 २३३, २३५, २३६, २३७,  
 २४२, २४३, २४४, २४५,  
 २४८, २५०, २५२, २५५,  
 २७१, २७२, २७३, २७५,  
 २७७, २७८, २७९, २८०,  
 २८१, २८२, २८८, २८९,  
 २९०, २९१  
 अवतारी, १७४  
 अवतारिता, १७६  
 अवतीर्थ, १७६  
 अवत्त, १७४  
 अवत्तर, १७४, १७५

अवत्, १७४  
 अवधारण, ६७६  
 अवधिज्ञान, २६१  
 अवधिज्ञानी, ५४  
 अवसर्पिणी काल, ५०, ५६, ५८, ६८,  
 ७२, २८५  
 अवाध (अस्ताग), ५७  
 अविद्या, १३६  
 अविमुक्त, १८४  
 अवेस्ता, १९  
 अब्याकृत, १६४  
 असंग, १२६, १३७  
 असम, ५८  
 असंज्वल, ५७  
 अल्लसनतः, १७०  
 असितदेवल, ३४  
 असुर, १९२, २३९  
 असुर-संहार, २०४  
 अस्त्येय, २७  
 अस्थि-कंकाल, २४०  
 अस्सी अनुव्यंजन, १२५  
 अष्ट-सहस्रिका प्रज्ञापारमिता, १२२  
 अष्टांगमार्ग, १२८  
 अष्टाध्यायी, १६४, १७५  
 अष्टादश, १२५  
 अंशावतार, २००, २०१, २०२, २०४,  
 २१४, २३०, २८९  
 अंशावतरणपूर्व, १८६  
 अश्व, २१२, २२८, २४१  
 अश्व-मुख, २३९  
 अश्वमेध, २२७  
 अश्वसेन, ८४  
 अश्विनी कुमार, २६६

अहं-तत्त्व, २३४  
 अहं ब्रह्मास्मि, २७१, २८२, २९०  
 अहद (असीम), २८३  
 अहमद (ससीम), २८२  
 अहिच्छत्र, ८६  
 अहिंसा, २७, २४१, २५७, २६८  
 अहुरमज्जदा, १८

आ

आंगिरस, २०३  
 आकूति, २२०  
 आग्नेय, २१९  
 आग्नेय कुमार, २१४  
 आचार्य कुंदकुंद, ५३, ९९, १००  
 आचार्य भद्रबाहु, ९९  
 आचार्य यास्क, १७८  
 आचार्य समन्तभद्र, ९८  
 आचार्य हरिभद्र, ३२  
 आचारांग, ११, १२, २७, २८, २९,  
 ३०, ३५, ३६, ४७, ५४, ५५,  
 ९०, ९३, ९६, ९७, २५६,  
 २६३, २६६, २६८, २८६  
 आजीवक, ९३  
 आजीवक सम्प्रदाय, ६५  
 'आणाये मामगं धम्म', ९७, २६८,  
 २८६  
 आवश्यकनियुक्ति, ५१, ५२, ५४,  
 ५५  
 आत्रेय कुमार, २१४  
 आत्मा, २, २७१, २७२  
 आत्मकल्याण, ३३  
 आत्मदीप, १०७  
 आत्मवाद, ५, १७३  
 आत्म-सृजन, १७५

आदम, २८१  
 आदर्श-अहं (Super ego), २३४  
 आदि कल्पिक-बुद्ध, २६०  
 आदित्य, २२६  
 आदित्यों, १९९  
 आदित्यगण, १८०  
 आदिदैविक दृष्टि, १८१  
 आदि बुद्ध, २६०  
 आदि-वराह, २७४  
 आद्ययज्ञ-पुरुष, २२०  
 आधिभौतिक दृष्टि, १८१  
 आध्यात्मिक, २३७  
 आध्यात्मिक विकास, २५९  
 आनन्द, १२०, १४७  
 आनन्दगिरि, २२५  
 आनन्दवन, १८४  
 आयावादी, ९३  
 आयुर्वेद, २२४  
 आरियायण, ३४  
 आर्यगण्डव्यूहसूत्र, १४१  
 आर्यसस्य, १३  
 आवश्यक पूर्णि, ४८, ५२, ५५, ९०  
 आविष्ट, १७६  
 आवेणिक-धर्म, १२५  
 आसक्ति, ६  
 आसक्तिहीन, २५१  
 आस्था, २३३  
 आस्पेक्ट्स आफ वैष्णवविज्ञान, १९४  
 आशावादी दर्शन, २४५  
 आहुति, २२०  
 ओल्डेनवर्ग, १७८  
 ओइस्नस, १७९  
 ओद्धत्य, १३६

औपपातिक, ५०, ११४, ११५, ११६,  
११७

इ

इच्छापूर्ति (Wishfulfilment), २३३

इक्ष्वाकु, १९९

इक्ष्वाकु कुल ६०

इज्जरायल, १९

इनसानुलामिल, २८३

इन्ट्रोडक्सन टू तांत्रिक बुद्धिज्म, २०६

इन्डियन एंटीक्वेरी, २०७

इन्डियन फिलोसोफी, २०३

इन्डियन सेक्ट आफ दो जैनास, ९१, ९२

इन्द्र, ७६, ८९, १०२, १७७, १७८,

१८३, १८६, १८७, १८८,

१९१, १९५, १९८, २००,

२०१, २०३, २०४, २१२,

२४५, २४६, २५५, २५८,

२७६, २८८, २९१, २९२,

इन्द्र-विष्णु, २१७

इन्द्रियलिप्सा, १३६

इष्टि, १३१

इसिभासियाई, ३४, २५८

इस्लाम, ७, १६, २२, २४, २८१,

२८२

इस्लाम धर्म, २८०, २८३

ई

ईरान, ९२

ईसरमत, ९३

ईसाई धर्म, ७, १६, २०, २४

ईसा (क्राइस्ट), १७, २०, २४१

ईश्वर, ६०, १०२, १७४, १७६,

१७७, २०५, २१०, २३३,

२३४, २३५, २४२, २४८,

२५३, २७१, २८३, २८४,  
२८८, २८९, २९२

ईश्वरत्न, १०७

ईश्वर-पुत्र, ७, २१, २८४

ईश्वरवाद, १९०, २५३, २५४, २७३

ईश्वरवादी, ३, ८, २५, २८३

ईहामृग, २३७

उ

उग्गहीनिय, ८४

उच्चतम लोक, २३२

उच्चार-प्रस्ताव (मल-मूत्र), २५९

उच्छेदवाद, ९४, १३८, १६४

उत्तरण, २९०

उत्तरापथक, २५९

उत्पन्न, १७६

उत्तम, १४४

उत्तराध्ययनसूत्र, ९, १२, २७, २९,

३०, ३३, ५०, ५१, ७८, ८१,

८५, ८६, ८८, ९३, ९८, ९९,

१००, १०१, २५८, २६६

उत्तरवाद, ३१, १७७, २७१

उत्सर्पिणी, ५०, ५७, ५८, ५९, २८५

उत्साह, ५८

उदय, ५८

उद्धारदेव, ५८

उपाय कौशल, १२७

उपासकदशा, ४९

उपाशान्त, ५७

उ० ब्राह्मण, २०१

‘उमा दाह योषित की नाई।

सबहि नचावत रामु गोसाईं॥’ २५२

उमास्वाति, ९९

उरुक्रम, १८२, १९८

३३० : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

उरुगाय, १८२

उलूग, ९३

उवसग्गहर, २७०

उसभं पवरं वीरं, ६६

ऊ

ऊँट, २१२

ऋ

ऋग्वेद, ६१, ६२, ६३, ६७, ८३,

१७४, १७५, १७८, १७९,

१८०, १८१, १८६, १९५,

१९७, १९८, १९९, २०१,

२०२, २१५, २१७, २२०,

२२८, २४६, २५५

ऋग्वेद संहिता, २१४, २१८, २२०,

२२९

ऋचीक, २४१

ऋषभ, २९, ३०, ३५, ४८, ५०,

५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६,

६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५,

६६, ६७, २०९, २१२, २१३,

२१५, २२०, २२१, २५७,

२६६, २७४, २७६, २८८

ऋषभ गीता, २२१

ऋषभानन, ६०

ऋषिदत्त, ५७

ऋषिभाषित, २९, ८६, ८८, २६६

ए

एककोशीय, २३८

एकान्त दृष्टि, ९३

एकान्तिक मत, २१६

एकान्तिक मार्ग, १३८

एकेश्वरवाद, १६, २२

एकेश्वरवादी, १८७

एन० एन० बसु, ६४

एडलर, २३५

एनीबेसेन्ट, १७७, २०९, २१०

एन्थ्रोप्वाइड, २३९, २४१

एपिक माइथोलाजी, १९५

एफ० डब्ल्यू० थामस, १७९

एमुष, १९५, १९६

एवया, १८२

एवयावान्, १८२

एष, १८२

ऐ

ऐतरेय ब्राह्मण, १९४, २०१

ऐरावत क्षेत्र, ५७, ५८, ५९, २८५

क

कंस, २७५

ककुसन्ध, १४७, १४८, १६२

कच्छ, २११

कच्छप, २२३

कठोपनिषद्, १७८, १८६, २५५, २८८

करण्ड-व्यूह, २०६, २५८

करुणा, १२६

कथावत्यु, १०६, २५९, २८६

कर्म-प्रजापति, २१९

कनक-मुनि, १४६

कन्फ्यूसियस, ९२, २४१

कपिल, २०९, २१५, २१८, २५८, २६६

कपिलदेव पाण्डेय, १४५

कपिलमत, ९३

कर्म, १२८

कर्म क्षयज अतिशय, ३९, ४०

कर्म-काण्ड, ३, २५७

कर्म-बन्धन, २७७

कर्म-मार्ग, ५  
 कर्म-सिद्धान्त, २५३  
 कम्मावादी, ९३  
 कम्पिलपुर, ८०  
 क्रकुच्छन्द, १४६  
 क्रनुजातेय राम, २०१  
 करकण्डू, ३३  
 कल्काचार्य, २०८  
 कला, २३५, २३६  
 कलावतार, २२५, २२६, २३०  
 कल्किराज, २०७  
 कलियुग, २११  
 कल्क (पाप), २०७  
 कल्कि, १९२, १९९, २०७, २०९  
 २११, २८८  
 कल्कि अवतार, २२६  
 कल्कि पुराण, २०८  
 कल्याण पृथक्जन, १३४  
 कल्पसूत्र, १२, ३६, ४८, ५१, ५५,  
 ८६, ९०, २५६, २६३, २६५  
 कबलाहार, ४५  
 कविल, ९३  
 कषायपाहुड, ५३  
 कश्यप, १४७, २०६, २३७  
 कस्सप, १४६, १४७  
 काकन्दी, ७१  
 काका कालेलकर, २१०  
 काठियावाड़, ८३  
 कार्तवीर्यार्जुन, २००  
 काम, २३७  
 कामधेनु, २४१  
 काम-राग, १३६

कामिल बुल्के, २०६  
 काम्पिल्य, ८६  
 काम्पिल्यपुर;  
 कायधारण, १७६  
 कायबल, ११७  
 कावाल, ९३  
 कावालिय, ९३  
 काशी, १८३  
 काशिराज, २२४  
 काश्यप, १४७, १४८, २६३  
 काश्यप गोत्र, ६०  
 किन्नर, २३९  
 किम्पुरुष, २३७, २३९  
 किरियावादी, ९३  
 क्रियाकारित्व, १७२  
 क्रियावाद, ९३  
 क्रिस्टना, १७९  
 कृपा, १६८, २९०  
 कृष्ण, २४, ५०, ८२, ९८, १३०,  
 १७९, १९१, १९२, १९९, २०२  
 २०३, २०४, २०९, २१२,  
 २१७, २२६, २३०, २३९,  
 २४१, २४४, २५७, २६८,  
 २६४, २६६, २६७, २७५,  
 २८०, २८१, २८८  
 कृष्ण आंगिरस, २०२  
 कृष्ण द्वैपायन व्यास, २२५, २३६  
 कृष्णमति, ५८  
 कृष्ण-रुक्मिणी, १९१  
 कृष्णवराह, १९६  
 कृष्णामुर, २०३  
 कीर्ति, २३७  
 कोथ, १९५, १९७



३३२ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

कुर्जान शरीफ, २४, २८१  
 कुणाल, ८०  
 कुणाल-जातक, २५८  
 कुण्डपुर, ८९  
 कुंथु, ५१, ५३, ५६, ७७  
 कुमार, २१०, २१४  
 कुम्मापुत्त, ३४  
 कुरान, २८१  
 कुरुक्षेत्र, १९६  
 क्रुस्टना, १७९  
 कूटस्थनित्य-आत्मा, ५  
 कूर्म, १९२, १९३, १९४, १९५,  
 २०८, २०९, २२३, २२८,  
 २३९, २४०, २५५, २६६, २८८  
 कूर्म-(सरीसृप-Reptile), २३९  
 कूर्म-पुराण, ६२, ६५  
 कूर्मयुग (Amphibian Age), २३९  
 के० एम० मुन्शी, २००  
 के० वी० पाठक, २०७  
 केतलीपुत्त, ३४  
 केवल-दर्शन, ३१  
 केवल-ज्ञान, ३१, ६८  
 केवलज्ञानी, ५४, ५७  
 केवली, ३२, ४५  
 केशव, २७४  
 केशी, ६३  
 कैलाश पर्वत (अष्टापद), ६६  
 कैलाशचन्द्र, पं०, ६६  
 कैवल्य, २५९, २६१, २८५  
 कैवल्य कल्याणक, ३७  
 कैवल्य महोत्सव, ३६, ३८  
 कोणागमन, १४७, १४८, १६२  
 कोनागमन, १४६

कौआ, २१२  
 कौण्डिन्य, १४८, १५०  
 कौमार-सर्ग, २१५  
 कौशाम्बी, ८६  
 कौशाम्बीनगर, ६९  
 कौषीतकि ब्राह्मण, २०३  
 क्लेशावरण, १४२  
 क्षणिकवाद, १७०, १७१, २५८  
 क्षणिकवादी, १७०  
 क्षणिकवादी-दर्शन, १७०  
 क्षत्रिय, २३०

ख

खातुम, २८२  
 खासिम, २८१  
 खुद्दकनिकाय, १०३, १०५  
 खोजा सम्प्रदाय, २१०

ग

गडल (सूत्र), १८  
 गज-ग्राह, २३१  
 गजपुर, ७७  
 गजेन्द्र-हरि अवतार, २३०  
 गजेन्द्र-हरि, २२९, २३१  
 गणधर, ३२, ३३, ३५  
 गणेश, ८६  
 गत्यर्थक, १७९  
 गन्धर्वी, २२८  
 गन्धर्व, १२१, १८८, २३९  
 गर्भ, २२१  
 गर्भ-कल्याण, ३६, ३७  
 गर्भस्तनेमि, १८१  
 गर्भापहरण, ७९  
 गर्भावक्रान्ति, ३६, २६१

गर्भवितरण, ३७  
 गरुड़, १८१, २३१  
 गरुड़-पुराण, ६२, ६५  
 गरुत्मत, १८१  
 ग्युन्टर्ट, १७८  
 गाधि, २४१  
 गायत्री, २१४  
 ग्रिफिथ, १७५  
 गीता, ९८, १०१, १७५, १८८,  
 १८९, १९०, २००, २०२,  
 २०३, २१६, २१८, २१९,  
 २२९, २३०, २३१, २४४,  
 २४७, २४९, २५०, २५१,  
 २५२, २५३, २५४, २६७,  
 २६८, २७०, २७२, २७८,  
 २८१, २८९  
 ग्रीक, १७, १७९  
 ग्रीस, ९२  
 गृहस्थ, १३०  
 गुणभद्र, ५४  
 गुणसम्प्राप्ति, १३०, २८७  
 गुप्तिसेन, ५७  
 गुरुत्मत्, १७९  
 गृह-समाज, १४६  
 गोकुल दास डे, १६५, २०४  
 गोरक्षा, २४७  
 गोपाल, २७४  
 गोलोक, २६४  
 गोवर्धनधारी, २७४  
 गोवाळु, २६४  
 गोविन्दानन्द वाचस्पति, २२५  
 गोशालक, १२, ४९, ५५, ६६  
 गोस्वामी तुलसीदास, २४५, २४६

गौतम, १०३, १०४, १०५, १०७,  
 १४४, १८६  
 गौतम बुद्ध, १३, १४, २१, ८४, ११५,  
 १४८, २०५, २०६  
 गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा, २१३  
 घ  
 घटजातक, २५८  
 घोर-अंगिरस, ८३

च

चउपन्नमहापुरिसचरियं, ४८, ५३, ५५  
 चक्रपाणि, २२९  
 चक्रेश्वरी, २९१  
 चतुर्मुख कल्कि, २०७  
 चतुर्विध संघ, २८, २८५  
 चतुक्कनिपात्, ८४  
 चन्द्र, २३७  
 चन्द्रछाग, ८०  
 चन्द्रपुर, ७१  
 चन्द्रप्रभ, ५६, ७०, २७७  
 चन्द्रबाहु, ६०  
 चन्द्रमा, १९०  
 चन्द्रानन, ६०  
 चम्पा, ७३, ८०, ८६  
 चरग, ९३  
 चरम-भक्ति, २५९  
 चाक्षुष-मनु, २२९  
 चाक्षुष-मन्वन्तर, १९३  
 चातुर्याम, ५२  
 चातुर्याम-धर्म, ८८  
 चातुर्याम संवरवाद, ९४  
 चार आर्यसत्य, १०३, १०६  
 चारण, २३९  
 चार भूमियाँ, १३३  
 चार वैशारद,

३३४ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

चाल्डी सम्भ्यता, १९

चित्रगुप्त, ५९

चित्तधारा, १७१, १७३

चित्तविज्ञाननशक्ति, १३१

चित्तविस्तरा, १३६

चित्त-संतति, १७१

चीन, ९२

चुल्लनिद्देस, १०३, १४२

चौतीस अतिशय, ३५

च्यवनस्थल, ५३

छ

छः अध्याशय, १३३

छन्दता, १३२, २८७

छान्दोग्य उपनिषद्, ८३, २०३, २१४,

२१५, २२०, २२७, २२९

छेद-सूत्र, ५१

छेदोपस्थानीय चारित्र, ११

ज

जगन्नाथ उपाध्याय, १७१

जणवक्क (याज्ञवल्क्य), ३४

जन्तु, २०८, २०९

जन्मकल्याणक, ३७

जन्मनिदेश, १३६

जन्माभिषेक, ३७

जम्बूद्वीप, ५६, ५७, ५९, २७८, २७९

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४८, ५०, २६६

जयघबला, ९१

जय-विजय, २४८

जयसेनप्रतिष्ठापाठ, ५८

जरथुस्त्र, १६, १७, १८, ९२, २४१

जरायुज, ११४, ११५, ११७

जल-पशु, २४०

जल-स्थल उभय पशु, २४०

जातक, १४७

जातः, १७६

जातत्थं, १३३

जामदग्नेय राम, १९९, २००

जामालि, ४९, ५५, ८९

जायते, १७६

जायमान, १७५

जितशत्रु, ६७, ८०

जिन, १०४

जिन-इ-इ-सरः', ६४

जिनकृतार्थ, ५७

जिनचरित्र, ५१

जिनत्व, ८, २७३

जिन-बीज, ८

जिनदूषभ, ५७

जिनसेन, ५४, ६२

जिनेश्वर, ६४

जिष्णु, १७९

जीवविज्ञान, २३७

जीवात्मा, २७१, २७२

जे० गोद, १९४

जेतवन, ११२

जेन्दावेस्ता, २१२

जेमिनी, २०१

जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों

का तुलनात्मक अध्ययन, १००

जैन, बौद्ध और गीता का साधना

मार्ग, २

जैन सत्य प्रकाश, ८६

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, ७८

जैमिनिब्राह्मण, १९४

जैवविज्ञान, २३५

जैविक, २३७  
जोरोआस्टर, १७  
जोरोआस्ट्रियानिज्ज, १७  
जोहान्सन, १७९  
जैकोबी, २०१

ज्ञ

ज्ञाताधर्मकथा, २९, ४८, ४९, ७९  
२८५  
ज्ञातृपुत्र, ९२  
ज्ञान, ९९, २५१, २९१  
ज्ञानमति, ५८  
ज्ञानमार्ग, ५  
ज्ञानमीमांसा, ९९  
ज्ञान-विज्ञान, २३५  
ज्ञानातिशय, ३८  
ज्ञानावरणीय, ३१  
ज्ञानी, १०६  
ज्ञानेश्वर, ५८  
ज्ञापित जातक, २५८  
ज्ञेयावरण, १४२

त

तच्चन्निय, ९३  
तण्हंकर, १४८  
तत्त्वज्ञान, २३७  
तत्त्वार्थसूत्र, ४६  
तत्सद्-ब्रह्म, १८३  
तथता, १२६  
तथागत, १०६, ११९, १२४, १३७,  
१४६, १६४, १६८, १७०, २७९  
तथागतगुह्यक, १४६, १७६, २८०  
तप, २५७  
तपस्या, २५६

तपस्वनी राम, २०१  
ताण्ड्य ब्राह्मण, ६२  
ताम्रयुगीन विन्धु सम्भ्यता, ६४  
तारा, २९१  
तित्थयर, २९, ७८  
तिर्यक, १९१  
तिलोपपण्णत्ति, ४८, ५३, ५४, ९१,  
२७६  
तिष्य, १४८, १५९  
तीर्थंकरस्व, १२९, २७२, २७३,  
२७७, २८५, २९०,  
तीर्थंकर नामकर्म, ४६, ४७, ४९  
तीर्थंकर-निर्दोष व्यक्तित्व, ४५  
तीर्थ, २८५  
तुच्छ-मानव, २३९  
तुलसीदास-ग्रन्थावली, २४५  
तुषित देवलोक, १०९, २५९, २६०,  
२६२  
तुषितलोक, २०५  
तेत्तलिपुत्त, ३४  
तैत्तिरीय आरण्यक, ६२, १८०, १८१,  
१९६, २१७, २२५  
तैत्तिरीय ब्राह्मण, १७५, २०१  
तैत्तिरीय संहिता, १९६, १९९, २२०,  
२५५, २६६  
तैथिक, २६०  
तोदेय्य, १४४  
त्रिकायवाद, ११६, १२१, १२४,  
१४५, २५९, २८७, २९१  
त्रिकालज्ञ, ३८  
त्रिदंडी, ६१  
त्रिरत्न, २७८  
त्रिविक्रम, १९८, २४६

३३६ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

- त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ४८, ५३, ६१, ६७, ६८, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७७, ७८, ८०, ८१, ८२, ८६
- त्रिशला, ८९
- त्रेतायुग, २११
- त्रेधा विचक्रमण, १७९
- त्याग, २५७
- त्वष्टा, २१२
- तृष्णा, १६९
- थ
- थॉमस ब्लाक, १७९
- थेरीगाथा, १४७, १६५
- द
- दक्ष-प्रजापति, २१६
- दत्त, ५७
- दत्तात्रेय, २०९, २१५, २१९
- दत्तात्रेय अनुसुइया, २२०
- दमित कुंठाओं, २३५
- दमोह, २०८
- दयाल देश, २११
- दरागा नदी, १९
- दलमुख भाई मालवणिया, ७८, ८६
- दंसणमूलो घम्मो, १००
- दस अवस्थायें ( भूमियां ), १३७
- दस बल, १२४, १४८, २०५
- दस-चरण, १३६
- दस भूमियां, १२४, १३६
- दस भूमिशात्र, १३७
- दर्शनप्राभृत, १००
- दर्शनावरणिय, ३१
- दशभक्ति, ९१
- दशरथ जातक, २५८
- दशवैकालिक, २९, ५१
- दशाश्रुतस्कन्ध, ५१
- दान, २०४
- दान पारमिता, १३७
- दामोदर, ५७
- दि भगवद्गीता, १७७
- दिव्य-जन्म, १७५
- दिव्यावदान, ११४
- दी अवारिफुल मारिफ, २८१, २८२, २८३
- दीक्षा, २६१
- दीक्षाकल्याणक, ३७, १३०
- दीक्षा होत्सव, ३६
- दीपंकर, १४८, १४९, २०६
- दी बोधिसत्त्व डाकिट्टन, १६५, २०६
- दी मैसेज आफ गीता, १७७
- दीर्घसोणी, १४४
- दीघनिकाय, २७, १०५, १०७, १०८, ११०, १११, ११९, १४७, २५६, २६०, २६५, २६६
- दुधदेवा, १७
- दुरारोहा, १३६
- दुर्गाचार्य, १९८
- दुर्जया, १३६, १३८
- दुभिक्षान्तर, १६६
- दुर्मुख, ३३
- दूरंगमा, १३७, १३८
- देव, ११५, ११७, १२१, १८८, १९१
- देवकी, २०३
- देवकृत अतिशय, ३९, ४०
- देवता, ११७, १९२, २३९, २४७, २७६
- देवधम्म जातक, २५८

देव नारद, ३४	१६४, १७१, २०५, २०६,
देवपुत्र अहंन्, ५९	२५९
देवयश, ६०	धर्मचक्र, १११, १६९
देवयोनि, २७९	धर्मताबुद्ध, १४५
देवलोक, १११, ११२, २६०, २६१,	धर्मतीर्थ, २६७
२७९	धर्मदर्शी, १४८, १५६, १५७
देववादी, ३	धर्मदायाद, १२१
देववाद, १०२	धर्मध्वज, ५९
देवशर्म, ११	धर्मनैरात्म्य, १२६, १३७
देवश्रुत, ५८	धर्मप्रवर्तक, २९२
देवानन्दा अहंन्, ५९	धर्मपालक, २१५
देवानन्दा, ४९, ५५, ८९	धर्मपुत्र, १२१
देविन्दथुर्ह, २६७	धर्ममेघा, १३७, १३९
देवीभागवत, २८८	धर्मसंघ, २५९
देवेन्द्र, ३७	धर्म-स्थापना, २४९
देवेन्द्र मुनि शास्त्री, ८६	धर्माकाश, १३९
देवोपपात, ५९	धर्मानन्द कोशाम्बी, ८३
देहदण्डन, २, ८६, ८७	धर्मानुसारी भूमि, १३४
देवीयकरण, २९१	धर्मानुस्मृति, १३५
दोह्यकाश, १७६	धर्मीश्वर (जिनेश्वर), ५७
द्रविड़, २४१	धर्मोपदेष्टा, ७
द्रोण ब्राह्मण, १२१	धारानगरी, २०८
द्रौपदी, १८७	धार्मिक ईश्वर ( The Religious God) २३४
द्वन्द, १९०	धार्मिक मनोवृत्ति, २३५
द्वापर, २११, २२५	धेनु, २४६
ध	ध्यान, २०४
धनुषबाण, २३७	ध्यानपारमिता, १३८
धन्वन्तरि, २०९, २२३, २२४	न
धम्मपद, ६६, १०५	नगति, ३३
धर; ५७	नन्दी, ६६, ८९
धर्म, ५६, ७४	नन्दिसेन, ५७
धर्मकाय, ११४, ११६, ११७, ११८,	नप्स्, २८१
१२१, १२४, १२७, १४५,	

३३८ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

नमि, ३३, ५०, ५६, ८१

नमि प्रव्रज्या, ८१

नमुची, १९८

नमोत्थुणं, २६

नरकलोक, २६०

नरकामुर, १८७

नर-नारायण, २०९, २१६, २१७,

२१८, २१९

नरसिंह अवतार, २२५

नवतत्त्वप्रकरण, १००

नवपाषाण युग, २४१

नश्वर, १६४

नाग, १८८

नामगोत्र, २५८

नागपुर, ८५, ८६, ९१

नागसेन, १२१

नाजार या नाजिर, १७

नाजरित, १७

नाथनेमीश्वर, ५७

नाथसुतेज (सर्वानुभूति), ५७

नाटपुत्र, ९१, ९२

नाथपुत्र, ९१

नाभि, ६०, ६७, २२१

नामकर्म, ३०, ३१, १२९, १३०,

२६०, २८५

नार, १८५

नारक, ११५

नारद, ११७, १३०, १४८, १५४,

२०९, २१४, २१५, २१६,

२२७, २२९, २५८

नारद-कण्व, २१५

नारद पर्वत, २१५, २१६

नारद-पाँचरात्र, २१६

नारायण, १८२, १८५, १८६, १८७,

२००, २०४, २०६, २१७,

२२४, २२८, २३१, २५८,

२७९, २८०

नारायण-अमरकोष, २१४

नारायणऋषि, २१६, २१७

नारायणीयोपाख्यान, १९६, १९९,

२००, २०१, २३१

नालागिरिपल्लेय्य, १४४

निगंठ, ९२

निगण्ठनाटपुत्र (निर्ग्रन्थज्ञातृपुत्र), १२

निगंठनाटपुत्र, ९०, ९४

निगंठो, ९२

निक्षिप्तशस्त्र (श्रेयांस), ५७

निज-प्रभुघर-वेश, १७६

नित्यकाय, ११९

नित्यलोक, २०५, २७८

नित्यवाद, २५८

निदानकथा, १२९, १४८, १४९, २८७

नियतिवाद, ९३, ९४, २४३, २४४,

२५३, २५४

नियति, २५२, २९०

नियमसार, ४५, ९९

निराशावादी-दर्शन, २४५

निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र, ९४

निर्ग्रन्थों, ९२

निर्गुणधारा, २४२

निर्मम, ५९

निर्मल, १०६

निर्मल चैतन्य देश, २११

निर्माणकाय, ११५, ११७, ११८,

१२४, १२७, १४५, १६४,

१७०, १७६, २०५, २०६, २८७

निर्माण बुद्ध, १४५, १४६  
 निर्वाण, ५८, ५९ १७६  
 निर्वाणकल्याणक, ३८, २८५  
 निर्वाणाभिमुख, १३५  
 निर्वाणी, ५७  
 निवर्तक धर्म, १, २, ३  
 निवृत्ति, २१५  
 निवृत्तिमार्गी ९५  
 निवृत्ति, मूलक, २९१  
 निशीथचूर्णि, ९३  
 निषेधात्मक स्वानुभूति, (Negative  
 self feeling) २३४  
 निष्कषाय, ५८  
 निष्क्रान्त, १७६  
 निष्कामकर्म, २५१  
 निष्पुलाक ५९  
 निष्यंदबुद्ध, १४५  
 नीलाञ्जना, ३५, २७६  
 नुबूवत [दिव्यानुभूति)  
 नेबुशदनेज्जर, ८३  
 नेमि, ५२, ५६ ६०  
 नेमिचन्द्र शास्त्री, ६४  
 नेमिनाथ, ८२, २७५  
 नैतिक आदर्श, २३३  
 नैतिक चरित्र, २३३  
 नैतिक द्वन्द, २३३  
 नैर्माणिक काय, ११९  
 नृसिंह युग (Lemurian Age), २३९  
 नृसिंह या नरसिंह, १९२, १९७ १९८,  
 २१०, २११, २३७, २३९,  
 २४१, २६६, २८०, २८८  
 नृसिंहपुराण २८८

प

पंच कल्याणक, ३५, ३७, ३८, १३०  
 पंचजन्य शंख, २७५  
 पंचध्यानी बुद्ध, १४५, १४६  
 पंच महाव्रत, ११  
 पंचमुष्टिलोच, ३७  
 पंच-तथागत, १४५  
 पंचनिर्मिता बुद्ध, १४५  
 पंचयाम, ५२  
 पंचरात्र, १७३  
 पंचविशब्राह्मण, १८२  
 पंच-स्कन्ध, १६४  
 पंचास्तिकाय, ८८  
 पंडुरंग, ९३  
 पउमचरियं, ५३, ५४  
 पक्षी, २०९  
 पद्मावती, २९१  
 पद्मोत्तर, १४८, १५४  
 पद्म, १५३, १८४  
 पद्मप्रभ, ५६, ५९  
 पद्म-पुराण, ६३, १८१, १९३, १९५  
 पयंडगउ, १७७  
 परतन्त्रता का दर्शन, २७३  
 परब्रह्म, १९०  
 परमतत्व, १२७, २२७, २४२, २४३  
 परमसत्, २४२  
 परमात्मतत्व, २७२  
 परमात्मप्रकाश, २७७  
 परमात्मशिव, १८३, १८४  
 परमात्म स्वरूप, २८९  
 परमात्मा, १०, २७१, २७२  
 परमेश्वर, ५८  
 परलोक, ५



३४० : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

- परशु ( फरसा ), २३७  
परशुराम, १३०, १८५, १९२, १९९,  
२००, २०१, २०९, २१०,  
२१२, २२३, २३७, २३९,  
२४१, २८८  
परशुराम अवतार, २२५  
परशुराम-पृथ्वी, १९१  
परशुराम-सहस्रबाहु, २४१  
परसिया, ९२  
परिणामी चैतन्य, ५  
'परित्राणाय साधुनाम', २६८  
परिनिर्वाण, ११८, १६४, २५९, २६१  
परिवर्त का सिद्धान्त, १२८  
परिव्वायग, ९३  
परिष्कृत-मानव, २३९  
पशु, २०८, २०९  
पशु-मानव, २४०  
पशुयोनि, २७९  
पशुपत, २११  
प्लेटो, ९२  
प्लिनी, १७  
प्रकृति-पूजा, १५  
प्रकृति मूलक, २९१  
प्रकृतिवाद, १८०  
प्रकुचकात्यायन, ९४  
प्रजातन्त्र, २७३  
प्रजापति, १७७, १८३, १९१, १९३,  
१९४, १९६, १९७, २१२  
२२६, २२७, २२८, २५५,  
२२८  
प्रतिघ, १३६  
प्रतिबुद्ध, ८०, १०५  
प्रतिवाद (Anti-Thersis), ३  
प्रतीत्यसमुत्पाद, १३८, १४२  
प्रत्यक्ष अनुभूति, २३३, २३४  
प्रत्यूष, २३७  
प्रत्येक बुद्ध, १०, १४, ३३, ३४, ३५,  
८१, ११४ १२५, १४१,  
१४२, १४३, २५८, २८३  
२८५, २८७  
प्रभाकरी, १३७, १३८  
प्रभावकचरित, २०८  
प्रभास, २३७  
प्रभास पट्टन, ८३  
प्रमुदिता, १३७  
प्रवचनसार, २७७  
प्रवचनसारोद्धार, ५७, ५८  
प्रवर्तक धर्म, १, २, ३  
प्रव्रजित, १३०  
प्रव्रज्या, ३७, २६२, २८७  
प्रवन्ध-नित्यता, १७१  
प्रश्नव्याकरण, २९, ५०, २६४  
प्रसेनजित, ११२  
प्रसेनजितकौशल, १४४  
प्रस्तोता, २६४  
प्रह्लाद, १९७, १९८, २२०  
प्रज्ञा, ५, १२६, २०४, २५६, २९१  
प्राकृत, २४०  
प्राणनाथ विद्यालंकार, ६४, ८२  
प्राणो-विज्ञान, २४०  
प्रतिहार्य, ११२, २६३  
प्रादुर्भाव, १७६  
प्रियदर्शी, १४८, १५६  
प्रियदर्शना, ८९  
पृथक्जन, १३४  
पृथु, २२२

- पांचरात्र, २९१  
 पाइथागोरस, ९२  
 पाणिनि, १६४, १७५  
 पाणिनि-अष्टाध्यायी, २०३  
 पाप, २३४  
 पारमिता, ११५, १२३, १७०, १७१,  
 २०४, २६०  
 पारसी, २१२  
 पारसी-धर्म, १६, २४  
 पालि साहित्य का इतिहास, २०६, २५८  
 पार्श्व, २९, ३०, ४७, ५०, ५१, ५२,  
 ६३, ५६, ६५, ८२, ८४, ८९,  
 २६६  
 पार्श्वनाथ, ८३, ८५, ८६, ८७, ८८,  
 ९४, ९५  
 पार्ष्वापत्य, ४९, ५०, ८५  
 पाषाण युग (Mesolithic Period),  
 २४१  
 पितर, २३९  
 पिशाच, ११७, २३९  
 पीटर्सबर्ग १७९  
 पीताम्बरधारी १८४  
 पीपल, २३७  
 पीर सदाअलदीन, २१०  
 पुद्गल, २५९  
 पुद्गल नैरात्म्य, १२६, १२७  
 पुष्कसालपुत्र, ३४  
 पुरातत्व-विज्ञानवेत्ता, २४१  
 पुरुष, २१२  
 पुरुषर्लिग, २८७  
 पुरुष-व्याघ्र, १९७  
 पुरुष-व्याघ्राण, १९७  
 पुरुषार्थ, १६८, १६९, २५२  
 पुरुषार्थवाद, ३, ९३, १०२, २९०  
 पुरुषोत्तम, २७९  
 पुरुष-सूक्त, २१७  
 पुलह, २३७  
 पुष्पकेतु, ५९  
 पुष्पदन्त, ७१, २७४  
 पुष्पमण्डिता, १३६  
 पुष्पांजलि, ५८  
 पुष्य, १४८, १५९  
 पूजातिशय, ३८  
 पूरण काश्यप, ९४, २६३  
 पूर्णघोष, ५९  
 पूर्णावतार, २८९  
 पूर्वपाषाण-युग, २४१  
 पूर्व-बुद्ध, २६०  
 पृथुवंशी राम, २००  
 पृथ्वी, २४०, २४७, २७४  
 पेढालपुत्र, ५८  
 पैगम्बर, ७, ९, २२, २४८, २८०,  
 २८१, २८२, २८३  
 पैगम्बरवाद, २८०, २८१, २८२  
 पैंतीस वचनातिशय, ३५  
 पौराणिक-परम्परा, (Mythicon Tra-  
 dition) २३६  
 पौराणिक सृष्टि, २३७  
 पौरुषाढ्या, १७  
 प्रोष्ठिल, ५८  
 फ  
 फाराहो, १९  
 फासिल्स (अस्थि कंकाल), १२४०

३४२ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

फुहरर, ८२, २२१, २२९, २३०  
फायड, २३४

ब

बडा पक्षी १७९  
बत्तीस महापुरुष लक्षण, १२५  
बदरिकाश्रम, २००  
बद्धमाना, १३६  
बनमानुष, २४०  
बपतिस्मा, २०, २१  
बरगद, २३७  
बलदेव, २०२, २२५, २५७  
बलदेव उपाध्याय, २०५  
बलराम, २०४, २०९  
बलराम अवतार, २२६  
बलि, १९९  
बहराम यस्त, २१२  
बहिरात्मा, १०  
बहुदेववाद, १६, २५५  
बहुदेववादी धर्म, १६  
बानर, २४०  
बाबुल, ८३  
बाबूजी महाराज, २११  
बाहु, ६०  
बाहुक, ३४  
बाहुबलि, ६०  
बी० एल० मुजुकी, १२७  
बीस-बोल, १३०  
बुद्ध, ४, १२, १३, १४, १७ १८,  
२१, २४, ५७, १०३, १२५,  
१९२, १९९, २०४, २०६,  
२०७, २०९, २१०, २१२,  
२१३, २२३, २३९, २४१,  
२५६, २५७, २५९

बुद्ध अवतार, २२६  
बुद्धघोष, १०६  
बुद्धचर्या, ९१, १४६  
बुद्धत्व, ८, १५, ११३, ११५, ११९,  
१२२, १२८, १३३, १३६,  
१३९, १६७, २०५, २५८,  
२७८, २८७, २९०  
बुद्ध पदचिह्न, २७९  
बुद्ध पुत्र, १४०  
बुद्ध-बीज, ८, १२९, १७०, २८६,  
२८७, २८९  
बुद्ध-बोधित, ३३, ३५, १४३, २८५  
बुद्धवंश, १४३, १४४, २०५  
बुद्धवंस अट्ठकथा, १४९, १५०, १५१,  
१५२, १५३, १५४, १५५,  
१५६, १५७, १५८, १५९,  
१६०, १६१, १६२, १६३  
बुद्धानुस्मृति, १३५  
बुद्धियोग, २५१  
बुहलर, ९१  
बैतलहम, २०  
बोडित, ९३  
बोधगम्य, १७०  
बोधिचर्यावितार, १२३, १४०, १६५,  
१६६, १६७, १६९  
बोधिचित्त, १३९, १४०, १४१,  
१७३, २८७  
बोधिचित्त उत्पाद, १२४, १७०  
बोधि-पक्षीय, १३८  
बोधि प्रणिधिचित्त, १३७  
बोधिमन्त्र, १७२  
बोधिसत्त्व, ८, १५, १०९, ११३,  
११४, ११५, १२३, १२४,

- १२७, १३३, १३७, १३८, १४२, १४३, १६५, १६६, १७०, १७१, १७७, २०५, २५६, २५९, २६०, २६२, २६४, २७९, २८२, २८३, २८७
- ‘बोधिसत्व अकम्पित अवतरे,’ १७६
- बौद्धगानओदोहा, १७६
- बौद्ध दर्शन (पं० बलदेव उपाध्याय), २०६
- बौद्धधर्म, २९१
- बौद्ध धर्म दर्शन, २५८
- ब्लूम फील्ड, १७८
- ब्रह्म, १६४, १८७, २०६, २११, २२६, २७२, २७७
- ब्रह्म-ज्ञान, २२०
- ब्रह्मचर्य, २७, १३०
- ब्रह्मपुराण, १८१, २२२, २८८
- ब्रह्म-विद्या, २१५
- ब्रह्मसूत्र, २२५
- ब्रह्मा, १०७, ११२, १२०, १८३, १८५, १८८, १९६, २०५, २०६, २१५, २१८, २२७, २२९, २७९, २८१
- ब्रह्माण्ड, २११
- ब्रह्माण्ड पुराण, ६५
- ब्राह्मी, ६०, ६१, ६४
- ब्राह्मण, १०६, २०३, २४७, २८६
- बृहदारण्यकोपनिषद्, २१४, २२०, २२१, २२८, २५५
- भ
- भक्त, २४५
- भक्तामरस्तोत्र, २७०
- भक्ति, ९७, १६४, १६५, २४५, २५०, २५१, २९१
- भक्तितत्त्व, २५०
- भक्तिमार्ग, ५
- भगवा १०७
- भगवान बुद्ध, १०४, १०७, ११६, २८६
- भगवती, १२, २७, २८, २९, ३५, ४९, ५४, ८५, ८६, ८८, ९२, २५६
- भगवती आराधना, ५३
- भद्रिदलपुर, ७२
- भदन्त शान्ति भिक्षु, २०६
- भयाली मेतेज्ज, ३४
- भरत, ५०, ६०, ६२, ६७
- भरतक्षेत्र, ५७, ५८, ५९, २६४, २८५
- भागवत, ५५, ५६, ६४, १६४, १६५, १९०, १९३, १९५, १९७, १९९, २००, २०३, २०४, २०६, २०७, २०८, २०९, २१२, २१३, २१५, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२६, २२९, २३०, २३८, २४८, २५६, २७८, २८७, २८८, २८९
- भागवत धर्म, २५७
- भाग्यवाद, १०२
- भाग्यवादी, २५३
- भार्गविराम, २००
- भार्गविय राम, २०१
- भावना, २३३
- भावी बुद्ध, १४३, १४४, २६०
- भिक्कु, ९३
- भिच्छग, ९३

३४४ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

भिषक्, १०६, २८६

भुजंगम, ६०

भू, २४६

भूगर्भ शास्त्र, २४०

भूतत्थ, १३३

भूत-प्रेत २३९

भूभार हरण, १९१

भूमि, २४५

भूसुर (ब्राह्मण), २४५

भोगलिप्सा, २४१

भोगासक्त, २४१

भौतिककाय, १६४

भौतिकवाद, ४

भौतिक दृष्टि, २३७

भृगु, २००

म

मंखलिगोशाल, १२, ९४

मंखलीपुत्त, ३४

मंगल, १४८, १५०

मगध, ५२

मच्छ, २११

मच्छली, १९२

मञ्जुश्रीमूलकल्प, ६७, १७६, २८०

मज्झिमनिकाय, ८५, १०५, १०६,

१२०, १२१, १३४, २८६

मति, २३७

‘मत्तः सर्वम् प्रवर्तते’, १९८

मत्स्य, १९२, १९३, १९४, २०८,

२०९, २२३, २२८, २३९,

२४०, २५५, २६६, २८८

मत्स्य पुराण, १८२, १९३, २२०,

२२३, २२८

मत्स्य-युग (Silurian Age), २३९

मत्स्यावतार, २२४

मथुरा, १२, ३०, ६४, ८४, ८६

महाकरुणा २८२,

मधुकैटभ, १९३, २२८, २२९

मधुमाधव, २७४

मधुरायण, ३४

मधुसूदन, २७४

मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद,

१९६, २०७, २१४ २१५,

२१७, २२१, २७४, २७५

मध्व, २४२

मन, २३४

मनु, १९२, २२९, २३०

मनु-अवतार, २२९

मनु-आप्सव, २२९

मनुवंश, २३०

मनु-वैवस्वत, २२९

मनुष्य-योनि, १२८, २८७

मनु-संवरण, २२९

मनुस्मृति, ५, २२९

मनोविज्ञान, २३४, २३५, २३६, २३७

मनोवैज्ञानिक-दृष्टि, २३३

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, २३३, २३६,

२३७

मन्दराचल, १९४, १९५

मन्वन्तर, २२९

मन्वतरों, २३०

मरुद्गणों, १८९

मरुदेवी, ५७, ६०

‘मयि सर्वमिदं प्रोतम्’, १८९

मर्यादा पुरुषोत्तम, २१०

मल्लि, ४८, ४९, ५१, ५२, ५३,

५६, ७९

महाकासव, ३४

महाघोष केवली, ५९  
 महाचन्द्र केवली, ५९  
 महाजल-प्लावन, १९२  
 महादेव, ६५  
 महादेवी, २२१  
 महानारायण, २७९  
 महानिर्देश, १०३, १०४  
 महापद्म, ५८  
 महापदानसुत्त, ११०, १११, १२०  
 महापरिनिब्बानसुत्त, १६८  
 महापुराण, ५४, ५५, ५६, २७४,  
 २७५, २७६  
 महाप्रलय, १८३  
 महाबल-अर्हन्, ५९  
 महाब्रह्मा, १११, २६२  
 महाभद्र, ६०  
 महाभारत, ६५, ७६, ८२, १७५,  
 १८१, १८६, १८७, १८८,  
 १९१, १९२, १९३, १९४,  
 १९६, १९७, १९८, १९९  
 २००, २०१, २०३, २०४,  
 २०६, २०८, २१५, २१६,  
 २१७, २१८, २१९, २२१,  
 २२४, २२५, २२७, २२८,  
 २३०, २३७, २३८, २५६,  
 २८८, २८९  
 महामाया, १०४  
 महामुनि, १०७  
 महायश, ५७, ५९  
 महायान, ३, १०७, १०८, ११३,  
 ११५, ११६, १२२, २०६,  
 २६३, २७९, २९१  
 महायानाभिघर्मसंज्ञीतिशास्त्र, १२६

महायानसूत्र, २५६  
 महायानसूत्रालंकार, ११९, १३७,  
 १७०  
 महावस्तु, १३६  
 महाविदेह, २६४, २६५  
 महाविदेह क्षेत्र ६०  
 महावीर, ४, १२, १३, १५, १७, २१  
 २४, ३०, ३५, ३६, ४७, ४९,  
 ५०, ५१, ५२, ५३, ५४,  
 ५५, ६४, ६५, ६६, ६७, ७९,  
 ८३, ८५, ८८, ८९, ९०, ९१,  
 ९२, ९३, ९४, ९५, ९७, १०२,  
 २१०, २४१, २५६, २६३,  
 २६४, २६६, २७३  
 महासाधु, ५८  
 महासांघिक, ११३, ११४, ११५,  
 ११७, ११८  
 महासेन केवली, ५९  
 महेश तिवारी, १४९  
 महेश्वर, २७९  
 मागध, ६५, २२५  
 माध्यमिक, ११३  
 मान, १३६  
 मानतुङ्ग, २७०  
 मानव, २४०  
 मानवतावादी २५६  
 मानव पशु, २०९  
 मानवयोनि, २७९  
 मानवरूप, २०९  
 मानवशास्त्र, २३६, २३७, २३९, २४१  
 मानसिक, २३७  
 मानस-पुत्र, २१५

३४६ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

- मानुषी-बुद्ध, १४६, १४७, १६४, २०६, २६५  
 मैत्रेयनाथ, ११८, २०५, २०६, २०७  
 मैत्रेय-बुद्ध, १४४  
 माया, १८९  
 मायावाद, ९३  
 मायावी, ११७  
 मारीचि, ६१, १८९  
 मार्कण्डेयपुराण, ६२, ६५  
 मिथिला, ७९, ८१  
 मिथ्यादृष्टि, १३४  
 मिस्र, १९  
 मिलिन्दप्रश्न (पञ्चो), १२१  
 मिहरकुल, २०७  
 मीम, २८२,  
 मीमांसक, ७  
 मीरा, २३४  
 मृग, २१२  
 मृगछाला, २३७  
 मृत्युलोक, २७२  
 मुण्डकेवली, ३३  
 मुनिसुव्रत, ५६, ५८, ८०  
 मुहम्मद, २८१  
 मूकदर्शक, २६८  
 'मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिवर  
 गहन', २५३  
 मूर्ति, २१६  
 मूलाचार, ५३  
 मेघंकर, १४८  
 मेघरथ, ७५, ७७  
 मेघा, २३७  
 मेघ, २१२  
 मेकडानल, १७९, १९५  
 मेकडूगल, २३४, २३५  
 मैत्रायणीसंहिता, १७५  
 मैत्रेय-बुद्ध, १४४  
 मैमिलियन, २४१  
 मोक्ष, १२९, १६५  
 मोजेज, १९, २०  
 मोहेन-जो-दड़ो, ६४  
 मोहनीय, ३१  
 मोहिनी, २०९, २२४, २२९  
 मीर्य-काल, ८४  
 य  
 यक्ष, ८६, १०७, १२१, १८८, २३९  
 यक्षकथा, १८७  
 यक्ष-यक्षिणी, ५३  
 यक्ष-यक्षी, २९१  
 यजमान राम, २०१  
 यजुर्वेद, १७४, १७५, १९७, १९८  
 यतिवृषभ, ४८  
 यथार्थदृष्टि, १३४  
 यदुवंश, २२६  
 यम, १८६  
 यशोधर, ५७, ५८  
 यशोधरा, १४७  
 यहोवा, १९  
 यहूदी धर्म, १६, २०, २४  
 यज्ञ, २०९, २१४, २२०, २२८  
 यज्ञ-पुरुष, २२०, २२१  
 यज्ञमूर्तिधर, २२०  
 यज्ञवाद, २५७  
 यज्ञविष्णु, २२१  
 यज्ञावतार, २२०  
 यज्ञोवैविष्णु, २२०  
 याग-यज्ञ, ३  
 याहवेह, १९

याज्ञवल्कीय काण्ड, २१४  
 यामायन कुमार, २१४  
 युग, २३५, २३६  
 युग साइकोलोजी एण्ड इट्स सोशल-  
 मीनिंग, २३६  
 युक्तिसेन, ५७  
 युक्तिकरण (Intellectualisation),  
 २३३  
 युगमन्धर, ६०  
 युशीडारिना पर्वत, १९  
 झहन्ना, २०  
 योगविन्दु, ३२  
 योगेश्वर, २२७  
 योग, २१५  
 यौवराज्य, १३६

र

रत्नपुर, ७४  
 रत्नसंभव, १४६  
 रथनेमि, ५०, ८२  
 रवि, १८१  
 रहस्यवादी सन्त, २३४  
 राखलदास बनर्जी, ६४  
 राक्षस, १८८, २३९  
 राजगृह, ५२, ८०  
 राजगृही, ८६  
 राजतन्त्र, २४१, २७३  
 राजप्रश्नीयसूत्र, ५०  
 राजभक्ति, २३६  
 राजा पृथु, २०९  
 राजा यदु, २२०  
 राजीमती (राजुल) ५०, ८२  
 राधा, १७

राधाकृष्णन्, ६७, १७७, २०३, २२५,  
 २५४  
 राधाकुमुद मुखर्जी, ६४  
 राधा स्वामी मत, २११  
 राबर्ट एच० थाउलेस, २३३  
 राम बहादुर चन्दा, ६४  
 राम, २४, ७०, १३०, १४४, १८५,  
 १८६, १९२, १९७, १९९,  
 २००, २०१, २०२, २०३,  
 २०५, २०६, २०९, २१०,  
 २१२, २३७, २४१, २५७,  
 २६४, २६६, २६७, २८०,  
 २८८, २८९  
 राम अवतार, २२६  
 राम-कथा, २०६, २५८  
 राम-कृष्ण, २००, २०१, २२२, २२३,  
 २४४, २४८  
 रामचरितमानस, २४४, २४७, २५२,  
 २५३, २७३  
 राम-धनुषधारी ( Marked Man ),  
 २३९  
 राम-सीता, १९१  
 रामानुज, २२५, २४२  
 रामायण, २५६  
 रावण, १८५, २१०  
 रीछ, २३७  
 रीजिनल एण्ड फिलोसोफी आफ ऋग्वेद  
 एण्ड उपनिषद्, १९५, १९७  
 रेपिटिलियन, २४१  
 रेवानगर, ८३  
 रुक्मि, ८०  
 रुचि प्रजापति, २२०



३४८ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

हचिरा, १३६

ह्र, १८३

रूपकाय, ११४, ११५, ११६, ११७,  
११८, १३६, १७०

रूपवती, १३६

रूपसमाधि, १३१

रूपावचर, १३२

ल

लंकावतारसूत्र, १२२, १३७, १४४,  
१४५, १४६, १४९, १५६, १६६,  
२८०

लक्ष्मी, १८१, २२३, २२४

लघुभागवतामृत, २१३

लज्जा, २३७

ललितविस्तर, १४९, २५८, २७८,  
२७९, २८०

लाओत्से, ९२

लीलावतार, १९०

लेटिन, १७

लोक कल्याण, ३६, ९५, १६५, १६६,  
२४९, २५०, २८५, २८७,  
२८८, २९०, २९१

लोकतय, १३३

लोकप्रियता, २५७

लोकमंगल, १३४, १३७, १७३, २५०,  
२६२, २७१, २९०, २९१

लोकसंग्रह, २४९

लोकहित, ३३, ११८, १३८, २४९,  
२८५

लोकहितार्थ, १६५

लोकानुवर्तन, ११६

लोकान्तिकदेव, ३७

लोकोत्तर, १०७

लोकोत्तरता, २५६

लोकोत्तरवादी, २५९

लोयावादी, ९३

लोहानीपुर, १२

व

वक्कलि, १२१

वचनातिशय, ३८, ४३

वज्रधर, ६०

वज्जियपुत्त, ३४

वनपर्व, २१८

वरिसवकण्ह (वारिषेण कृष्ण), ३४

वरुण, १८६, २०५, २१२

वराह, १९१, १९२, १९३, १९४,  
१९५, १९६, १९७, २०८,  
२०९, २११, २१२, २१५,  
२२८, २३७, २३९, २४१,  
२५५, २६६, २८०, २८८

वराहपुराण, २८८

वराह युग ( Mammalian Age ),  
२३९

वर्णसंकर, २४९

वर्धमान, २९, ३०, ५६, ८९, ९२

वल्लभ, २२५, २४२

वसुदेवहिण्डी, ५३

वसुमई, २७४

वागलचीरी, ३४

वातरशन, ६२

वातरशना, ६५

वाद, (Thesis), ३

वादरायण, २२५

वानस्पतिक, २३७

वामन, १३०, १९२, १९८, २०९,  
२१२, २३७, २३९, २४१,  
२५५, २६६, २८०, २८८

वामनावतार, १९९, २१०, २२५  
वामा, ८४

वायु, १९८, २१२

वायुपुराण, ६२, ६५, २२२, २८८

वाराणसी, ७०, ८०, ८४, १६३

वारिषेण, ५७

वारिसेन, ३०

बाल्मीकि रामायण, १७५, १८५,  
१८६, १९४, १९७, २००,  
२०१, २०२, २१८, २२३,  
२४६, २८८, २८९

वासना, २३५

वासनात्मक अहं (Id), २३४

वासुदेव, १६४, २०८, २१७, २५७

वासुपूज्य, ५१, ५२, ५६, ७३

विकासवाद, २०९

विकृतमानव, २३९

विचिकित्सा, १३५, १३६

विक्षेपवाद, ९४

विजय, ५९

विजया, ६७

विजेता, १०७

विट्ठल, १७९

विठोवा, १७९

विदुर, ३४

विदेह, ७९

विदेह क्षेत्र, २७६

विद्याधर, २३९

विनयनगर, ६९

विनयपिटक, १४७

विनयवाद, ९३

विपश्यी, १४६, १४८, १६०

विपश्येन १४७

विपस्सी, १४७

विप्र, २४६

विपाकज, ११४, ११५

विपाकसूत्र, २९, ५०

विमल, ५६, ५७, ५९, ७३, १०६,  
१३७

विमल अहं, ५९

विमलप्रभ, ५८

विमलसूरि, ४८, ५३

विमलेश्वर, ५८

विमुक्त, १०६

विराट पुरुष, २३८

विश्लेषण, १८१

विवस्वान, २३०

विवान्तवैरे, २६९

विश, १७८

विशालप्रभ, ६०

'विशिष्ट निर्माणकायो न जायते', १७६

विशेषावश्यकभाष्य, २८, ४८, ५१

विश्टनु, १८०

विश्वभू, १४६, १४७, १६१

विश्वास की निश्चयता, २३४

विष्, १७९

विष्णु, १६, ५६, ७२, १४५, १७३,

१७५, १७६, १७७, १७८,

१७९, १८०, १८१, १८२,

१८३, १८४, १८५, १८६,

१८७, १८८, १९०, १९१,

१९२, १९३, १९४, १९५,

३५० : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

१९६, १९७, १९८, १९९,	वीततृष्ण, ६, २९१
२००, २०१, २०५, २०६,	वीतरागता, ६, १०, २६, २८६
२०७, २१०, २१२, २१४,	वीतराग, २६९, २९१
२१५, २१७, २२०, २२१,	वीरत्व, २७३
२२३, २२६, २२८, २३०,	वीरसेन, ६०
२३१, २३७, २३८, २४५,	वीर्य, २०४
२४६, २४७, २४८, २५५,	वीर्य-पारमिता, १३८
२५८, २६५, २६६, २७४,	वेद, ९३, २४७
२७५, २७६, २७७, २७८,	वेदमय-मुख, २२०
२७९, २८०, २८८, २८९	वेदवाणी, २१४
‘विष्णुना सदृशोवीर्ये’ १, २०१	वेदव्यास, २२५, २२६
विष्णु-पद, २७९	वेदज्ञ, १०६ २८६
विष्णु-पार्षद, २४८	वेन, २२०
विष्णुपुराण, ६२, ६५, १७५, १७८,	वेरेन्द्रधन, २१२
१८१, १९०, १९१, १९२,	वेरोचन, १४६
१९७, १९८, १९९, २००,	वेस्सभू, १४७, १४८
२०३, २०८, २१५, २१९,	वैक्रिय-ऋद्धिधारक, ५४
२२१, २२२, २२३, २२४,	वैतुल्यक, ११६
२२८, २३०, २५६, २८८,	वैदिक-माइथोलोजी, १८२
२८९	वैदिक परम्परा, १७७
‘विष्णुर्यनक्तु बहुधा तपांसि’, १८०	वैद्य, १०७
विष्णु यज्ञ, २०८	वैवस्वत मनु, १९३
विष्णुयज्ञा कल्कि, २०८	वैश्रवण, १४७
विष्णु-रुक्मी, १८१	वैश्य, २३०
विष्णुलोक, २६५	वैष्णव, २७७
‘विष्णुविंशतर्वा व्यश्नोतर्वा’, १७८	वैष्णव-दर्शन, १७३
विष्णुसहस्रनाम, २१८, २२०, २२७,	वैष्णव-धर्म, १६४, २०४, २५७,
२३१	२९१
विसुद्धिमग्ग, १०४, १०७, १७०	व्याघ्र, २३७
विसेन्ट ए० स्मिथ, ६४	व्यापकता, १२६
विहायसगति, १८२	व्यास, २०९
वृत्रवध, १७८, १९५	व्यास-अवतार, २२५
वृत्रहन्, २१२	व्यास-पाराशर्य, २२५
वृषभ, ६६, २१२, २६१	ब्राह्म्य, ६५
वृष्णीदशा, ५०	
वृहत्तरक्रिया, १२७	
वृहस्पति, ५	

श

शंकर, २२५, २४२, २९०  
 शंकराचार्य, २२६  
 शक्रादि, ११२  
 शंख, ८०  
 शंखपाद, २१९  
 शंखासुर, १९३  
 शतकीर्ति, ५८  
 शतपथब्राह्मण, ६२, १०५, १७५,  
 १८०, १८६, १९२, १९४,  
 १९६, १९७, १९९, २०१,  
 २१२, २१७, २२०, २२९  
 शम्, २३७  
 शम्बरासुर, २४६  
 शरभ, २३७  
 शक्र, २७९  
 शक्रस्तव, २६७, २८४  
 शांकरभाष्य, २१७  
 शाक्य, १०७  
 शाक्यपुत्र गौतम, १५, १४७  
 शाक्यमत, ९४  
 शाक्यमुनि गौतम, १४७  
 शाक्यमुनि बुद्ध, ११४, १४४, २६६  
 शाङ्गधनुष, २७५  
 शान्त, २३७  
 शान्ति, ५१, ५३, ५६, ७५, २०४  
 शान्तिदेव, १२३, १४१, १६६  
 शान्तिपर्व, २१५  
 शाश्वतवाद, १३८  
 शास्ता, १०६, ११९  
 शास्ता दर्शन, १२९, २८७  
 शिव, १६, ५८, ६४, ६५, ६६, १८२  
 १८४, १८५, २२८

शिवकरजिन, ५७  
 शिवगति, ५७  
 शिवत्व, २३३  
 शिवपुराण, १८३, १८४, १८५  
 शिवलोक, १८३  
 शिवसेन, ५७  
 शिवादेवी, ८२  
 शिवाशी ( मुनिसुव्रत ), ५७  
 शिवि, ७६, ७७  
 शिवनदेव, ६३, ६५  
 शिखी, १४६, १४७, १४८, १६१  
 शीतल, ५६, ७२  
 शील, ५, १२६, २०४  
 शील पारमिता, १३७, १३८  
 शीलव्रत-परामर्श, १३५, १३६  
 शीलंक, ५३, ५५  
 शुकशंकर, २००  
 शुद्धमति, ५७, ५८  
 शुद्धाभदेव, ५८  
 शुद्धावास देवलोक, २६२  
 शुद्धोधन, १०४  
 शुद्र, २३०  
 शून्यवाद, ११३  
 शून्याकाश, १८५  
 शेख शाहबुद्दीन, २८१, २८२  
 श्रेयांस, ५२, ५६, ७२  
 शेषशय्या, २७५  
 शेषशायी, २७५  
 शैतान ( इबलिस ), १८, २१  
 शैवराट, १८२  
 शोभित, १४८, १५२  
 श्यामकोष्ठ, ५७

स्वेताश्वतर उपनिषद्, २१८

स

स्वेतहस्ति, २६१

श्रद्धा, ९९, २३७, २५०, २५१, २९१

श्रद्धानुसारीभूमि, १३४

श्रद्धावान्, २५०

श्रद्धाशील, २५१

श्रमण, १०६, २८६

श्रमण गीतम, ११२

श्रावक, १२५, १४२

श्रावकयान, १३४

श्रावस्ती, ६८, ८६, ११२, २६३

श्री, २७४

श्रीकृष्ण, ८३, १८६, १८७, १८८,

१८९, २०९, २११, २२७,

२४३

श्रीकृष्ण अवतार, २२६

श्रीचन्द्र, ५९

श्रीदत्त, ५८

श्रीधर, ५७, ५८

श्रीमत् देवचन्द्र, ९८, २८६

श्रीभद्र, ५८

श्रीमद्भागवत, ६२, ६३, ६५, १७५,

१८०, १८२, २१४, २०७,

२३७, २८८

श्रीमानी, २३९

श्रीराहुल, ९१

श्रीशर्मा, २७७

श्रीहरि, १९३

श्रेष्ठपक्षी, १७९

श्रृंगवाली, २४६

ष

षट्खंडागम, ५३

संकस्य, १४४

संजयवेलट्टिपुत्त, १२, ९४

संजात, ६०

संघानुस्मृति, १३५

संन्यास, १३०

संन्यासमार्गी, २५६

संभव, ५६, ५८

संयम, ५८

संयुत्तनिकाय, १०६, १२०, १२१,

१४७, २६६, २६८

संयुत्तनिकाय अट्ठकथा, १३३

संवत्सर, २१४

संवर, ५९

संवेग, २३३

संहर्ता, १८८

सकृदागामी भूमि, १३४, १३५

सक्क, ९४

सगर-पुत्र, २१९

सगुण, २४२

सगुणपहसे, १७६

सग्ग, १६५

सचेलक घमं, ८५

सतयुग, २११

सत्य, २७

सत्कायदृष्टि, १३५, १३६

सत्यभामा, २७५

सत्यव्रतमनु, १९३

सत्ययुग, २२७

सत्वशुद्धि, १६८, १६९

सत्यसेन अर्हन्, ५९

सदाशिव, १८३

सद्धर्मपुण्डरीक, १०७, ११८, १४५,  
१७०, १७६, २७९

सद्धा, १६४, २८७

सन्, २१४, २१५

सनक, २१४, २१५

सनकादि, २०९

सनत्कुमार, २१४, २१५, २२०, २५८

सनत्सुजात, २१५

सनग्, २१४

सनन्द, २१५

सनन्दन, २१४, २१५

सनातन, २१४, २१५

सन्त, २४६

सन्त अवतार, २११

समवसरण, ३६, ३८, ५२, ५३, ९२,  
२५९

समवायांग, १२, २७, २८, २९, ३०,  
३३, ३५, ४०, ४८, ४९, ५०,  
५१, ५४, ५७, २५६, २६६,  
२८५

समागत, १७६

समाज-चेतना, २३६

समाधि, ५, १२६, १३१

समाधिगुप्त, ५९

समापत्ति, १३०, १३१

समुद्र-मन्थन, १९४, १९५, २२४

समुद्र विजय, ८२

सम्प्रतिजिन, ५७

सम्बुद्ध, ३५

सम्बोधि, १२६

सम्भोगकाय, ११५, ११७, ११८,  
१२४, १२७, १४५, १६५,  
१७३, २०६, २५९, २८७

सम्भल, २०८

सम्मेतशिखर, ६८, ७०, ७२, ७४,  
७५, ७७, ७८, ८०, ८६

सम्यक्त्व, २५८

सम्यक्-ज्ञान, ५, २८६

सम्यक्-चारित्र्य, ५

सम्यक्-दर्शन, ५

सम्यक्-दृष्टि, १३४, १४२

सम्यक्-सम्बुद्ध, १०४, १११, १४१,  
२८६

सम्यक्-सम्बोधि, २६१

सम्भवामि युगे युगे, २८०

सरक्ख, ९४

सरणंकर, १४८

सरस्वती, २०६

सरीसृप, २४०, २४१

सर्वभाववित्, ५८

सर्वानन्द, ५९

सर्वानुभूति, ५८

सर्वास्तित्वाद, ११३, ११४

सर्वास्तित्वादी, ११५, ११७, १६४

सविता, १८१

सहज अतिशय, ३९, ४०

सहस्रबाहु, २०६

सहस्राजुंन, २२०

सहस्रांशु, १८१

स्वायम्भुव मन्वन्तर, २२०

सांख्य, १९०, २१५

३५४ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

- सांख्य-वेत्ता, २१८  
 सांख्य वेत्ता कपिल, २१९  
 साइकॉलाजी एण्ड रिलीजन (युंग),  
 २३३, २३४  
 साकार, २४२  
 साकेत, ८०, ८६  
 सागर, ५८  
 सागरजिन, ५७  
 सागरमल जैन, २, ५५, ८४, ८६,  
 ८७, ८९, १००  
 सात्वततन्त्र, २१३, २१६  
 साधुमती, १३७, १३९  
 सामाजिक, २५८  
 सामन्तवाद, २४१  
 सामवेदीय परम्परा, २१५  
 सामाजिक उपादेयता, २४८  
 सामान्यकेवली, १०, ३२, ३३, ३५,  
 २८५  
 सामायिक चारित्र, ११  
 सामायिक सूत्र, २६७  
 साम्राज्यवाद, २४१  
 सामूहिक अवचेतन, २३६  
 सामूहिक चिन्तन, २३६  
 ( Collective Consciousness )  
 साम्भोगिककाय, ११९, १७०  
 सायण, ६२, १७४, १९९  
 सारथी, २६७  
 सारिपुत्र, १०५  
 सिक्रेट आफ अनहलक, २८२  
 सिग्निफिकेंस एण्ड इम्पोर्टेंस आफ  
 जातकाज, १६५  
 सिद्ध, २३९  
 सिद्धतथ, १५८  
 सिद्ध-सरहपाद, १७६  
 सिद्धाभदेव, ५८  
 सिद्धार्थ, १८, ५९, ८९, १०१, १४८  
 सिद्धार्थ गौतम, १४८  
 सिद्धावस्था, २७१  
 सिंह, २३७, २६१  
 सिंहपुर, ७२  
 सीमन्धर, ६०  
 सुकरात, ९२  
 सुकोमल-अर्हन्, ५९  
 सुखलालजी, ८६  
 सुखवतीव्यूह, ६०, २५८, २६४, २६५  
 सुचन्द्र, ५७  
 सुजात, १४८, १५६  
 सुतसागर अर्हन्, ५९  
 सुतिवादी, ९४  
 सुतेज, ५७  
 सुत्तनिपात, ९२, २६३  
 सूत्रकृतांग, ११, २९, ३६, ५५, ८१,  
 ८५, ८६, ९१, ९२, ९३, ९५,  
 ९७  
 सुदर्शन, १८२  
 सुदुर्जया, १३७, १३८  
 सुनन्दा, ६०  
 सुन्दरी, ६०, ६१  
 सुपर्ण, १७९, १८१, २२७  
 सुपावर्ण, ५६, ५७, ५८, ५९, ७०  
 सूफीमत साधना और साहित्य, २८३  
 सुबाहु, ६०  
 सुभ ( शुभ ), १४४  
 सुमंगल, ५९

सुमंगला, ६०  
सुमंगलविलासिनी, १०७  
सुमति, ५२, ५६, ५७, ६९  
सुमेध, १४८, १५५  
सुमेध तपस्वी, १३३  
सुर, २४५, २४६  
सुरभि ( गाय ), २४५  
सुविधि, ७२  
सुविधि-पुष्पदन्त, ५६  
सुव्रत अर्हन्, ५९  
सुरदास, २५३  
सूरदेव, ५८  
सूरसेन अर्हन्, ५९  
सूरिप्रभ, ६०  
सूर्य, ७८, १७८, १७९, १८०, १८१,  
१८२, १८९, २१४, २१८,  
२२७, २४०  
सूर्य-चन्द्र, २०५  
सूर्यवंश, २३०  
सृजन, १७५  
सृष्टि, १७५  
सेकोद्देशटीका, २०७  
सेयभिक्षू, ९४  
सेयवड़, ९४  
सोम, १८६, २३७  
सोमचन्द्र, ५७  
सोरियायण, ३४  
सौगतमार्ग, १२३  
स्कन्धपुराण, ६२, ६५, १९३  
स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टीमिज्म,  
२८१, २८२  
स्यन्दन, ५७  
'स्यन्दन्तां कुल्याः विषिताः पुरस्तात्',  
१७८

स्थविरवादी, १२४  
स्थानांग, १२, २७, २८, २९, ३५,  
५०, ५१, ९२  
स्वभावकाय, १६४, २५९  
स्वाभाविकाय, ११९, १२१, १७०  
स्वर्ण, १६५  
स्वर्णप्रभाससूत्र, ११८  
स्वयंप्रभ, ५८, ६०  
स्वयंभू, १०७  
स्वर्य-सम्बुद्ध, १४३, २८५  
स्वयम्भूस्तोत्र, २६९  
'स्वान्तः सुखाय', २८३  
स्वामिजिन, ५७  
स्वायम्भुव, २३०  
स्वाहित, १२५, २८५  
स्थितप्रज्ञ, ६  
स्पितमा, १७  
स्रष्टा, १८८  
स्रोतापन्नभूमि, १३४  
ह  
हंस, १९२, २०९, २१५, २२०,  
२२६, २२८, २८८  
हंस-अवतार, २२६, २२७  
हजरत मुहम्मद साहब, २२, २३, २४  
हदीस, २४  
हदुसरख, ९४  
हयग्रीव-अवतार, २२८, २२९  
हयग्रीव, २१२, २२९, २८०  
हयग्रीव-वध, १९३  
हयमुख, २२८, २३९  
हयशिर, २२८  
हयसेन, ८४  
हरि, २३०, २३१



३५६ : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार : एक अध्ययन

हरिणी, २३१

हरि-पद्मा, १९१

हरिवंश, १९१, २८८

हरिवंश-पुराण, ६३, ८३, १७७, २५६,  
२७८

हर्यश्च, ८४

हर्यश्च, २२८

हर्या, २३१

हर्ष-तत्व, २३७

हस्तिनापुर, ७५, ७७, ८०, ८६

हिजरत, २४

हिजरीसन्, २४

हिब्रूजाति, १९

हिरण्यकश्यप, १९७, १९८

हिरण्यगर्भ, २१८, २३७, २३८

हिरण्यमय, २३८

हिरण्याक्ष, १९६, १९७

हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट-  
रेचर, २०१

हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसाफी, २२५

हीनयान, १०८, ११३, ११४, ११६,  
१२२, १२३, १२४

हीरालाल जैन, ८४

हुलूल, २८१

हैतु, १२९

हेमचन्द्र, ५३

ह्वेनसांग, २०७

हैहयराज, २००

हैहयवंशी, २००

ह्यमनोआयड, २३९

Evolution Theory, 209

Hellusination, 234

Introduction to Zoology, 239

Teleological Creation, 243

The ego and the id, 234

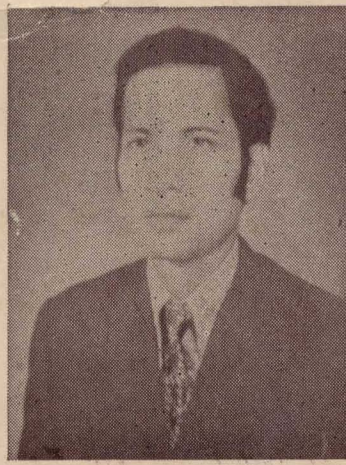


## अशुद्धि-प्रपत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
९४	१२	इनकी	इनमें
१०४	१६	प्राणा	प्राणी
१०५	७	हाता	होता
१२५	८	चार वैशार	चार वैशारद
१३६	१५	सत्कयदृष्टि	सत्कायदृष्टि
१४५	१०	त्रिशुद्धों	त्रिबुद्धों
१४५	१४	कार्यों	कार्यों
१४६	५	गृहसमाज	गृहसमाज
१४६	१२	बुद्धों	बुद्धों
१४६	२०	विपश्ची	विपश्यी
१६७	१४	सकती	सकता
१७४	२०	अवत्त	अवत्तर
१९४	२१	कर्मरूप	कूर्मरूप
२१०	४	स्वर्य	स्वर्यं
२११	१३	पशुपत	पशुरूप
२१९	२०	दत्तात्रेय	दत्तात्रेय
२२०	१८	आकृति	आकृति
२२१	२१	ने	में
२३२	१९	को	की
२३२	२९	कि	और
२३९	२८	पश-मानव	पशु-मानव
२४०	३	सम्य	साम्य
२४८	११	दा	दो
२५९	२८	विरते	खिरते
२७७	१७	अपनी	अपने







डॉ० रमेशचन्द्र गुप्त का जन्म १३ जनवरी, १९४१ को आँवला, जि० बरेली (उ० प्र०) में हुआ। २१ वर्ष की अवस्था में ही आप वाराणसी स्थित भारतीय रेलवे के डीजल रेल कारखाना में विद्युत पर्यवेक्षक के पद पर कार्य में संलग्न हो गए। नौकरी के साथ-साथ आपका अध्ययन भी कुछ व्यवधानों के साथ चलता रहा। आपने इण्टर-मीडिएट, बी० ए०, एल - एल० बी, एम० ए०, डिप्लोमा (योग) की उपाधियाँ प्राप्त कीं। आपने 'तीर्थङ्कर, बुद्ध और अवतार की अवधारणा : एक तुलनात्मक अध्ययन' नामक विषय पर शोध निबन्ध लिखकर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है। वर्तमान में आप डीजल रेल इंजन कारखाना वाराणसी, में सहायक कर्मशाला अधीक्षक पद पर कार्यरत हैं। आप अ० भा० दर्शन परिषद् आदि अनेक संस्थाओं के सदस्य हैं। आप के शोध निबन्ध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। आप अपने विनम्र व्यवहार एवं विद्या-प्रेम के कारण सदैव ही स्नेह और सम्मान के भाजन रहे हैं।

आपकी यह कृति निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है।